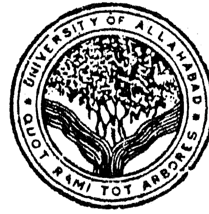
अष्टाध्यायी के आदेश-सूत्र—एक समीक्षात्मक अध्ययन



इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

फरबरी १९९४

शोध निर्देशक

डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र

पूर्व कुलपति

इलाहाबाद वि० वि०, इलाहाबाद

शोधकर्त्री

श्याम लता पाण्डेय

(एम० ए०)

पुरोवाक्

'शब्दार्थसंबन्धनिमित्ततत्त्वं वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून् ।
साधुप्रयोगानुमितांश्च शिष्टान्न वेद यो व्याकरणं न वेद ।।'

शब्दों के साधुत्व का ज्ञान व्याकरण से ही होता है। इससे ऐहलौकिक ही नहीं अपितु पारलौकिक उत्कर्ष की सिद्धि भी होती है। यह सभी विद्याओं में पवित्र एवं श्रेष्ठ है-

'तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्-मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ।।'

इसी विशिष्टता के कारण व्याकरण अपना प्रिय विषय रहा है। यद्यपि गृहस्थ जीवन से संबंधित विभिन्न पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए व्याकरण जैसे दुरूह विषय पर कार्य करने की अभिलाषा करना ही एक दुराग्रह है, तथापि व्याकरण विषयक अभिरुचि ने ऐसा साहस करने को प्रेरित किया। भगवत्कृपा से अभिलाषा पूर्ण हुई और परमादरणीय गुरुदेव के निर्देशन में अष्टाध्यायी के आदेश सूत्रों पर कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में जो कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं आदरणीय गुरुवर्य के कुशल मार्गदर्शन में वे सरलता से दूर हो गईं। उनके कुशल निर्देशन एवं परिवारजनों के अपूर्व सहयोग तथा असीम स्नेह से ही यह कार्य संपन्न हो सका। इन सबका यह स्नेह और सहयोग अमूल्य है जिसके लिए कुछ भी कहना उसका अवमूल्यन करना होगा अतः आजीवन अधमर्ण रहकर इस स्नेह का निरन्तर अनुभव करते रहना ही सुखकर प्रतीत हो रहा है।

इस शोध-प्रबन्ध के विषय में जिनसे भी मुझे परामर्श एवं सुझाव तथा अन्य किसी भी प्रकार का सहयोग प्राप्त हुआ है उनके प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ।

जिन लेखकों की कृतियों, शोधग्रन्थों से आवश्यकतानुसार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहायता ली गई है उन सबके प्रति मैं सधन्यवाद कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ।

प्रबन्ध के साफ एवं सुन्दर टंकण के लिए 'राका प्रकाशन' के श्रीयुत् राकेश तिवारी एवं उनके सहयोगियों ने जो विशेष परिश्रम किया उसके लिए मैं उनका आभार व्यक्त करती हूँ।

इस अनुसन्धान कार्य में जिन पुस्तकों की आवश्यकता हुई उनको समय पर उपलब्ध कराने के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष महोदय के प्रति

मैं विशेष कृतज्ञ हूँ।

अन्ततः शोधप्रबन्ध को विद्वान परीक्षकों के सम्मुख रखते हुए नेत्रदोषजन्य अथवा बुद्धिदोषजनित त्रुटियों के लिए क्षमा की याचना करती हूँ।

स्थान: इलाहाबाद
दि० - १९९४

श्याम लता
श्याम लता पाण्डेय

विषयानुक्रमणिका



भूमिका

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ।[1]

भाषा ही वह सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य अपने भावों एवं विचारों को सर्वाधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर सकता है। संकेतादि के द्वारा भी थोड़ी बहुत भावाभिव्यक्ति संभव है पर सूक्ष्म एवं स्पष्ट भावाभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही संभव है। चिन्तन मनन एवं विचार विमर्श का साधन भी भाषा ही है। सम्पूर्ण ज्ञान ही शब्द के साथ अनुविद्ध है[2] तथा समस्त अवबोधों की प्रकाशिका वाक् ही है।[3]

विश्व की प्राचीन एवं सुविकसित भाषाओं में संस्कृत का स्थान अन्यतम है। प्रकृति प्रत्यय के संस्कारों से युक्त तथा दिव्यगुणसमन्वित होने से ही आचार्य दण्डी ने इसे दैवीवाक् (देवभाषा) के अभिधान से विभूषित किया है।[4] इस भाषा के माध्यम से भारत का प्राचीनतम इतिहास रचा गया। दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, नाट्य-शास्त्र, काव्य साहित्य आदि विषयों के श्रेष्ठ ग्रन्थों से इस भाषा का भण्डार सुसमृद्ध है। आचार्य पाणिनिकृत अष्टाध्यायी इसी आदर्श देवभाषा के शब्द-साधुत्व का प्रतिपादक ग्रन्थरत्न है।

भाषा सतत प्रवाहमयी सरिता के समान है । नये-नये शब्द बनते एवं प्रचलित होते रहते हैं तो कुछ पुराने शब्द प्रयुक्त न होने से अप्रचलित हो जाते हैं। विभिन्न भाषाओं के उद्भव एवं विकास का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि कुछ वर्षों के पश्चात् ही भाषाविशेष में प्रयुक्त कतिपय शब्दों के स्वरूप अथवा अर्थ अथवा दोनों में परिवर्तन हो जाता है तथा लम्बी समयावधि के पश्चात् भाषा के स्वरूप में ही परिवर्तन हो जाता है तथापि व्याकरण ग्रन्थों की उपयोगिता कम नहीं होती। व्याकरण भाषा में होने वाले परिवर्तनों को संयत रखता है तथा भाषा सरिता की उच्छृंखल गति को नियंत्रित करता है।यदि व्याकरण न होते तो विश्व की कई प्राचीन भाषाएँ अद्यावधि बोधगम्य न होतीं। भाषा के यथार्थ ज्ञान हेतु व्याकरण परमावश्यक है। षड्वेदाङ्गों में व्याकरण की प्रधानता है। व्याकरण को वेदपुरुष का मुख कहा गया है---'मुखं व्याकरणं स्मृतम्।[5] वेदों में व्याकरण की प्रशस्तिपरक कई मन्त्र उपलब्ध होते हैं।[6] 'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्[7]' इत्यादि वचनों द्वारा भाष्यकार पतञ्जलि ने भी व्याकरण की उपयोगिता एवं महत्ता को स्पष्टतः उद्घोषित किया है। स्वल्प प्रयास द्वारा भाषा में प्रयुक्त अनन्त शब्दों के यथार्थ स्वरूप एवं अर्थ का ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही संभव है।

भारतवर्ष में अतिप्राचीन काल में ही व्याकरण शास्त्र का विकास हो चुका है।'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि;-ऋग्वेद 1.164.45 इत्यादि ऋचाएँ इस विषय में प्रमाण हैं। ब्राह्मणकाल तक व्याकरण की रूपरेखा तैयार हो चुकी थी। इसमें गोपथ ब्राह्मण इत्यादि के एतद्विषयक अपेक्षाकृत लम्बे संदर्भ सुस्पष्ट प्रमाण हैं।[8] ब्राह्मणकाल से आगे चलकर वैदिक शब्दों के निर्वचन एवं विवेचन के लिए अनेक शिक्षा ग्रन्थ, प्रातिशाख्य, तन्त्र, निरुक्त एवं व्याकरण लिखे गए जिनमें वैदिक पदों

के स्वर, उच्चारण, समास, सन्धि, वृत्त एवं व्युत्पत्ति पर विचार किया गया। पाणिनी के पूर्ववर्ती वैयाकरणों में इन्द्र, वायु, भारद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काश–कृत्स्न, वैयाघपद, माध्यन्दिनी, रौढ़ि, शौनक, गौतम, व्याडि इत्यादि तेरह प्राचीनतम आचार्य आते हैं।[9] इनके अतिरिक्त दस ऐसे वैयाकरण हैं जिनका अष्टाध्यायी में उल्लेख मिलता है।[10] ये हैं– आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, शाकल्य, शाकटायन, सेनक, स्फोटायन तथा भारद्वाज। इन आचार्यों ने विभिन्न सम्प्रदायों की स्थापना की थी किन्तु इनके ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं और अब ये आचार्य रचयिता की अपेक्षा वक्ता या प्रवक्ता रूप में जाने जाते हैं।

संस्कृत भाषा के व्याकरण ग्रन्थों में 'अष्टाध्यायी' सर्वश्रेष्ठ व्याकरण ग्रन्थ है। यह एक अद्भुत कृति है। विश्व की अन्य किसी भी भाषा का ऐसा वैज्ञानिक एवं संक्षिप्त व्याकरण नहीं प्राप्त होता। इसकी पद्धति पूर्णतः वैज्ञानिक है। इस ग्रन्थरत्न में विराट कल्पना ने अपरिमित सामग्री को सुनियोजित ढंग से छोटे से ग्रन्थ में बाँध दिया है। इसमें कुल आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं। इस ग्रन्थ की रचना सूत्रशैली में हुई है। सूत्र का लक्षण एक कारिका में निम्न प्रकार से बताया गया है–

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।[11]

सूत्र का उपर्युक्त लक्षण अष्टाध्यायी के सूत्रों पर पूर्णतः घटित होता है। अष्टाध्यायी के कुल सूत्रों की संख्या 3995 या 3996 है। स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका के अनुसार –

'चतुः सहस्त्री सूत्राणां पन्चसूत्री विवर्जिता ।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह ।।'[12]

श्रीशचन्द्र सरस्वती सम्पादित न्यास भाग–1 की प्रस्तावना में एक श्लोक उद्धृत है जिसके अनुसार माहेश्वर सूत्रों सहित अष्टाध्यायी की कुल सूत्रसंख्या 3996 है। श्लोक इस प्रकार है –

त्रीणिसूत्र सहस्त्राणि तथा नवशतानि च ।
षण्णवतिं च सूत्राणां पाणिनिः कृतवान् स्वयं ।[13]

अष्टाध्यायी पर उपलब्ध प्रथम समालोचनात्मक कार्य आचार्य कात्यायन या वररूचि का वार्तिकपाठ है। इन वार्तिकों की रचना पाणिनीय सूत्रों की न्यूनतापूर्ति के लिए हुई है।[14] आचार्य पतन्जलि प्रायः वार्तिकों को लेकर ही विचार प्रारंभ करते हैं। वार्तिकों में अष्टाध्यायी के समान ही प्रौढ़ता एवं मौलिकता के दर्शन होते हैं फिर भी वार्तिक सहित अष्टाध्यायी को सर्वाङ्गपूर्ण न पाकर भगवान पतंजलि ने 'महाभाष्य' लिखकर अष्टाध्यायी को अद्वितीय व्याकरण ग्रन्थ बना दिया। भाष्य में

सूत्र के प्रत्येक शब्द, शब्दगत वर्ण, सूत्रोपात्त विषय, तथा स्वमत (स्वयं के द्वारा स्थापित मत) का भी सुविस्तृत एवं वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।[15] वस्तुतः सूत्रकार द्वारा विस्मृत या अदृष्ट विषय को वाक्यकार (वार्तिककार) तथा वार्तिककार से छूटे हुए विषय को भाष्यकार ने विवेचित किया है।[16] आचार्य पाणिनि कृत अष्टाध्यायी वार्तिक एवं महाभाष्य सहित पूर्णता को प्राप्त हुई ।भाष्य वार्तिकयुक्त अष्टाध्यायी त्रिमुनि व्याकरण नाम से जानी जाती है तथा आचार्य पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि व्याकरण जगत में व्याकरण के मुनित्रय माने जाते हैं। त्रिमुनि व्याकरण इतना संक्षिप्त, वैज्ञानिक, सम्पूर्ण एवं उपादेय है कि पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी व्याकरण ग्रन्थ एवं व्याकरण सम्प्रदाय सम्प्रति लुप्तप्राय हैं।

अष्टाध्यायी में संज्ञापदों, धातुसिद्ध क्रियापदों, समास, सन्धि, एकशेष, आत्मनेपद, परस्मैपद, स्वर इत्यादि विविध प्रकार के शब्दों एवं विषयों का विवेचन हुआ है। अष्टाध्यायी के सूत्रों को छः भागों में बाँटा जाता है – संज्ञासूत्र, परिभाषासूत्र, विधिसूत्र, नियमसूत्र, अतिदेशसूत्र, तथा अधिकारसूत्र ।[17] संज्ञासूत्र –संज्ञासूत्र पाणिनीय शास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का परिचय कराता है। 'संज्ञासंज्ञिप्रत्यायकं सूत्रं संज्ञासूत्रम्।' लोक में किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त अथवा निरर्थक माने गए शब्द का इस शास्त्र में जो विशेष अर्थ लिया जाता है उसका ज्ञान संज्ञासूत्र ही कराता है। इसलिए संज्ञासूत्र का लक्षण –

'शक्तिग्राहक सूत्रत्वं संज्ञा सूत्रत्वं'[18] किया गया है। संज्ञा दो प्रकार की होती है–(1) शब्द संज्ञा (2) अर्थ संज्ञा।[18] वृद्धि, गुण आदि शब्द संज्ञाएँ हैं क्योंकि आ, ऐ, औ तथा अ, ए, ओ क्रमशः इनके संज्ञी हैं तथा विभाषा एवं लोप अर्थ संज्ञाएँ हैं क्योंकि ये निषेध–विकल्प तथा अदर्शन अर्थ की बोधक हैं। कुछ संज्ञा अन्वर्थ होती है तो कुछ अनन्वर्थ। सर्वनाम एवं अव्यय अन्वर्थ संज्ञा है क्योंकि प्रधान प्रसिद्ध स्वीय सर्वार्थवाचक सर्व, विश्व आदि की सर्वनाम संज्ञा होती है लेकिन व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त 'सर्व' की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। फलतः सर्वनामसंज्ञक सर्व का चतुर्थ्यन्त रूप 'सर्वस्मै' और व्यक्तिवाचक सर्व का चतुर्थ्यन्त रूप 'सर्वाय' ही बनता है। प्रातिपदिक एवं सर्वनामस्थान संज्ञाएँ अनन्वर्थ संज्ञाएँ हैं। क्योंकि इस महासंज्ञा से किसी विशेष अर्थ का बोध नहीं होता है। संज्ञासूत्र विधिसूत्रों के उपकारक हैं। ये स्वयं किसी शब्द की सिद्धि नहीं करते हैं परन्तु विधिसूत्रों के अर्थबोध में सहायक होते हैं।

परिभाषासूत्रः–

परिभाषा 'अनियमेनियमकारिणी' कही जाती है। यथा – 'ससजुषो रुः' यह विधि सूत्र 'स' एवं 'सजुष्' को 'रु' आदेश विधान करता है तब यह सन्देह उठता है कि यह रु सम्पूर्ण 'सजुष्' को ही अथवा उसके किसी अवयव विशेष को।इस स्थान पर परिभाषा सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' 'अन्त्य वर्ण को आदेश हो' यह निर्णय देकर अनियम को दूर करता है। इसी प्रकार सुधी+उपास्यः यहाँ 'इकोयणचि' से प्राप्त यण् किस इक् को हो –सु के उकार को ,धी के ईकार को अथवा उपास्यः के उकार को; ऐसा सन्देह उठने पर सूत्र 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ' यह नियम करता है कि अच् से अव्यवहित पूर्व जो इक् हो उसे ही यण् हो। परिभाषासूत्र विधि

की उद्दाम प्रवृत्ति पर अंकुश लगाता है।यह विधि को इष्टसाधन की ओर प्रवृत्त करता है और अनिष्ट प्रयोग सिद्ध होने से रोकता है।

परिभाषाएँ दो प्रकार की हैं साक्षात् कथित एवं अनुमित। साक्षात् कथित अष्टाध्यायी में कथित हैं। जो परिभाषाएँ पाणिनीय सूत्रों से ज्ञापित हैं वे अनुमित या ज्ञापित परिभाषाएँ हैं। जैसे – 'भाव्यमानोऽपि उकारः सवर्णान् गृह्णाति।'

विधिसूत्रः –

विधिसूत्र किसी अपूर्व का विधायक होता है। शब्दसिद्धि में मुख्य कार्य इनके द्वारा ही सम्पन्न होता है।विधिसूत्र दो प्रकार के होते हैं– (1) उत्सर्ग एवं (2) अपवाद। सामान्यरूप से कार्य के विधायक उत्सर्ग सूत्र हैं। उदाहरणार्थ – 'कर्मण्यण्' उत्सर्ग है और 'आतोऽनुपसर्गे कः' अपवाद है। उत्सर्ग को बाधकर अपवाद प्रवृत्त होता है। अष्टाध्यायी में सर्वाधिक संख्या विधिसूत्रों की ही है। प्रत्यय, लोप, आगम, आदेश इत्यादि का विधान इन्हीं विधिसूत्रों का ही विषय है।

नियमः –

नियमसूत्र विधि की प्रवृत्ति को नियंत्रित करता है। जैसे 'चतुर्षु' इस प्रयोग में चतुर् सुप् इस दशा में सू. 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से खर् सुप् परे रहते चतुर् प्रातिपदिक के रेफ को विसर्ग प्राप्त है तब सूत्र 'रोः सुपि' से नियम किया गया कि रु के रेफ को ही विसर्ग होगा अन्य को नहीं। चतुर् का रेफ रु सम्बंधी रेफ नहीं है अतः इसे विसर्ग नहीं होगा और 'चतुःषु' ऐसा अनिष्ट प्रयोग सिद्ध नहीं होगा।

अतिदेशसूत्रः –

'अन्यतुल्यत्वविधानम् अतिदेशः।' अतिदेश सूत्र 'वत्' घटित अथवा इसके अर्थ से घटित होता है। यह जो नहीं है उसे मानकर कार्य करने की आज्ञा देता है। जैसे – 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' सूत्र यह आज्ञा देता है कि स्थानी को आदेश के समान मानो किन्तु अल्विधि में नहीं। इससे अस् के स्थान में भू आदेश होने पर भू को स्थानी के समान धातु मानकर धातुप्रयुक्त लङ् लकार, च्लि विकरण इत्यादि हो सके तथा अभूत् शब्द सिद्ध हो सका।

अधिकार सूत्रः –

अधिकार सूत्र वे हैं जिनका अन्वय एक सीमा तक उत्तरोत्तर सूत्रों में होता है। 'एकत्र उपात्तस्य अन्यत्र व्यापारः अधिकारः।' अधिकार सूत्र का उदाहरण है – 'अङ्गस्य' सूत्र। यह सूत्र उत्तरवर्ती सूत्रों – 'अतोदीर्घो यञि', 'सुपि च', 'अतो भिस् ऐस्' आदि सूत्रों में अन्वित होता है जिससे इनसे विहित कार्य अंग को प्राप्त होते हैं। अधिकारसूत्रों के परवर्ती सूत्रों में अनुवृत्त होने से बार बार उस शब्द को कहने के परिश्रम से बचा जाता है और सूत्रों को लघुकाय बनाया जा सका है।

विधिसूत्रों का ही एक रूप निषेध सूत्र भी है।[19] इनका विषय है अनपेक्षित विषय में प्राप्त विधि का निषेध करना ।जैसे– 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र द्वारा सम्प्रसारण का निषेध होना। यूनः '– इस प्रयोग में वकार का सम्प्रसारण होकर

युवन् जस् > य् उ अन् अस् = य् उन् अस् ऐसी स्थिति हुई। अब 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सू. से यकार को सम्प्रसारण प्राप्त हुआ जिसका 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र से निषेध हो गया।

अष्टाध्यायी में अत्यंत सूक्ष्मता से शब्दों का विवेचन विश्लेषण किया गया है। इसकी विशेषता है धातुओं से शब्दों का निर्वचन अष्टाध्यायी का अनुशीलन करने पर पाणिनी की अन्वाख्यान पद्धति कुछ इस प्रकार स्पष्ट होती है –

(1) लोक – व्यवहृत शब्दों का संकलन ।

(2) शब्दों मे एक मूल प्रकृति एवं प्रत्यय की परिकल्पना

(3) शब्दों के अभीष्ट स्वरूप के सिद्ध्यर्थ प्रकृति – प्रत्ययाश्रित विशिष्ट प्रकार की कार्ययोजना।

पाणिनीय सम्प्रदाय के अनुसार एक अखण्ड वाक्यस्फोट ही सत्य है[26] क्योंकि लोक में उसी से अर्थावबोध होता है फिर भी व्याकरणशास्त्र में लोकव्यवहृत वाक्य द्वारा पदों को संकलित कर उनका प्रकृतिप्रत्ययात्मक विश्लेषण किया जाता है जिससे उनके यथार्थ स्वरुप की रक्षा हो सके। इस क्रम में पाणिनी ने विभिन्न संज्ञा-पदों, सर्वनाम पदों, क्रियापदों, अव्ययों, समासयुक्त पदों का संकलन किया और उनमें एक मूल प्रकृति एवं प्रत्यय की परिकल्पना की। प्रकृति के रुप में धातुओं, प्रातिपादकों की व्यवस्था की तथा इनसे सुप्, तिङ्. , कृत् , तद्धित, समासान्त, स्त्री प्रत्यय आदि प्रत्ययों का विधान किया। प्रकृति एवं प्रत्यय का निरुपण कर देने से ही शब्दसिद्धि की प्रक्रिया पूरी नहीं हो जाती अतः प्रकृति एवं प्रत्यय से संबंधित विभिन्न कार्यों की योजना की गई।ये प्रकृतिप्रत्ययाश्रित विशेष प्रकार के कार्य हैं – लोप, आगम, आदेश आदि। शब्द की सिद्धि के क्रम में शब्द के जितने अंश का श्रवण अपेक्षित नहीं होता उतने अंश का लोप विहित किया गया। पाणिनीय शास्त्र में तीन प्रकार से लोप विहित किए गए हैं – लुक्, श्लु, लुप्। इनके विशिष्ट प्रयोजन हैं। शब्द सिद्धि की प्रक्रिया में जब किसी अतिरिक्त वर्ण का श्रवण कराना अपेक्षित होता है तो आगम विधि द्वारा उसका आगम कर लिया जाता है आगम विधान भी तीन प्रकार से किए गए हैं – टित्, कित्, एवं मित्। इनमें जुड़े अनुबंधों का विशेष प्रयोजन है। शब्दों की सिद्धि प्रदर्शित करते हुए कभी-कभी ऐसी स्थिति होती है कि किसी वर्ण या वर्ण समुदाय के बदले भिन्न वर्ण या वर्ण समुदाय श्रूयमाण होता है ऐसी दशा में आदेश की व्यवस्था कर अनपेक्षित अंश का अश्रवण तथा उसके स्थान पर अपेक्षित अंश की उपस्थिति कराई गई। जैसे – गम् शप् तिप् > गम् अति – यहाँ म् को च्छ आदेश विहित किया गया जिससे गच्छति शब्द बन सके, राम टा – यहाँ 'टा' को इन आदेश विहित किया गया तभी रामेण शब्द बन सका।

संस्कृत भाषा के शब्दों में उन शब्दों की अपेक्षा जिनमें प्रकृति के साथ प्रत्यय का योग होकर रूप सिद्ध हो जाय, ऐसे शब्दों का बाहुल्य है, जिनमें कुछ न कुछ विकार या आदेश हुआ हो पहले कहा जा चुका है कि संज्ञा, परिभाषा, नियम अतिदेश ,अधिकार सूत्रों की अपेक्षा विधिसूत्रों की संख्या बहुत अधिक है।विधि सूत्रों द्वारा प्रत्यय, लोप, आगम, आदेश, स्वर आदि का विधान अथवा निषेध किया जाता है।

अष्टाध्यायी के विधि-सूत्रों में प्रत्यय; लोप; आगम; स्वरादि विधान की

अपेक्षा आदेश विधान सम्बन्धी सूत्र अधिक हैं। आदेश विधान संबंधी सूत्रों की कुल संख्या लगभग 825 है जो सम्पूर्ण अष्टाध्यायी की कुल सूत्र संख्या के पंचमांश से अधिक है। इससे सिद्ध होता है कि शब्दों की रूपसिद्धि प्रक्रिया में आदेशों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है।यद्यपि संज्ञा सूत्रों परिभाषा सूत्रों इत्यादि के समान आदेशविधि – संबंधी सूत्रों में गम्भीर चिन्तनयोग्य गूढ़ स्थल अपेक्षाकृत कम ही हैं फिर भी शब्द प्रयोगों की रूपसिद्धि में इनकी अनिवार्य उपयोगिता को कथमपि अनदेखा नहीं किया जा सकता। दृश् धातु से तिप् प्रत्यय लाकर अभीष्ट प्रयोग – पश्यति, तब तक नहीं सिद्ध हो सकता जब तक दृश् को पश्य आदेश न कर दिया जाय। भूशप् तिप् <लट् > तिप्>से 'भवति ' प्रयोग तब तक निष्पन्न नहीं होगा जब तक भू के ऊकार को गुण ओकारादेश, ओकार को अवादेश इत्यादि न हो जाय। आदेश का ज्ञान होने पर हम यह निर्णय करने में समर्थ होते हैं कि 'अगमत्' एवं 'अगच्छत्' दोनों एक ही धातु प्रकृति गम् से निष्पन्न हुए दो शब्द हैं इनमें प्रकृतिगत भेद नहीं अपितु लकारभेद है। मात्र इतना ही नहीं कालान्तर में व्याकरण परम्परा के वैयाकरणों ने व्याकरण को जब एक दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया और स्फोटात्मक शब्द को ब्रह्म माना तब शब्द नित्यता वादियों के अनादिनिधन, अक्षर शब्दब्रह्म में आदेशादि विकारों के कारण उठे अनित्यत्व दोष के निवारण हेतु एक अभिनव सिद्धान्त का आश्रयण करना पड़ा जो व्याकरण जगत में 'बुद्धिविपरिणामवाद' कहलाया। वस्तुतः व्याकरण शास्त्र में आदेशों की अपनी ही विशेषता है।

यहाँ आदेश के विषय में जितना कहा गया है वह इसके महत्त्व, इसकी विशिष्टता को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके लिए एक प्रबन्ध की आवश्यकता है जिसमें इसका पूर्ण विवेचन हो। एतदर्थ ही यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया है। इस प्रबन्ध का प्रथम अध्याय परिचयात्मक कोटि का है इसमें आदेश, आदेशसूत्र, आदेश एवं इसकी सजातीय विधि, आदेशविधि से संबंधित कुछ प्रमुख सूत्रों का विवेचन इत्यादि विषय समाविष्ट हुए हैं। इस अध्याय का उद्देश्य है आदेश को समग्र एवं समुचित रूप से स्पष्ट करना। द्वितीय अध्याय में अच्वर्णादेश एवं तृतीय अध्याय में हल्वर्णादेश विधायक सूत्रों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में प्रकृति के स्थान पर आने वाले आदेश तथा पंचम अध्याय में प्रत्यय के स्थान पर होने वाले आदेश से संबंधित सूत्र विवेचित हुए हैं। षष्ठ अध्याय में इनसे अवशिष्ट–ङित् आदेश विधान संबंधी सूत्र, टि के स्थान पर आदेश विधायक सूत्र इत्यादि का समावेश हुआ है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आदेशों से सम्बन्धित सूत्रों के एकत्र संकलन, इनके वर्गीकरण एवं संक्षिप्त विवेचन तथा समीक्षण को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस क्रम में सूत्रों के पदच्छेद, पदों के अर्थ एवं अनुवृत्ति प्रदर्शन इत्यादि पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है क्योंकि ये विषय विभिन्न व्याख्या एवं टीका ग्रन्थों में बड़े विस्तार से वर्णित हैं। शोध प्रबन्ध का उद्देश्य है शब्दों की रूपसिद्धि में आदेशों के महत्व को प्रदर्शित करना अतएव प्रकृति से प्रत्यय लाने के पश्चात् अभीष्ट स्वरूप की प्राप्ति हेतु जो आदेश आवश्यक हैं उनसे युक्त उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं तथा उदाहृत शब्दों का पदच्छेद करके उनमें आदेश होता हुआ दिखाया गया है।

आदेश कार्य को प्रदर्शित करते हुए ऐसा प्रयास किया गया है कि जितना कार्य आदेश करने से पहले प्राप्त हो रहा हो उसे भी दिखा दिया जाय। एवं कार्य की आनुपूर्वी बनी रहे फिर भी कहीं कहीं ऐसा नहीं किया गया है इसका कारण है संक्षिप्तता लाने का प्रयास। ऐसे कार्य यदि आदेश के लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं या पूर्ववर्ती उदाहरण में भी उसी प्रक्रिया द्वारा शब्द सिद्धि हो रही हो तो प्रबन्ध को लघुकाय रखने हेतु सीधे आदेश प्रक्रिया को ही उदाहरण में दिखाया गया है। इस स्थान पर यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि आदेश विधायक शास्त्र के समान ही आदेश का निषेध करने वाले शास्त्र भी बहुत महत्व रखते हैं क्योंकि बिना इनके आदेश विधायक सूत्रों का प्रवृत्ति - क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो जाता है तथा जहाँ इनकी प्राप्ति निषिद्ध है वहाँ भी होने लगती है जिससे अनिष्टापत्ति होती है किन्तु विस्तारभय से इस प्रबन्ध में इन सूत्रों का समावेश नहीं किया गया ।

आदेशों पर किया गया यह प्रारम्भिक कार्य है अतएव विषयसामग्री के लिए अधिकांशतः संस्कृत के मूल ग्रन्थों का ही आश्रयण करना पड़ा है। आशा है हमारे उदार परीक्षक मनीषी इसके गुणों को ही दृष्टि में रखते हुए 'गच्छतं स्खलनं क्वापि ' न्याय से प्रमादजनित यथाकथंचित आगत दोषों के प्रति सहिष्णुता व क्षमा का भाव रखेंगे।

सन्दर्भ-सूची

1. काव्यादर्श 1.4।
2. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते: ।
   अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।। वाक्यपदीयम्,
3. वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। ब्रह्मकाण्डम्, 123।
   न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।। वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम् 124।
4. संस्कृतं नाम दैवीवाक् अन्वाख्याता महर्षिभिः। – काव्यादर्श, 1.33।
5. द्र0 - पाणिनीय शिक्षा ।
6. जैसे – उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाच उतत्व श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम्।
7. महाभाष्य: पस्पशाह्निक । – ऋग्वेद, 10.71.4
8. अथ ओंकारं पृच्छामः – को धातुः, किं प्रातिपदिकम् , किं नामाख्यातं, किं लिङ्गं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः, किं वै व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कतिभागः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम्। –गोपथ ब्राह्मण पूर्व. 1.24।
9. द्र. – संस्कृत साहित्य कोश पृष्ठ 555
10. I सूत्र – 'वा सुप्यापिशलेः' 6.1.12
    II सूत्र – 'तृषि मृषि कृषेः काश्यपस्य' 1.2.25
    III सूत्र – 'ओतो गार्ग्यस्य' 8.3.20
    IV सूत्र – 'उदात्त स्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्' 8.2.4
    V सूत्र– 'ई चाक्रवर्मणस्य' 6.1.130
    VI सूत्र– 'ऋतो भारद्वाजस्य' 7.2.73

VII सूत्र– 'लङ: शाकटायनस्य' 3.4.111
VIII सूत्र– 'लोप: शाकल्यस्य' 8.3.19
IX सूत्र– 'गिरेश्च सेनकस्य' 5.4.112
X सूत्र– 'अवङ् स्फोटायनस्य' 6.1.123

11. द्र.–वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी (बालमनोरमासहित) भाग –1 पृष्ठ 457. संपादक श्री गोपालदत्त पाण्डेय।
12. द्र.– स्वर सिद्धान्त चन्द्रिका, श्लोक 15।
13. द्र.– शोध प्रबन्ध काशिकासिद्धान्त कौमुद्योः तुलनात्मकमध्ययनम् शोधकर्ता डा. महेशचन्द्र शर्मा, पृ. 4।
14. वार्तिक का लक्षण है – उक्तानुक्त दुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः। पराशर उपपुराण, अध्याय 7
15. भाष्य का लक्षण है – सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वर्णैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥
16. यद्विस्मृतं अदृष्टं वा सूत्रकारेण तत् स्फुटम् –। वाक्यकारो ब्रवीत्येवं तेनादृष्टं च भाष्यकृत॥ हरदत्त, पदमंजरी टीका।
17. संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥
– वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, बालमनोरमासहित भाग 1 पृष्ठ 457,
18. शोधप्रबन्ध – महाभाष्य में उपनिबद्ध व्याकरणेतर साहित्य – एक समीक्षात्मक अध्ययन शोधकर्ता रवीन्द्र कु० शर्मा 1988। प्रथम अध्याय।
19. निषेधसूत्राणाम् अभावरूपापूर्वबोधकत्वेन विधिसूत्रेषु अन्तर्भावो भवति। वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, बालमनोरमासहित, प्रथम भाग पृष्ठ 457। सं. गोपालदत्त पाण्डेय, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन।
20. 'पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च। वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ भर्तृहरि – वाक्यपदीयम् – ब्रह्मकाण्डम् 73

प्रथम-अध्याय
'आदेश' - एक परिचय

आङ्. उपसर्गपूर्वक दिश् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय होकर आदेश शब्द व्युत्पन्न हुआ है। पाणिनीय धातुपाठ में दिश् धातु तुदादिगण में पठित है जिसका अर्थ है अतिसर्जन या दान।[1] भाष्यकार दिश् धातु को उच्चारणक्रियार्थक मानते हैं।[2] उपसर्गों के योग में धातु का अर्थ बदल जाता है 'आदेश' शब्द में भी उपर्युक्त धात्वर्थ घटित नहीं होते।

आदेश शब्द का लोकप्रसिद्ध अर्थ है 'आज्ञा' या 'विधि'। इस अर्थ में इस शब्द को अंग्रेजी के **order** शब्द का तुल्यार्थक शब्द माना जा सकता है, किन्तु व्याकरणशास्त्र में यह शब्द उपर्युक्त अर्थ में नहीं प्रयुक्त होता। इस शास्त्र में यह एक कृत्रिम संज्ञा या **Technical term** है जैसे कि वृद्धि, गुण आदि शब्दसंज्ञाएँ तथा इस शास्त्र में इसके कृत्रिम या कल्पित अर्थ द्वारा ही कार्य सम्पन्न होता है। आचार्यों ने आदेश का लक्षण इस प्रकार किया है - "येन विधीयमानेन अन्यत् प्रसक्तं निवर्तते स आदेशः",[3] अर्थात् जिस विधीयमान शब्द द्वारा प्रसक्त- पूर्वतः विद्यमान (पहले से प्राप्त अर्थात् स्थानी) की निवृत्ति हो जाय वह विधीयमान शब्द आदेश है।आदेश के द्वारा निवर्तमान को स्थानी कहते हैं। आदेश कार्य में प्रकृति अथवा प्रत्यय अथवा इनके अवयववर्णों को हटाकर हटे हुए शब्द अथवा वर्ण के स्थान पर अन्य शब्द अथवा वर्ण स्थानापन्न हो जाता है। स्थानी को हटाकर उसका स्थान ग्रहण कर लेने से आदेश को शत्रुवत् कहा गया है -'शत्रुवदादेशाः'। इस प्रकार आदेश विधि को अंग्रेजी के **Replacement** तथा आदेश शब्द को **Substitute** का समानार्थक माना जा सकता है।

पाणिनीय शास्त्र में आदेश के इस कृत्रिम अर्थ को व्यक्त करने के लिए आचार्य द्वारा किसी सूत्र विशेष का उपस्थापन नहीं किया गया है जिसका कारण संभवतः यह हो कि आचार्य पाणिनि के लिए आदेश कोई अपूर्व विधि न रही हो तथा पाणिनि पूर्ववर्ती वैयाकरणों में सुप्रचलित होने से आदेश शब्द की पारिभाषिकता न रह गई हो अन्यथा जिस प्रकार आचार्य ने स्वरचित टि, घु, गुण, वृद्धि इत्यादि संज्ञाओं को सूत्रों द्वारा परिभाषित किया है इसी प्रकार आदेश शब्द को भी सूत्र के द्वारा अवश्यमेव परिभाषित करते। पाणिनीय सूत्रों में आदेश शब्द अनेकशः प्रयुक्त हुआ है यथा - 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ', 'एच इग्घ्रस्वादेशे', 'अस्मद्युष्मदोरनादेशे', 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यादि। इन सूत्रों में इस शब्द का बार बार प्रयोग किया जाना यह सूचित करता है कि आदेश विधि की व्यवस्था व्याकरण शास्त्र में पाणिनि के पूर्व से विद्यमान थी और आचार्य पाणिनि इस पारिभाषिक आदेश शब्द से सुपरिचित थे। इसके अतिरिक्त प्राक्-पाणिनि वैयाकरण 'आपिशल' के नाम से प्राप्त एक श्लोक में आदेश का लक्षण भी बताया गया है।[4] इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आदेश कोई अपूर्व विधि या पाणिनि की स्वरचित विधि नहीं थी और तत्कालीन वैयाकरणों में सुप्रचलित थी अतः आचार्य पाणिनि द्वारा आदेश शब्द की पारिभाषिकता प्रदर्शित करने का प्रयास न करना स्वाभाविक है।

पाणिनीय सूत्रों को छः भागों में बाँटा गया है। इन छः भागों में एक है

'विधिसूत्र'। इन विधिसूत्रों में जिन सूत्रों द्वारा आदेशों का विधान किया गया है उन्हीं को प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का विषय बनाया गया है। आदेश विधायक विधिसूत्रों को ही इस प्रबन्ध में आदेशसूत्र कहा गया है। आदेशस्य विधायकं आदेशविधायकम्। आदेशविधायकानि सूत्राणि इत्यादेशसूत्राणि। शाकप्रियः पार्थिवः, देवपूजकः ब्राह्मणः (शाक को पसन्द करने वाला राजा, देव को पूजनेवाला ब्राह्मण) आदि विग्रहवाक्यों में समास होने पर समास के पूर्वपद का जो उत्तरपद (प्रिय, पूजक आदि) है उसका 'शाकपार्थिवादि सिद्धयैउत्तरपदलोपो वाच्यः' वार्तिक से लोप होकर शाकपार्थिवः, देवपूजकः आदि शब्द बनते हैं इसी प्रकार आदेशविधायकानि सूत्राणि–इस अर्थ में पूर्वपद के उत्तरपद 'विधायक' का लोप हो आदेश सूत्र शब्द बना जिसका अर्थ है आदेश का विधान करने वाला विधिसूत्र। अतः यहाँ आदेशसूत्र नाम से किसी सातवें प्रकार के सूत्रविभाग की प्रकल्पना नहीं की गई है अपितु षड्विध विभाजन के अन्तर्गत आदेशरूप विशेष प्रकार की विधि से सम्बन्धित सूत्रों के अभिधानार्थ 'आदेशसूत्र' शब्द का व्यवहार हुआ है। विधि का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। आदेश के अतिरिक्त लोप, आगम, स्वर, प्रत्यय आदि के विधायक विधिसूत्र भी हैं इनसे आदेशविधि सम्बन्धी सूत्रों के पृथक्करण हेतु अपनी सुविधा के लिए आदेशविधानसंबंधी विधिसूत्रों को 'आदेशसूत्र' संज्ञा से अभिहित करना पड़ा क्योंकि इस शोध प्रबन्ध के विषय यही आदेशविधायक विधिसूत्र ही हैं। इसलिए आचार्यों द्वारा किए गए पाणिनीय सूत्रों के षड्विध विभाजन के अतिक्रमण का प्रश्न भी नहीं उठता।

पहले चर्चा की जा चुकी है कि व्याकरण में आदेशविधान की व्यवस्था पाणिनि के पूर्वकाल से ही चली आ रही थी। इस क्रम में यह भी ज्ञात होता है कि पाणिनि से पूर्व 'आदेश' का अर्थ अपेक्षाकृत संकुचित था। तब विभिन्न आदेशों को 'विकारविधि' एवं 'आदेशविधि' –इन दो भिन्न विधियों के अन्तर्गत विहित किया जाता था। इस विषय में पाणिनि से पूर्ववर्ती व्याकरणाचार्य आपिशलि का एक श्लोक प्राप्त होता है जो इस प्रकार है –

"आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्।
आदेशस्तु प्रसङ्गेन लोपः सर्वापकर्षणात्॥"

डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य के अनुसार यहाँ एकवर्णात्मक आदेश को 'विकार' एवं अनेकवर्णात्मक आदेश को 'आदेश' कहा गया है।[5] परवर्ती काल में इस प्रकार का भेद नहीं रहा और आदेश शब्द से सभी प्रकार के आदेश गृहीत होने लगे। आचार्य पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी में इस भेद को मानकर व्यवहार नहीं किया है। 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इस सूत्र में आचार्य पाणिनि ने एकाल् विकारों के लिए आदेश शब्द का प्रयोग किया है। पाणिनीय परंपरा के वैयाकरण भी आदेश एवं विकार जैसा भेद नहीं करते। 'अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेषु ऋकारग्रहणं' वार्तिक में वार्तिककार लत्वरूप एकवर्णात्मक आदेश को आदेश कहते हैं विकार नहीं। 'विकार आदेशः – घातयति घातकः। वर्णविकारो नार्थविकारः' – इस वाक्यांश में भाष्यकार विकार को स्पष्टतः आदेश कहते हैं। इसी प्रकार पाणिनीय परंपरा के अन्य

वृत्तिकार एवं टीकाकार भी आदेश एवं विकार जैसा भेद नहीं मानते और सभी आदेशों को चाहे वे एकाल्. हों या अनेकाल् आदेश ही कहते हैं।

पाणिनीय संप्रदाय के प्रक्रियानुसारी व्याकरण ग्रन्थ 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' की तत्वबोधिनी टीका के रचयिता आचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने आदेशों का द्विविध विभाजन किया है - प्रत्यक्ष तथा आनुमानिक। प्रत्यक्ष आदेश है 'अस्तेर्भूः' सूत्रविहित अस् स्थानी को होनेवाला भू आदेश एवं आनुमानिक आदेश है ति (तिप्) को होनेवाला तु आदेश। 'अस्तेर्भूः' में स्थानी एवं आदेश शब्दतः उपदिष्ट हुए हैं किन्तु 'एरुः' सूत्र में इ से इकारान्त स्थानी तथा उ से उकारान्त आदेश अनुमित हुए हैं।[6]

आदेशों के सम्बन्ध में विचार करते हुए कुछ अन्य विधियों की ओर ध्यान जाता है। आगम, लोप, निपातन, द्वित्व आदि के विषय में भी आदेश विधि के समान वर्ण अथवा वर्णसमुदाय का हटना और जुड़ना आदि देखा जाता है। भाष्यकार के 'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः'[7] तथा 'अनागमकानां सागमकाः आदेशाः'[8] इत्यादि वचनों द्वारा आगमों को आदेशरूप तथा 'सर्वादेशार्थं वा वचनप्रामाण्यात्'[9] वार्तिक तथा वार्तिक के विवेचन क्रम में - "लुक् श्लु लुपः सर्वादेशा यथा स्युः;"[10] 'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति लुक् श्लु लुपः सर्वादेश भवन्तीति"[11] इत्यादि भाष्यवचनों में (प्रत्यय के) लोप को आदेशरूप स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार द्वित्व के प्रसंग में भाष्यकार ने द्वित्व आदेश है अथवा द्विरूच्चारण (अथ यस्य द्विर्वचनमा-रभ्यते किं तस्य स्थाने भवति, आहोस्विद् द्विः प्रयोग इति[12] - महाभाष्य) आदि विषय पर विचार किया है। इतना ही नहीं आठवें अध्याय के शब्दद्वित्व को इन्होंने द्वित्वादेश स्वीकार किया है। इसी प्रकार शब्दों को निपातन द्वारा सिद्ध करने वाले सूत्रों में आदेश का निपातन होना भी देखा जाता है जैसे- 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' 'क्रय्यस्तदर्थे', 'भय्यप्रवय्ये च्छन्दसि' इत्यादिसूत्रों द्वारा अयादेश निपातित हुआ है। अस्तु आगे इन लोप, आगम, द्वित्व निपातन आदि विधियों तथा आदेशविधि से इनके साम्य वैषम्य का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

शब्दों की रूपसिद्धि के क्रम में जब प्रकृति या प्रत्यय के अवयव वर्णों के अतिरिक्त कोई अन्य वर्ण भी श्रूयमाण हो तो इनके साथ उस वर्ण का योग कर लिया जाता है। इस प्रकार का वर्णयोग-विधान आगमविधान कहा जाता है। तथा युक्त होने वाले वर्ण को आगम कहते हैं। जिसे आगम हो वह आगमी कहलाता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में आगम का स्वरूप निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है।

'अन्यत्र विद्यमानस्तु यो वर्णः श्रूयतेऽधिकः।
आगम्यमान तुल्यत्वात् स आगम इति स्मृतः।।'[13]

इस प्रकार प्रकृति प्रत्यय में विद्यमान वर्ण के अतिरिक्त किसी भी अन्यत्र विद्यमान अधिक वर्ण की श्रुति हो तो ऐसा आगत वर्ण आगम कहलाता है। प्राचीन शास्त्रकार आगम को उपजन कहते थे। पतंजलि ने भी "उपजनः आगमः विकार आदेशः"[14] ऐसा कहा है। 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्रभाष्य में पूर्वपक्ष का उपस्थापन

करते हुए इन्होंने कहा है- 'आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः ।' [15]

प्राचीन वैयाकरण आपिशलि ने आगम का लक्षण करते हुए आगम की एक अन्य विशेषता को स्पष्ट किया है इनके अनुसार अनुपघातक होने से (बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाए शब्द में युक्त हो जाने से) आगम (कहलाता) है -

"आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात् ।"

व्याकरण जगत में आगम की इसी अनुपघातक रूप विशिष्टता को लक्ष्य कर 'शत्रुवदादेशाः मित्रवदागमः', 'स्थाने शत्रुवदादेशाः भाले पुण्ड्रवदागमाः इत्यादि प्रवाद सुप्रचलित हुए हैं।

प्रक्रिया दृष्टि से विचार करने पर आगम आदेश से भिन्न प्रतीत होते हैं। आगम जहाँ एक अपूर्व उपजन है वहीं आदेश किसी के स्थान पर होता है। आगम किसी वर्ण को हटाकर उसका स्थान नहीं ग्रहण करता जबकि आदेश स्थानी का उपघातक है। आगम एवं आदेश में दूसरा अन्तर यह है कि आगम आगमी का अवयव होता है और आगमी के साथ ही गृहीत हो जाता है। जैसे- विद् (विद्लृ लाभे, तुदादिगण) को हुआ नुम् आगम विद् का अवयव हो जाता है तथा विद्धातु के साथ ही उसका भी ग्रहण हो जाता है। आगम आगमी का अवयवअवयवीभाव संबंध होता है यह 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' परिभाषा द्वारा स्पष्ट होता है। आदेशों के विषय में उपर्युक्त परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती क्योंकि आदेश उपजन न होकर विकार रूप होते हैं आदेशों के लिए स्थानिवद्भाव का अतिदेश किया गया है- स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ। आगमों के विषय में यह अतिदेश संभव नहीं क्योंकि आगम किसी अतिरिक्त वर्ण के आगमन का नाम है जबकि आदेश किसी पूर्वतः विद्यमान को हटाकर उसके स्थान पर होता है। पूर्ववर्ती स्थानी के गुणधर्म आदेशों में अतिदिष्ट हो सकते हैं किन्तु जहाँ पूर्ववर्ती स्थानी न हो, कुछ हटाया ही न गया हो वहाँ यह अतिदेश शास्त्र कैसे प्रवृत्त हो सकता है? अतएव आदेश एवं आगम प्रक्रिया की दृष्टि से भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त आगमानुशासन अनित्य भी होता है[16] पर आदेश को अनित्य नहीं माना जाता। इसके साथ ही इन दोनों में एक भेद यह भी है कि आदेश अर्थवान् भी हो सकता है किन्तु आगम सर्वथा अर्थशून्य होता है। यद्यपि आदेशों का स्वयं का अर्थ नहीं होता फिर भी आदेश हो जाने के बाद इनमें स्थानिवद्भाव से स्थानी के अर्थ का अतिदेश हो जाता है।[17]

वस्तुतः संज्ञा एवं परिभाषा की तरह आगम एवं आदेश में भी वास्तविक सरूपता है। भाष्य में कहा गया है- 'अनागमकानाम् सागमकाः आदेशाः', 'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः'। यदि आगम एवं आदेश में वस्तुगत्या एकजातीयता न होती तो उपर्युक्त भाष्यवचनों का अर्थ बुद्धिग्राह्य न होता।[18] अतएव आगम आदेश से कोई सम्पूर्ण विजातीय पदार्थ भी नहीं है और वह भी एक प्रकार का आदेश ही है यदि पाणिनि चाहते तो प्रक्रिया विशेष से संकेत कर आगमविशिष्ट आदेश पाठ करके इष्टसिद्धि कर सकते थे। तव्य प्रत्यय को इट् आगम विहित न कर, तव्य के स्थान पर इतव्य आदेश विहित करने पर भी इष्टसिद्धि हो सकती थी। 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्रभाष्य में आगमादि के द्वारा नित्य कूटस्थ

अपायोपजनविकाररहित शब्द में उत्पन्न अनित्यत्व रूप दोष का परिहार करते हुए भाष्यकार ने आगम को भी आदेश मान लेने का सुझाव दिया है।(अनागमकानां सागमकाः आदेशाः ।) इस प्रकार आगम एवं आदेश में वास्तविक सरूपता होते हुए भी सूक्ष्मभेददर्शी आचार्य द्वारा इनका पृथक् विधान करना यह ज्ञापित करने हेतु था कि आगम अर्थरहित एवं आदेश अर्थवान है।[19] समता होते हुए भी आगम एवं आदेश का पृथक्करण इसलिए आवश्यक था क्योंकि प्रक्रिया में भेद है। आदेश जहाँ किसी को हटाकर उसके स्थान पर आता है वहीं आगम एक अपूर्व उपजन है। इसके अतिरिक्त दोनों के अनुबन्ध भी परस्पर भिन्न हैं जो इनसे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न प्रयोजन सिद्ध करते हैं। आगमों के अनुबन्ध आगम की स्थित का निर्देश करते हैं कि वह आगमी के आदि में जुड़ेगा अथवा उसका अन्त्य-अवयव बनेगा या अन्त्य अच् से परे युक्त होगा। आदेशों के अनुबन्ध आदेश अन्त्य को होगा या सम्पूर्ण को -इसका निर्धारण करते हैं। अतः आगम आदेश दो सजातीय किन्तु परस्पर भिन्न विधि हैं। लोपविधि भी आदेश विधि से मिलती जुलती सी प्रतीत होती है ।दोनों में ही जिसे लोप या आदेश विहित किया गया हो, उसका अदर्शन होता देखा जाता है लोप का लक्षण है- अदर्शनं लोपः 1.1.60। प्रसक्त का (अर्थात् शास्त्र द्वारा जिसका श्रवण प्राप्त है उसका) अदर्शन होना (अश्रवण होना) लोप कहलाता है। 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' 1.1.62 सूत्रभाष्य में भाष्यकार ने लोप को भी आदेश कहा है- " आदेशः स्थानिवदित्युच्यते। न च लोपः आदेशः' इस प्रकार पूर्वपक्ष का उपस्थापन कर उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं।- " लोपोऽप्यादेशः ।कथम्। आदिश्यते यः स आदेशः। दोषः खल्वपि स्याद् यदि लोपो नादेशः स्यात्। इहाचः परस्मिन् पूर्वविधावित्येतस्य भूयिष्ठानि लोप उदाहरणानि तानि न स्युः।"[20]

उपर्युक्त भाष्य में 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' सू. के लोप रूप आदेश के उदाहरणों की चर्चा की गई है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं - " आक्राष्टाम् ।सिचो लोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् ' षढो कः सीति' कत्वं प्राप्नोति। अच इति वचनान्न भवति।"

" आगत्य। अभिगत्य। अनुनासिकलोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् ह्रस्वस्येति तुक् न प्राप्नोति । अच इति वचनाद् भवति।"[21]

इन उद्धरणों में लोपविधि में स्थानिवद्भाव घटित करना यह स्पष्ट करता है कि लोप भी आदेश ही है क्योंकि स्थानिवदादेशो. सूत्र द्वारा आदेश को ही स्थानिवद्भाव सिद्ध है। इस प्रकार भाष्यकार के मत में लोप भी एक प्रकार का आदेश ही है। इसे अभावरूप आदेश कहा जा सकता है।अर्थात् यह ऐसा आदेश है जिसमें स्थानी का अभाव आदिष्ट होता है।

आदेश एवं लोप में उपर्युक्त प्रकार से समानता होने पर भी इन दोनों की प्रक्रिया में भेद देखने को मिलता है। आदेशविधि भावरूप है इसमें स्थानी का स्थानापन्न अवश्य होता है पर लोपविधि अभावरूप है इसमें स्थानी का अदर्शन करने पर उसका स्थान रिक्त ही रह जाता है।

भाष्यकार द्वारा लोप को आदेश कहने का विशेष प्रयोजन है। 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र का अर्थ होता है प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षण कार्य की प्राप्ति हो। भाष्यकार ने प्रत्ययलक्षण द्वारा सिद्ध होने वाले कार्यों को

स्थानिवद्भाव से सिद्ध कर दिखाया है और प्रत्ययलोपे. सूत्र को एक विशेष नियम का प्रतिपादक सिद्ध किया है। यह नियम है – "प्रत्ययं गृहीत्वा यदुच्यते तत् प्रत्ययलक्षणेन यथा स्यात्। शब्दं गृहीत्वा यदुच्यते तत् प्रत्ययलक्षणेन मा भूदिति।" प्रत्ययलोपे. सूत्र को इस प्रकार के नियम का प्रतिपादक मान लेने पर प्रत्यय का लोप हो जाने पर तल्लक्षण कार्य की अप्राप्ति होने लगती है और शब्दों की रूपसिद्धि मेंबाधा उत्पन्न होती है इसके लिए लोपविषय में प्रत्यय की स्थानिवद्भाव से विद्यमानता सिद्ध की जाती है और प्रत्ययलक्षण कार्य प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार रूपसिद्धि तो निर्बाध संपन्न हो जाती है किन्तु अब शङ्का उठती है कि स्थानिवद्भाव तो आदेश विषय में ही होता है लोप में नहीं तो भाष्यकार लोप को भी आदेश कह देते हैं। इतना ही नहीं भाष्यकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र में जो उदाहरण दिए गए हैं वे लोप को आदेश न मानने पर सिद्ध नहीं हो सकेंगे।[22]

इस प्रकार भाष्यकार के द्वारा लोप को आदेश कहे जाने पर भी इसे आदेशविधि से भिन्न विधि ही मानना उपयुक्त है क्योंकि इनमें भावाभावरूप विशिष्टता इन्हें परस्पर भिन्न सिद्ध करती है। आचार्य पाणिनि ने भी इन दोनों विधियों केद्वारा विभिन्न कार्यों का विधान किया है इसलिए भी उन्हें भिन्न मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त विभिन्न परिभाषाग्रन्थों में लोप को सभी विधियों से बलवान कहा गया है – 'सर्वेभ्यो लोपः', [23] 'सर्वविधिभ्यो लोपविधिः', [24] 'सर्वविधिभ्योलोपविधिर्बलवान्' [25] इत्यादि । लोपादजादेशः[26] जैसी परिभाषाएं लोप की अपेक्षा अजादेश विधि को बलवान सिद्ध करती हैं। ये परिभाषाएँ तथा 'लोप हो', 'श्लु हो', 'लुक् हो', 'लुप् हो' इस प्रकार से जो पाणिनीय विधिशास्त्र कहे गए हैं वे अर्थसंगत हों इस हेतु आदेश से भिन्न लोपविधि स्वीकार करना ही चाहिए।

अष्टाध्यायी में तीन प्रकार के द्वित्व का विधान किया गया है– वर्णद्वित्त्व, अभ्यासरूप धातु संबंधी द्वित्व तथा आम्रेडितरूप पदसंबंधी द्वित्व। ये द्वित्व क्रमशः अष्टाध्यायी के आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद, षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद, अष्टम अध्याय के प्रथम पाद में उपदिष्ट हुए हैं।

'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (6.1..61) तथा 'सर्वस्य द्वे' (8.1.1) इन अधिकार सूत्रों द्वारा षष्ठ अध्याय एवं अष्टमाध्यम के प्रथम पाद का द्वित्व निरूपित हुआ है। 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' सूत्र के अधिकार से हुआ द्वित्व धातु के प्रथम एकाच् सम्बन्धी द्वित्व है।[27] इस द्वित्व में द्वित्व प्राप्त समुदाय के पूर्ववर्ती की अभ्यास संज्ञा होती है(पूर्वोऽभ्यासः' सूत्र से) तथा द्वित्व समुदाय के अभ्याससंज्ञक एवं परवर्ती दोनों को अभ्यस्त कहा जाता है ('उभे अभ्यस्तम्' सू.) इस द्वित्व के विषय में भाष्यकार का मत है कि यह द्वित्व 'द्विः प्रयोग' या द्विरुच्चारण समझा जाय। इस द्वित्व को आदेश मानने में कुछ ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं जिनका परिहार नहीं हो सकता ।[28] 'एकाचो, द्वे प्रथमस्य' सूत्र का अर्थ किया जाता है 'धातोः यः प्रथमएकाचः, तस्य प्रथमएकाचस्य, द्वे उच्चारणे स्तः।' भाष्यकार के अनुसार – 'धातोरिति नैषैकाच्समानाधिकरणा षष्ठी धातोरेकाच इति। किं तर्हि? अवयवयोगैषा षष्ठी– धातोर्य एकाजवयव इति'।[29] इस प्रकार –यहाँ स्थान षष्ठी

न मानकर अवयवषष्ठी मानना अभ्यास द्वित्व को आगमतुल्य सिद्ध करता है 'द्वे उच्चारणे स्तः' शब्द से ऐसा ही तात्पर्य निकलता है। प्रदीपकार के अनुसार – अर्थैकाचो, द्वे प्रथमस्येत्यत्र षष्ठीनिर्देशात्स्थाने द्विर्वचनं कस्मान्न भवतीति। 'अभ्यासाच्चे' त्यनेनाऽभ्यासादुत्तरस्य हन्ति हकारस्य कुत्वविधानाल्लिंगात् न हि स्थाने द्विर्वचनेऽभ्यासादुत्तरो हन्तिः संभवति, शब्दान्तरत्वादादेशस्य। स्थानिवद्भावावपि समुदायो हन्तिग्रहणेन गृह्यते न तदवयवः।[30]

कैयट का आशय है कि षष्ठाध्याय के इस अभ्याससंज्ञक द्वित्व को आदेश नहीं माना जाता अपितु द्विरुच्चारण या द्विः प्रयोग माना जाता है इसका कारण यह है यहाँ 'स्थानेद्विवचनम्' पक्ष का आश्रयण नहीं किया जा सकता। इस अनाश्रयण के पीछे सूत्रकार द्वारा प्रदत्त हेतु (लिंग) भी है। यह जो 'अभ्यासाच्च' सूत्र द्वारा हन् धातु को अभ्यास से परे रहते कुत्व विधान किया गया वह सूचित करता है कि अभ्यास द्वित्व स्थानेद्विवचन नहीं है।

हन् णल् इस दशा में हन् को द्वित्वादेश पक्ष में स्थानी हन् हटा उसके स्थान पर आदेश 'हन् हन्' आया – हन् हन् णल्।अब 'अभ्यासाच्च' सूत्र द्वारा अभ्यासोत्तरवर्ती हन् धातु को कुत्व करना है जो आदेश पक्ष में संभव नहीं होगा। आदेश स्थानी से भिन्न शब्द होता है जैसे भू आदेश अस् स्थानी से भिन्न है, पश्य आदेश दृश् स्थानी से भिन्न है। इसी प्रकार 'हन् हन्' आदेश 'हन्' स्थानी से भिन्न – शब्दान्तर है। (ऐसा न मानने पर स्थानिवदादे. सू. का उल्लंघन होगा) इस दशा में स्थानिवद्भाव से हन् स्वरूप सिद्ध करके भी कार्यसिद्धि संभव नहीं क्योंकि स्थानी में एकमात्र हन् है अभ्यासपूर्वक हन् नहीं। आदेश में दो हन् हैं अवश्य किन्तु समग्ररूप में ही आदेश को स्थानिवत् कहा जाता है(स्थानिवद्भावातिदेश सम्पूर्ण आदेश को होता है आदेश के अवयवों को नहीं)। इस प्रकार अभ्यास पूर्वक हन् धातु (षष्ठ अध्याय के इस द्वित्व को 'स्थानेद्विवचन' मानने पर) नहीं प्राप्त होती है और कुत्वशास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हो पाती है। द्विरुच्चारण या द्विः प्रयोग पक्ष में दो हन् धातु प्राप्त होने से अभ्यासपूर्वक हन् धातु की उपलब्धि हो जाती है और कुत्वशास्त्र की प्रवृत्ति होने लगती है।

आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद का वर्णद्वित्व भी इसी प्रकार का है। इस पाद में कुल दो सूत्र हैं। –'अचो रहाभ्यां द्वे' तथा 'अनचि च' जो वर्ण संबंधी द्वित्व विधान करते हैं। ये आदेश हैं अथवा 'द्विः प्रयोग' या 'द्विरुच्चारण' हैं इस विषय पर भाष्य, काशिका अथवा अन्यत्र कहीं भी विचार नहीं किया गया है। यह द्वित्व उच्चारण विषयक है।

मद्ध्वत्र। मधु, अत्र, मध् व् अत्र इस स्थिति में 'अनचि च' सूत्र द्वारा अनच् वकार परे रहते अच् यर् धकार को वैकल्पिक द्वित्व हुआ है –मध् ध् वत्र मद्ध्वत्र यह द्वित्व संहिताजन्य श्रवण है आठवें अध्याय के प्रथम पाद का द्वित्व 'स्थानेद्विवचन' प्रकार का है। 'सर्वस्य द्वे' सूत्रभाष्य में भाष्यकार ने इस द्वित्व के आदेशत्व का बड़ा ही ऊहापोहमय विस्तृत विवेचन किया है और द्वित्व को स्थानेद्विवचन सिद्ध किया है।[31] भाष्यकार ने द्विःप्रयोग द्विर्वचन पक्ष मानने में भी कोई हानि नहीं यह भी प्रदर्शित किया है किन्तु अधिकांश टीका एवं व्याख्याओं के कर्ता इसे स्थानेद्विवचन मानने के पक्ष में ही हैं। वस्तुतः द्विः प्रयोग पक्ष को ज्ञापक द्वारा सिद्ध किया

गया है जिसकी तुलना में आदेश पक्ष का समाधान अधिक उचित एवं शास्त्रीय प्रतीत होता है। (द्वि:प्रयोग पक्ष में पौन: पुन्यं, पौन: पुनिकम् इत्यादि प्रयोगों में अप्रातिपदिकत्वात् (सुबन्तत्वेन) तद्धित की उत्पत्ति नहीं होती इस का परिहार भाष्य कार ने इस प्रकार किया है – मा भूदेवं समर्थानामित्येवं भविष्यति। अथ वाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति – भवत्येवंजातीयकेभ्यस्तद्धितोत्पत्तिरिति, यदयं कस्कादिषु कौतस्कुतशब्दं" पठति।[32] भाष्यकार के इस ज्ञापक पर उद्योतकार नागेश ने टीका की है – अस्माज्ज्ञापकात्स्थानेद्विर्वचनपक्षाश्रयणमेव युक्तमित्याहु:।[33]

वासुदेव दीक्षित ने 'सर्वस्य द्वे' सूत्र की व्याख्या में लिखा है – पदस्येति अधिकरिष्यमाणमिहापकृष्यते सर्वस्येति स्थानषष्ठी द्वे इति त्वादेशसमर्पकम्। तस्य च शब्दरूपे इति विशेष्यमर्थाल्लभ्यते, शब्दानुशासन् प्रस्तावात्। ते च शब्दरूपे स्वरूपत: अर्थतश्चान्तरतमे पदे इति स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया लभ्यते।[34]

इस प्रकार षष्ठाध्यायगत द्वित्व (अभ्यास द्वित्व) द्वि: प्रयोग या द्विरुच्चारण है। 'आदेशप्रत्यययो:' सूत्रभाष्य में स्पष्ट कहा गया है – न धातुद्विर्वचने स्थाने द्विर्वचनं शक्यमास्थातुम्।[35] 'दयतेर्दिगि' 7.4.9 सूत्रभाष्य में भी यही मत ध्वनित होता है। अष्टम अध्याय का द्वित्व द्वित्वादेश है, स्थानेद्विवचन है।

पद-द्वित्व, अभ्यासद्वित्व तथा वर्णद्वित्व के मध्य इसी भेद से इनका अष्टाध्यायी में एकत्र उपदेश नहीं किया गया। पदद्वित्व न प्रकृति प्रत्यय के अन्तर्गत आता है न ही प्रकृतिप्रत्ययाश्रित कार्य विशेष है इसी कारणवश यह तृतीय से सप्तम अध्याय तक उपदिष्ट नहीं हुआ। संज्ञा एवं पारिभाषिक पद न होने से यह प्रथम अध्याय में भी नहीं रखा जा सका। यद्यपि समासादि के समान विशिष्ट अर्थ बोधकता इस विधि की भी है तथापि 'समर्थ: पदविधि:' सूत्रविहित सामर्थ्य रूप विशिष्टता इस विधि में दृष्ट नहीं होती। समर्थ अर्थात् संगतार्थ, सम्बद्धार्थ। यहाँ सम्पूर्ण पद का शब्दत: एवं अर्थत: समतायुक्त दो पद होना द्वित्व कहा गया है अतएव संगतार्थ या सम्बद्धार्थ रूप सामर्थ्य द्वित्व विधि में नहीं है। (यद्यपि नित्यता, वीप्सा आदि विशेष अर्थों का (द्वित्व होने पर) बोध होता है किन्तु वस्तुत: ये अर्थ प्रकृतिगम्य हैं। (सत्यपि प्रकृतेर्द्वित्वे द्विरुक्तयो: प्रकृत्यनतिरेकात् – बालमनोरमा।) इससे यह द्वित्व विधि द्वितीय अध्याय में समासादि प्रकरण में भी नहीं रखी गई। आदेशरूप होने से तथा अर्थ विशेषद्योतक होने से षष्ठाध्याय के अभ्यासद्वित्व में भी इस द्वित्व को स्थान न मिला अतएव संज्ञा, परिभाषा, प्रत्यय प्रकृति प्रत्यय सम्बन्धी कार्यों का उपदेश करने के बाद अष्टम अध्याय के प्रथम पाद में पदसंबंधी इस द्वित्व का उपदेश हुआ क्योंकि अष्टमाध्यायके दूसरे पाद से असिद्ध काण्ड आरम्भ होता है अत: इसे प्रथम पाद में ही रखा गया।

षष्ठ अध्याय का अभ्यास द्वित्व प्रकृति या अङ्ग संबंधी कार्य है अतएव अङ्गकार्य सम्बन्धी प्रकरण में इसका भी उपदेश हो गया।

अष्टम अध्याय के चतुर्थ पाद का वर्णद्वित्व संधि या संहिता संबंधी विकारों के प्रकरण में पढ़ा गया। यहाँ इसका पाठ असिद्धत्व रूप विशेष प्रयोजन के हेतु किया गया है।

पाणिनीय शास्त्र में कभी-कभी सम्पूर्ण शब्द, कभी आगम, आदेश, प्रकृति, प्रत्यय आदि निपातन द्वारा सिद्ध किए गए है। यथा – कपिष्ठल में षत्वादेश निपातन है,

आनाय्य में आय आदेश निपातन है[36], आत्मम्भरि में मुम् आगम निपातन सिद्ध है।[37] सू. अपचितश्च (6.2.30) में प्रकृति को चिभाव निपातन हुआ है। 'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' सू. में ताच्छील्य अर्थ में 'इनि' प्रत्यय निपातन किया गया (जब कि णिनि प्राप्त था) विभिन्न विषय में निपातन होना देखा गया है अब प्रश्न उठता है कि इनका निपातन क्यों किया गया विधिसूत्रों के द्वारा विधान क्यों नहीं किया गया इसके उत्तर में निपातन के विशेष स्वरूप को दर्शाने वाली वैयाकरणों की कुछ उक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं:- काशिकाकार के अनुसार - "यदिह लक्षणेन अनुपपन्नं तत् सर्वं निपातनात् सिद्धम्।"[38] (अर्थात् पाणिनीय सूत्रों द्वारा जो सिद्ध नहीं है वह सब निपातनात् सिद्ध हो गया है।) एक कारिका में तीन प्रकार के निपातनकार्यों की चर्चा की गई है -

"अप्राप्तं प्रापणं चाऽपि प्राप्तेर्वारणमेव वा।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात्।।"

उपर्युक्त दोनों कथनों में निपातन के द्वारा सिद्ध हुए कार्यों की चर्चा हुई है। अब निपातन के स्वरूप का विचार प्रसंगतः प्राप्त है इस संबंध में निम्न उक्तियाँ विचारणीय हैं:-

"इमे विंशत्यादयः सप्रकृतिकाः सप्रत्ययकाश्च निपात्यन्ते तत्र न ज्ञायते - का प्रकृतिः कः प्रत्ययः, कः प्रत्ययार्थ इति।"[39]

भाष्यकार के इस वाक्यांश की व्याख्या कैयट ने इस प्रकार की है - अथ प्रकृतित्वमेषां कस्मान्न विज्ञायते? पञ्चम्याः प्रत्ययस्य चानुपादानात्, अनिष्पन्नस्य च प्रकृतित्वाभावात्। प्रत्ययत्वं तर्हि कस्मादेषां न भवति? लोके केवलानां प्रयोगदर्शनात्। 'शताच्च ठन्यतावशते' 'विंशत्यादिभ्यः' इति शास्त्रे च केवलानामुच्चारणात्।[40]

इन उद्धृत वाक्यांशों के आधार पर हम कह सकते हैं कि निपातित शब्द न प्रकृति है न प्रत्यय है पर प्रकृति - प्रत्ययात्मक अवश्यमेव है। भाष्यकार ने इनमें प्रकृति एवं प्रत्यय की परिकल्पना करने का सुझाव दिया है - तत्र वक्तव्यं इयं प्रकृतिः, अयं प्रत्ययः अयं प्रत्ययार्थः इति। इस प्रकार विंशति इत्यादि शब्दों में प्रकृति प्रत्यय की परिकल्पना[41] प्रारम्भ कर व्युत्पत्ति पक्ष में दोष देख भाष्यकार ने इन्हें अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मान लिया है - विंशत्यादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। यथा सहस्रादिषु। (महाभाष्य 5.1.59) भाष्यकार का यह मत वार्तिककार कात्यायन के वार्तिक 'अनारभ्यो वा प्रातिपदिकविज्ञानात् यथा सहस्रादिषु', पर आधारित है। इस प्रकार यहाँ वार्तिककार एवं भाष्यकार 'विंशति' आदि निपातनसिद्ध शब्दों को अव्युत्पन्न शब्द मानते हैं। किन्तु सर्वत्र इनका ऐसा व्यवहार नहीं है। "दान्तशान्तपूर्ण" 6.2.26 सू. एवं "अपचितश्च" 6.2.30 में वार्तिककार एवं भाष्यकार ने उपधादीर्घत्व, उपधाह्रस्वत्व तथा चि आदेश का निपातन स्वीकार किया है[42] जो निपातित शब्दों की व्युत्पत्ति प्रदर्शित करने की इनकी चेष्टा का परिचायक है।

अस्तु निपातनसिद्ध शब्द भले ही रूढिशब्द हों, लोक में व्यवहृत होने से इनके साधुत्वनिष्पादन हेतु इनकी व्युत्पत्ति की चेष्टा करना उचित है अतएव इनकी व्युत्पत्ति

प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया और येनकेनप्रकारेण इनमें प्रकृति प्रत्ययादि अवयव प्रकल्पित हुए।[43] व्युत्पत्ति प्रदर्शन के इस क्रम में कुछ कार्य तो शास्त्र (सूत्र द्वारा) सिद्ध हो जाता है और कुछ सिद्ध नहीं हो पाता। सूत्रों द्वारा जो कार्य सिद्ध नहीं होता उसे निपातनसिद्ध मान लेते हैं यथा 'विष्टर:' यहाँ विपूर्वक स्तृ से अप् (ऋदोरप् सू. से) इतना कार्य शास्त्रसिद्ध है। इस प्रकार विस्तर शब्द बना। प्रयोगस्थ मूर्धन्य षकार की व्याख्या षत्वविधायक सूत्रों द्वारा न हो सकी तो उसका निपातन मान लिया गया। 'वृक्षासनयोर्विष्टर:' सूत्र में निर्दिष्ट निपातित शब्द 'विष्टर' की – 'विपूर्वस्य स्तृणाते: षत्वं निपात्यते।'[44] इत्यादि व्याख्याएँ इसी प्रवृत्ति की सूचक हैं।

यहाँ निपातन के विषय में कैयट का एक वाक्यांश विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने लिखा है – "विधिनिपातनयोश्चायं भेदो यत्रावयवा निर्दिश्यन्ते, समुदायोऽनुमीयते स विधि:। यत्र तु समुदाय: श्रूयते अवयवाश्चानुमीयन्ते तन्निपातनम्।[45]

अर्थात् विधि एवं निपातन में यही अन्तर है कि विधि में अवयव (प्रकृतिप्रत्ययादि) निर्दिष्ट रहते हैं इनका समुदाय रूप शब्द अनुमित होता है पर निपातन में शब्द समक्ष उपस्थित रहता है इसके प्रकृति प्रत्यय रूप अवयवों का अर्थानुसारी अनुमान किया जाता है हरदत्त ने भी कुछ इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है – यत्र समुदाय: श्रूयते, अवयवा अनुमीयन्ते तन्निपातनम्, विपरीतो विधि:।[46]

अतएव इन उद्धरणों के आधार पर हम निपातन को हरदत्त के शब्दों में 'विपरीतो विधि:' कह सकते हैं। आदेश भी विधि का ही एक विषय है अतएव उसके विषय में भी यही दृष्टि घटती है।विधि सूत्रविहित आदेश साक्षात् विहित आदेश है जबकि निपातनसिद्ध आदेश अनुमित है। प्रकृति, प्रत्यय, आगमादि के समान आदेश का भी निपातन किया जाता है अतएव आदेश निपातन का एक विषय है फिर भी सिद्ध शब्दों में अनुमित होने से यह विधिसूत्र विहित आदेश से भिन्न है। निपातन एवं विधि के इसी भेद के कारण निपातित, आदेश, को विधिसूत्र द्वारा विहित नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार आदेश एवं आगम, लोप, द्वित्व, निपातन आदि में कुछ समताएँ एवं कुछ भेद भी हैं। आगम को आदेश मानकर भाष्यकार ने नित्यशब्द वादियों के मत को खण्डित होने से बचाया, लोप को आदेश न मानने से कई दोष गिनाए तथा पदद्वित्व को स्पष्ट रूप में आदेश स्वीकार किया फिर भी इन विधियों का आदेश विधि से भिन्न होना भी सिद्ध है। आगम में स्थानी का न होना, लोप में आदेश का अभाव रूप होना तथा द्वित्व में एक जैसे रूप एवं अर्थ वाले दो शब्दों का स्थानापन्न होना आदेश विधि से इन विधियों का अन्तर स्पष्ट करता है। इसलिए भाष्यकार के अनुसार हम इन्हें आदेश कहना भी चाहेंगे तो आगमादेश, लोपादेश, द्वित्वादेश इस प्रकार का अन्तर रखना ही पड़ेगा। यदि आदेश एवं इन विधियों में भेद न होता तो एकमात्र आदेशविधि द्वारा ही इन सबका विधान किया गया होता और पाणिनि को लोप, आगम, द्वित्वादि विधि से संबंधित सूत्रोपदेश करने की आवश्यकता न होती। इसके अतिरिक्त आगम एवं आदेश में भिन्न प्रयोजनों के सिद्ध्यर्थ जुड़े भिन्न-भिन्न अनुबंध भी इनके परस्पर भिन्न होने के परिचायक हैं।

आगमों के अनुबंध इस विषय का निर्धारण करते हैं कि आगम कहाँ होंगे शब्द के आदि में, अन्त में अथवा शब्द के अन्त्य अच् से परे दूसरी ओर आदेशों के अनुबंध इस विषय का निर्धारण करते हैं कि आदेश किसके स्थान पर होगा–शब्द के अन्त्य वर्ण के स्थान पर अथवा सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर। पाणिनि ने आदेशों के साथ दो अनुबन्धों का योग किया है ड्. एवं श् का। ङि.त्करण का फल है– आदेश का शब्द के अन्तिम वर्ण के स्थान पर आना तथा शित्करण का फल है आदेश का सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर आना।[47] यद्यपि ऐसा नियम नहीं किया जा सकता कि एकाल् स्थानी को एकाल् आदेश तथा अनेकाल् स्थानी को अनेकाल् आदेश होंगे तथापि अधिकांश आदेशविधान इसी प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ – इक् को यण्, निष्ठानत्व, णत्व, षत्व इत्यादि के स्थानी एवं आदेश एकाल् तथा अस् को भू, ब्रू को वच्, चक्षिड्. को ख्याञ् इत्यादि के स्थानी एवं आदेश अनेकाल् हैं। किन्तु सर्वत्र ऐसा करना संभव नहीं। किन्हीं प्रयोगों में एकाल् स्थानी के स्थान पर अनेकाल् आदेश एवं कहीं कहीं अनेकाल् स्थानी को एकाल् आदेश विहित करना आवश्यक होता है।< उदाहरणार्थ– गाण्डीवधनुष् शब्द के अन्त्य अवयव को अन आदेश, सुधातृ के अन्त्य ऋकार को अक आदेश, इदम्, एतद् को 'अ' आदेश किए बिना क्रमशः गाण्डीवधन्वा, सौधातकि, अन्वादेश विषयक आभ्याम्, अत्र, अतः आदि शब्द प्रयोग नहीं सिद्ध हो सकते।> अतएव इस प्रकार के आदेश विहित किए गए एवं शब्द के अन्त्य वर्ण के स्थान पर अनेक वर्णात्मक आदेश लाने हेतु आदेश को ङि.त् एवं समग्र शब्द के स्थान पर एकवर्णात्मक आदेश लाने हेतु आदेश शित् किया गया तथा 'अलोऽन्त्यस्य' (1.1.52) 'ङि.च्च' (1.1.53) सूत्र द्वारा शब्द के अन्त्य वर्ण को तथा 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (1.1.55) द्वारा सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर आदेश प्राप्ति की व्यवस्था की गई। इस प्रकार इन अनुबन्धों, एवं सूत्रों के द्वारा स्थानी एवं आदेश के विषय में कुछ इस प्रकार का नियम बना एकाल् स्थानी को एकाल् आदेश, अनेकाल् स्थानी को अनेकाल् आदेश होंगे। शित् आदेश एकाल् होते हुए भी सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर होंगे और ङि.त् आदेश अनेकाल् होते हुए भी शब्द के अन्तिम वर्ण के स्थान पर होंगे। अष्टाध्यायी के समस्त आदेश विधान नियमों के आधार पर किए गए हैं किन्तु कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ इन नियमों से हटकर आदेश विधान हुआ है। उदाहरणार्थ– 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्', 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्.', अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्. इत्यादि सूत्रों द्वारा तु एवं हि को तातङ्., च्लि को चङ्. च्लि को अङ्. इत्यादि आदेशविधान ङि.त् होकर भी अन्त्य वर्ण के स्थान पर न होकर सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर होते हैं। इन आदेशों के ङित्करण का विशेष प्रयोजन है। यह प्रयोजन है – ङि.त् करने के फलस्वरूप गुणवृद्धि का निषेध होना। अकङ्., इयङ्., उवङ्., अनङ्. इत्यादि ङि.त् आदेशों के ङि.त्करण का एकमात्र प्रयोजन अन्तादेश की सिद्धि है इनके अन्त्य वर्ण के स्थान पर न हो कर सम्पूर्ण के स्थान पर होने पर अभीष्ट सिद्धि न हो सकेगी किन्तु तातङ्. के ङि.त्करण को अन्तादेश–सिद्ध्यर्थक मानने पर अभीष्ट शब्द नहीं सिद्ध हो सकेगा। गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थक मानने पर अभीष्ट सिद्धि हो सकेगी। इसीलिए 'ङि.च्च' सूत्रभाष्य में भाष्यकार ने तातङ्. को सर्वादेश तथा इसका ङि.त्करण गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थक स्वीकार किया है। (भाष्यकार के अनुसार गुणवृद्धि निषेध रूप

विशेष प्रयोजन होने के कारण तातङ्. का ङि.त्व सावकाश है इससे 'ङि.च्च' 1.1.52 सूत्र का अपवाद निर्बल होकर प्रवृत्त नहीं हो पाता। तब ङि.त्वात् अन्तादेश[48] तथा अनेकाल्त्वात् सर्वादेश[49] विधायक शास्त्र एक साथ प्रवृत्त होते हैं और विप्रतिषेध नियम से पर होने से सर्वादेश हो जाता है।[50] अकङ्., इनङ्. इत्यादि के ङि.त्व का गुणवृद्धिनिषेध जैसा कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। इनके ङि.त्व का एकमात्र प्रयोजन अन्तादेश की सिद्धि है। अतएव अन्तादेश के प्रति ङि.त्व के सावकाश होने से अनेकाल्त्वात् सर्वादेश विधायक शास्त्र के विरुद्ध ङि.च्च' 1.1.52 सूत्र का अपवाद प्रवृत्त होकर अन्तादेश कर देता है।)

तातङ्. के ङि.त्करण को गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थक मानने पर 'ब्रूतात्' प्रयोग में इगन्त अङ्. ब्रू को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' सूत्र से निषेध हो सकेगा इसी प्रकार 'मृष्टात्' प्रयोग में 'मृजेर्वृद्धिः' सूत्र से प्राप्त वृद्धि का 'क्ङ.ति च' से निषेध हो जायगा। इस प्रकार इस ङि.त्व को गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थक मानना चाहिए तथा इस आदेश में 'ङि.च्च' सूत्र की अप्रवृत्ति माननी चाहिए और आदेश को सर्वादेश मानना चाहिए। चङ्., अङ्. इत्यादि आदेशों में भी 'चङि.' सू. से द्वित्व तथा दोनों में ङि.त्वलक्षण गुणवृद्धिनिषेधादि विशेष प्रयोजन हेतु ङि.त्करण हुआ है। लेकिन इन कुछ उदाहरणों में ङि.त्करण को अन्यार्थक पाकर अन्तादेश हेतु ङि.त्करण को अनुपयुक्त कहना उचित नहीं क्योंकि अनङ्., इनङ्., अकङ्., इयङ्. उवङ्. आदेशों में यह चरितार्थ है। वस्तुतः कोई अन्य विशिष्ट प्रयोजन न हो तो आदेशों का ङि.त्करण अन्तादेश की सिद्धि हेतु ही है। इसी आधार पर यह ज्ञात होता है कि 'ऋधसोऽनङ्.' 'जायाया निङ्.' इत्यादि सूत्र आदेश विहित करते हैं प्रत्यय नहीं। यदि ये प्रत्यय होते तो कुछ विशिष्ट प्रयोजन न होने से इनका ङि.त्करण व्यर्थ हो जाता आदेश पक्ष में अन्तादेश रूप प्रयोजन सिद्ध होने से इनका ङि.त्करण सार्थक है। आचार्य पाणिनि का कोई कार्य प्रयोजनहीन नहीं हो सकता। अर्द्धमात्रालाघव वैयाकरण के लिए पुत्रप्राप्तिसदृश आनन्दप्रद होता है। अतः एक वर्ण का भी अनावश्यक प्रयोग कैसे किया जा सकता है। अतएव इन सूत्रों द्वारा विहित अनङ्. निङ्. आदि आदेश हैं, प्रत्यय नहीं यह सुनिश्चित होता है और यह निश्चय ङ.कार अनुबन्ध के कारण ही हो सका है।

आदेशों के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से विचारणीय है। पाणिनीय संप्रदाय में शब्द को नित्य माना गया है। 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक में वार्तिककार ने शब्द अर्थ एवं इनके सम्बन्ध को नित्य माना है।भाष्यकार के अनुसार इस वार्तिक के 'सिद्ध' शब्द का अर्थ 'नित्य' है – सिद्धे शब्दार्थसम्बन्ध इत्यत्र नित्यपर्यायवाची सिद्ध शब्दः। (महाभाष्य)। वाक्यपदीयकार ने भी – "नित्याः शब्दार्थ सम्बन्धाः"[51] इत्यादि कारिकांश में शब्द को नित्य स्वीकार किया है।इस प्रकार शब्द का नित्य होना सुविदित है। अब जो नित्य है उसे कूटस्थ अविचाली लोपागमविकाररहित होना चाहिए। आदेश क्रिया में हम स्थानी का विनाश होता हुआ तथा आदेश को उत्पन्न होता देखते हैं। स्थानी होकर भी नहीं होता और आदेश न होते हुए भी हो जाता है। (स्थानी हि नाम यो भूत्वा न भवति, आदेशो हि नाम योऽभूत्वा भवति।)[52] इस प्रकार शब्द का विनाश एवं उसकी उत्पत्ति स्पष्ट है फिर शब्द नित्य कैसे है ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया – स्थान्यादेशभाव

बुद्धि का विपरिणाममात्र है। 'अस्तेर्भूः' का यह अर्थ नहीं है कि अस् को नष्ट कर भू उत्पन्न हो अपितु यह है कि अस् की बुद्धि में भू की बुद्धि करनी चाहिए। या आर्धधातुक के विषय में अस् के उच्चारण की प्राप्ति में भू का उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार बुद्धिमात्र में या उच्चारणमात्र में विपरिणाम होता है, शब्द में कोई विकार नहीं होता।इसे एक दृष्टान्त देकर भाष्यकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है – कश्चित् के चिदुपदिशति प्राचीनंग्रामादाम्रा इति। तस्य सर्वत्राम्रबुद्धिः प्रसक्ता। ततः पश्चादाह ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधा इति। स तत्राम्रबुद्ध्या न्यग्रोधबुद्धि प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्ध्या आम्रांश्चापकृष्यमाणान् न्यग्रोधांश्चोपधीयमानान्।[53] अर्थात् कोई किसी से कहता है कि गाँव से पूर्व की ओर आम के वृक्ष हैं यह सुनकर श्रोता सभी वृक्षों को आम समझने लगता है इसके पश्चात् फिर उस व्यक्ति से कहता है कि जो दूध वाले, नीचे लटकती जड़ों (अवरोह) वाले और चौड़े पत्ते वाले हैं वे वट हैं यह सुनकर श्रोता आमों का विचार छोड़ देता है और बरगद के वृक्षों का विचार करने लगता है इस तरह उसे आम हटते हुए और बरगद उसके स्थान में सन्निहित होते प्रतीत होते हैं। वस्तुतः न आम नष्ट होते हैं न बरगद उत्पन्न होते हैं, बोध में परिवर्तन होता है। आम अपनी जगह बरगद अपनी जगह नित्य अवस्थित हैं। इसी प्रकार अस्तेर्भूः से अस् के स्थान में भू कहने से अस् का विचार छूटकर भू का विचार हो जाता है। बुद्धि में अस् हटता हुआ और भू उपस्थित होता हुआ अनुभव होता है अस् और भू अपने विषय में नित्य अवस्थित हैं। न अस् नष्ट होता है और न ही भू उत्पन्न होता है अतः अस् के विषय में भू बोधान्तर ही स्थान्यादेशभाव है।

वस्तुतः अपकर्ष (हटाना) तथा उपधान (लगाना) यह दोनों बुद्धि के धर्म हैं ये बुद्धि में होते हैं, वृक्षों में इनका आरोप हो जाता है इसी प्रकार स्थानी का हटना तथा आदेश का आना बुद्धि में ही होता है शब्दों में इसका आरोप हो जाता है अतएव स्थान्यादेश के कारण शब्दनित्यत्व की अनुपपत्ति नहीं होती ।

'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' सूत्र में 'कार्यं विपरिणामाद्वा सिद्धम्' वार्तिक द्वारा यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है।व्याकरण दर्शन में यह सिद्धान्त 'बुद्धि-विपरिणामवाद' कहा जाता है।

स्थानिवद. सूत्र के समान ही कई ऐसे सूत्र हैं जो आदेश विधान तो नहीं करते पर आदेशों से सम्बन्धित नियम अतिदेश, संज्ञाएँ, परिभाषाएँ इत्यादि करते हैं। यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन करना उचित होगा।

इको गुणवृद्धी 1.1.3– इस परिभाषा का अर्थ है जहाँ (जिस सूत्र में) गुण एवं वृद्धि शब्द से गुण एवं वृद्धि का विधान हो वहाँ षष्ठ्यन्त पद 'इकः' उपस्थित हो।

इस सूत्र के फलस्वरूप 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र द्वारा इगन्त अङ्ग को गुण हो पाता है । इस सूत्र में इसके पूर्व के सूत्रों से अङ्गस्य एवं गुण की अनुवृत्ति हो रही है और आलोच्य परिभाषा द्वारा इकः इस पद की उपस्थिति होती है और इस सूत्र का अर्थ होगा ' इगन्त अङ्ग को गुण हो सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे हों तो'। अचश्च 1.1.28 – सूत्र का अर्थ है ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत शब्दों का प्रयोग कर जहाँ कुछ विधान हो वहाँ 'अचः' इस षष्ठ्यन्त शब्द की उपस्थिति

हो।

इस सूत्र के बल से 'श्रीपम्' जैसे प्रयोगों में पा के अन्त्य अच् को ह्रस्व हो जाता है। इस प्रयोग में 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' सूत्र द्वारा प्रातिपदिक को ह्रस्व विधान हुआ है और इस परिभाषा द्वारा षष्ठ्यन्त 'अचः' पद की उपस्थिति होती है और 'ह्रस्वो नपुंसके.' सूत्र में इस पद का अन्वय हो जाता है और अजन्त प्रातिपदिक को नपुंसक में ह्रस्व हो ऐसा अर्थ फलित होता है।

जहाँ गुण, वृद्धि तथा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का प्रयोग कर किसी कार्य का विधान हो वहीं इन परिभाषाओं 'इको गुणवृद्धी' तथा 'अचश्च' की उपस्थिति होती है, इससे 'वृद्धीर्यस्यामचामादिस्तद् वृद्धम्' इत्यादि में 'इकः' की उपस्थिति नहीं होती क्योंकि वृद्धि शब्द यहाँ विधीयमान स्वरूप का नहीं है। इस सूत्र में वृद्धसंज्ञक शब्द के अर्थ के निरूपण के क्रम में वृद्धि शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'त्यदादीनामः' तथा 'दिव उत्' में विधीयमान अकार एवं उकार भी गुण, वृद्धि या ह्रस्व दीर्घ प्लुत शब्दों का प्रयोग कर विहित नहीं हुए हैं अतः क्रमशः 'इकः' एवं 'अचः' पद इन सूत्रों के विषय में उपस्थित नहीं हो सकेंगे।

वस्तुतः इन सूत्रों द्वारा इक् ही गुण एवं वृद्धि का स्थानी हो तथा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इत्यादि के स्थानी अच् ही हों ऐसा नियम किया गया है।

इग्यणः सम्प्रसारणम् 1.1.45 – यह संज्ञासूत्र है। सूत्रार्थ है– यण् के स्थान पर प्रयुज्यमान जो इक् वह संप्रसारणसंज्ञक हो। इससे 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे' इत्यादि सूत्रों द्वारा ष्यङ् के यकार को संप्रसारणसंज्ञक इक् हो जाता है तथा 'संप्रसारणाच्च' सू. द्वारा संप्रसारण एवं संप्रसारण से परे जो अच् उनके स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। 'ष्यङः सम्प्रसारणं.' सूत्र में सम्प्रसारण का अर्थ 'यण् के स्थान पर इक् होना' लगाया जाता है तथा 'संप्रसारणाच्च' सूत्र में सम्प्रसारण का अर्थ 'इक् जो यण् के स्थान पर हो चुका हो' लगाया जाता है। सम्प्रसारणसंज्ञा के फलस्वरूप यण् के स्थान में इक् हुआ और द्वितीय में यण् के स्थान में हो जाने के कारण संप्रसारणसंज्ञा हुई। इस प्रकार यहाँ 'अन्योन्याश्रय' दोष की आपत्ति आ पड़ती है। आचार्य ने दोनों अर्थों का आश्रयण कर सूत्रोपदेश किया है अतएव उभयपक्ष आश्रयणीय है– 'विभक्ति –विशेषनिर्देशस्तु ज्ञापक उभयसंज्ञात्वस्य।'[54] वार्तिक। भाष्यकार ने इस दोष का वारण भावीसंज्ञा मानकर किया है। इनके अनुसार संप्रसारणविधायक सूत्रों का ऐसा अभिप्राय समझना चाहिए कि जिस इक् की यण् के स्थान में होने पर आगे चलकर संप्रसारण संज्ञा होगी वह इक् आदेश हो ऐसा अभिप्राय निकालने पर अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा। भावी संज्ञा का आश्रय लोक में भी बहुत होता है यथा – 'अस्य सूत्रस्य शाटकं वय इस वाक्य में भी पूर्व प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष है। इस दोष का निराकरण भावीसंज्ञा मान लेने से हो जाता है। तथाहि–यदि साड़ी है तब उसको क्या बुनना? और यदि अभी बुनना है तो उसे साड़ी कैसे कहा जा सकता है। साड़ीतो बुनने के बाद ही कहा जायगा। इस दशा में इस वाक्य में भावीसंज्ञा का आश्रय लेकर यह अभिप्राय निकाला जाता है कि इस सूत से वह वस्तु बनो जो बुने जाने पर साड़ी कहलाएगा।[55]

सम्प्रसारण संज्ञा किए बिना भी यण् को इक् विहित किया जा सकता है

किन्तु सम्प्रसारण संज्ञा करने से विशेष प्रयोजन सिद्ध होता है। जब ऐसी इक् को कोई कार्य कहना हो जो यण् के स्थान पर आदेश हुआ हो अन्य इक् को नहीं तो यह संज्ञा उपयोगी सिद्ध होती है। इसीलिए यण् के स्थान पर हुए इक् आदेश की संप्रसारण संज्ञा की गई।

एच इग्घ्रस्वादेशे 1.1.48 – यह सूत्र ह्रस्व आदेश के विषय में यह नियम बनाता है कि जब एचों को ह्रस्व आदेश विहित किया जाय तो इनके स्थान पर इक् वर्ण ही आदेश हों। इस प्रकार ए के स्थान पर इ, ऐ के स्थान पर इ, ओ के स्थान पर उ, औ के स्थान पर उ आदेश ही होंगे यदि ए, ऐ, ओ, औ को ह्रस्व आदेश विहित किया जाय तो।

षष्ठी स्थानेयोगा 1.1.49 – इस सूत्र का अर्थ है जिस षष्ठी का किसी विशेष सम्बन्ध में प्रयुक्त होना निर्धारित न हो उसे स्थानरूप सम्बन्ध हेतु प्रयुक्त हुई समझना चाहिए – 'अनिर्धारित सम्बन्धविशेषा षष्ठी स्थानेयोगा बोध्या।' – वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, षष्ठीस्थानेयोगा सूत्रवृत्ति।

सम्बन्ध कई प्रकार के हैं। जैसे – स्वस्वामिभाव, जन्यजनकभाव, अवयव–अवयविभाव इत्यादि। इन सभी सम्बन्धों में षष्ठी विभक्ति आती है शब्द का शब्द के साथ तीन प्रकार का सम्बन्ध है– आनन्तर्य, सामीप्य तथा स्थान या प्रसंग।[56] इनमें प्रसङ्ग रूप सम्बन्ध के लिए ही इस व्याकरण शास्त्र में षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

स्थानेऽन्तरतमः 1.1.50 – इस सूत्र का अर्थ है– एक स्थानी के स्थान पर कई आदेशों की प्राप्ति की अवस्था में उन आदेशों में जो स्थानी के सबसे अधिक सदृश हो वह आदेश हो (प्रसङ्गे सति सदृशतमः आदेशः स्यात्। – सिद्धान्त कौमुदी, अच्सन्धि प्रकरणम्, स्थानेऽन्तरतमः–सूत्रवृत्ति।)

सादृश्य चार प्रकार का होता है[57] – स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत, प्रमाणकृत। स्थानकृत साम्य का उदाहरण है–दध्यत्र। यहाँ 'इकोयणचि' द्वारा दधि के इक् इकार के स्थान पर यण् – य, र, ल, व, आदेश प्राप्त होने पर इकार के सादृश स्थान यकार का होने से इ को यकारादेश हुआ। अर्थकृत– क्रोष्टु। यहाँ 'तृज्वत्क्रोष्टुः' सूत्र द्वारा उकारान्त क्रोष्टु शब्द को तृजन्त आदेश प्राप्त होने पर क्रोष्टृ शब्द ही आदेश होता है क्योंकि क्रोष्टु का स्थानी क्रोष्टृ से अर्थकृत साम्य है। गुणकृत (प्रयत्नकृत) साम्य का उदाहरण है– वाग्घरिः। यहाँ वाक्+हरिः) वाग् हरिः इस दशा में हकार को पूर्वसवर्ण आदेश 'झयो होऽन्यतरस्याम्' सू. से प्राप्त होने पर हकार के स्थान में घोषनादसंवारमहाप्राणप्रयत्नवान् घकारादेश ही होता है। क्योंकि हकार का भी घोषनादसंवारमहाप्राण प्रयत्न है। प्रमाणकृत सादृश्य का उदाहरण है 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' सूत्र द्वारा ह्रस्व स्थानी के स्थान पर दीर्घ–ऊकारादेश होगा। उपर्युक्त सूत्र द्वारा एक स्थानी के स्थान पर कई आदेशों की प्राप्ति होने पर सदृशतम आदेश ही किया जाय इस प्रकार– व्यवस्थित होने पर 'इकोयणचि' द्वारा इक् को यणादेश प्राप्त होने पर सुधी+उपास्यः यहाँ ईकार को य, व, र, ल में क्या आदेश किया जाय ऐसा सन्देह नहीं रह जाता क्योंकि तीनों में यकार ही इकार के सर्वाधिक सदृश है अतः ईकार को यकारादेश हो जाता है और सुध् य् उपास्यः = सुध्युपास्यः ऐसा प्रयोग निष्पन्न होता है।

उपर्युक्त चारों प्रकार के सादृश्य में स्थानकृत सादृश्य सर्वाधिक बलवान होता है इसीलिए कहा गया है 'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः' । अर्थात् जहाँ कई प्रकार के आन्तर्य प्राप्त हों वहाँ स्थानकृत आन्तर्य बलवान है, स्थानकृत आन्तर्य ही गृहीत हो । इसीलिए चेता, स्तोता में चिञ्, स्तु को गुण प्राप्त होने पर इकार को एकार तथा उकार को ओकार हो जाता है । गुणसंज्ञक वर्ण तीन हैं अ, ए, ओ । अ का स्थान कण्ठ, ए का कण्ठतालु, ओ का कण्ठोष्ठ है । इ का स्थान तालु है तथा उ का ओष्ठ । ए तथा उ एवं ओ के स्थान सदृश हैं अतएव इ, उ के स्थान पर अकार न होकर क्रमशः ए, ओ आदेश हुए । यहाँ अकार का भी इकार उकार के साथ प्रमाणकृत सादृश्य है किन्तु स्थानकृत सादृश्य न होने से अकारादेश नहीं हो सका ।

उरण् रपरः (1.1.51) – इस सूत्र का अर्थ है – ऋ के स्थान में जो अण् आदेश हो वह रपर ही प्रवृत्त हो । अर्थात् ऋ को विहित अकारादेश रपर होकर अर् इस रूप में आदेश हो, इकारादेश इर्, उकारादेश, उर्, आकारादेश आर् रूप में आदेश हों ।

इससे 'कृष्ण+ऋद्धिः' इस अवस्था में 'आद्‌गुणः' सू. द्वारा प्राप्त गुण एकादेश – अकारादेश रपर होकर 'अर्' इस रूप में प्रवृत्त होगा – कृष्ण् अर् द्धिः=कृष्णर्द्धिः; कृ य (ण्यत्) में वृद्धि प्राप्त होने पर क् आर् य= कार्य्य सु> अम् = कार्य्यम्, कृ तव्य में गुण प्राप्त होने पर क् अर् तव्य = कर्तव्य आदि में अण् कार्य रपर होकर प्रवृत्त हुआ ।

अलोऽन्त्यस्य (1.1.52) – इस सूत्र का अर्थ है षष्ठ्यन्त का उच्चारण कर जहाँ आदेश विधान किया गया हो वहाँ षष्ठ्यन्त निर्दिष्ट के अन्त्य वर्ण को आदेश हो । उदाहरणार्थ – 'त्यदादीनामः' सूत्र द्वारा त्यदादिगणपठित शब्दों को अकारादेश विहित हुआ है । यहाँ 'त्यदादीनाम्' इस षष्ठ्यन्त उच्चरित शब्द के द्वारा निर्दिष्ट त्यद्, तद्, यद् आदि अङ्गों के अन्त्य अवयव को ही यह आदेश होगा ऐसा 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र द्वारा सुस्थिर होता है । इसी प्रकार सूत्र द्वारा इकोयणचि' में 'इकः' इस षष्ठ्यन्त पद के द्वारा निर्दिष्ट सुधी+उपास्यः के ईकार को ही यणादेश होगा । इसी प्रकार 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्रद्वारा विहित लोप 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के बल से संयोगान्त पद के अन्त्य का ही हो ऐसा नियम बनता है । इसीलिए बालमनोरमा टीकाकार वासुदेव दीक्षित ने – स्थाने विधीयमान आदेशः षष्ठीनिर्दिष्टस्य यः अन्त्यः अल् तस्य स्यादित्यर्थः, ऐसा सूत्रार्थ किया है ।

ङिच्च (1.1.53) – यह परिभाषा आदेशों के विषय में ऐसा नियम बनाती है कि जो आदेश ङित् विहित किए गए हों वे अनेकाल् होते हुए भी स्थानी के अन्त्य वर्ण को ही हों सम्पूर्ण शब्द को नहीं ।

अनेकाल्शित्सर्वस्य सूत्र द्वारा अनेकाल् आदेश सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर विहित होंगे किन्तु सभी अनेकाल् आदेश सर्वादेश हो जाएँगे तो अभीष्ट सिद्धि न हो सकेगी अतएव जो अनेकाल् आदेश अन्त्य के स्थान पर हों उनमें ङकार अनुबन्ध जोड़कर अन्तादेश के प्रकरण में 'ङिच्च' सूत्रपाठ कर दिया गया ।

इस प्रकार 'अलोऽन्त्यस्य' एवं 'ङिच्च' द्वारा स्थानी के अन्त्य वर्ण को आदेश हो यह नियम हुआ ।

आदेः परस्य 1.1.54 – इस परिभाषा सूत्र द्वारा आदेश के विषय में यह नियम बना कि पर पद को विहित जो कार्य वह पर के आदि वर्ण के स्थान में करना चाहिए। परस्य यद् विहितं तत् तस्यादेर्बोध्यम्।– सिद्धान्त कौमुदी। इससे 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' द्वारा द्वि अप्, अन्तर् अप् इनमें अप् को ईकारादेश प्राप्त होने पर ईकार अकार को हो या पकार को इस प्रकार का सन्देह उठने पर आलोच्य परिभाषा द्वारा यह स्थिर होता है कि पर को विहित आदेश उसके आद्यवयव के स्थान पर होगा, और तब अकार को ईकारादेश हो द्वि ईप्, अन्तर् ईप> द्वीप, अन्तरीप आदि शब्द बने।

यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' का अपवाद है।

'अनेकाल्शित् सर्वस्य' 1.1.55 – जिस आदेश में अनेक अल् हों तथा जिसका शकार इत्संज्ञक हो वह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में होता है। – यह इस सूत्र का अर्थ है। इससे यह नियम बना कि अनेकाल् आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा और एकाल् आदेश में इत्संज्ञक शकार अनुबन्ध लगा हो तो वह भी सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा।

यह सूत्र भी 'अलोऽन्त्यस्य' का अपवाद है। पर होने से यह 'आदेः परस्य' का भी बाधक है 'अस्तेर्भूः' सूत्र में अस् को भू आदेश विहित है यह आदेश अनेकाल् है अतएव आलोच्य परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण अस् के स्थान में होता है। 'इदम इश्' सूत्र द्वारा इदम् के स्थान पर इश् विहित हुआ। इश् शित् है अतएव सम्पूर्ण इदम् के स्थान पर आदेश होता है। 'अतो भिस ऐस्' यहाँ अकार से परे भिस् को ऐस् आदेश विहित किया गया है। पर को आदेश विहित होने से यहाँ 'आदेः परस्य' सूत्र की प्राप्ति होती है और भिस् के 'भ्' के स्थान पर ऐस् आदेश प्राप्त होता है तब ऐस् के अनेकाल् होने से 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' सूत्र द्वारा सम्पूर्ण भिस् को ऐस् आदेश प्राप्त होता है। यहाँ परत्वात् 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' 'आदेः परस्य' को बाध लेगा और भिस् के स्थान पर ऐस् सर्वादेश हो जायगा। इसी प्रकार 'अष्टाभ्यः औश्' सूत्रविहित जस्, शस् के स्थान पर औश् आदेश भी सम्पूर्ण जस्, शस् के स्थान पर होता है जस्, शस् के आदि अकार के स्थान पर नहीं।

इस परिभाषा सूत्र में शित्ग्रहण रूप ज्ञापक से एक परिभाषा सिद्ध की गई है– 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' अर्थात् – अनुबन्धकृत अनेकाल्त्व नहीं होता। यदि ऐसा न होता तो इश्, अश् इत्यादि के अनेकाल् होने से ही सर्वादेश प्राप्त था सूत्र में 'शित्' कहने की कोई आवश्यकता न थी किन्तु आचार्य ने 'शित्' ग्रहण किया जो यह ज्ञापित करता है कि अनुबन्ध के कारण आदेश अनेकाल् नहीं माना जाता। शित्वात् सर्वादेश का उदाहरण काशिकाकार सर्वे, कुण्डानि इत्यादि देते हैं, दूसरी ओर सिद्धान्त कौमुदीकार सर्वे शब्द की सिद्धि की व्याख्या करते हुए कहते हैं– 'अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः'। अर्थात् 'जसः शी' सूत्रविहित 'शी' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण जस् के स्थान पर हुआ। उद्योतकार नागेश का कहना है कि नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वं परिभाषा मान लेने पर 'जसः शी' आदि में शित्वात् सर्वादेश मानना चाहिए। इस प्रकार शि एवं शी आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होंगे या शित् होने से इस विषय में वैयाकरणों में मतभेद है।

यहाँ शकार अनुबन्धवाले आदेशों एवं शकार की इत्संज्ञा करने वाले सूत्रों का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः सिद्धान्तकौमुदीकार का मत ही उचित है ।यह शकार अनुबन्ध आदेशों का आद्यवयव भी है यथा- शि, शी तथा अन्त्य अवयव भी यथा-इश्, अश् औश् । 'हलन्त्यम्' सूत्र द्वारा उपदेश में अन्त्य हल् की इत्संज्ञा होती है। आदेश भी उपदेश हैं।[58] और शकार हल् है अतः इस सूत्र द्वारा आदेश के अन्त्य शकार की इत्संज्ञा हो जाती है। अब आदेशों के आदि शकार को लेते हैं। ऐसा कोई सूत्र नहीं जो आदेश के आदि अवयवभूत शकार की इत्संज्ञा करता हो। प्रत्यय (तद्धित भिन्न प्रत्यय) के आदि शकार की इत्संज्ञा[59] विषयक शास्त्र अवश्य है किन्तु आदेश प्रत्यय तो है नहीं प्रत्यय तो यह तब होगा जब किसी प्रत्यय के स्थान पर आदेश कर दिया जाय और स्थानिवद्भाव से प्रत्यय रूप बन जाय। अतएव शि, शी आदेश वस्तुतः शित् हैं ही नहीं क्योंकि इनके शकार की इत्संज्ञा सिद्ध नहीं है कि इनको शित् मानकर सर्वादेश करने की सोचें। इस दशा में इनका सर्वादेश अनेकाल्त्वेन होता है यही मानना उचित है। इस स्थिति में उद्योतकार नागेश का यह कथन कि 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' परिभाषा ज्ञापित हो जाने के बाद 'जसः शी' में शित्वात् सर्वादेश मानना चाहिए ठीक नहीं लगता क्योंकि 'शी' आदेश में शकार के इत्संज्ञा के योग्य न होने से इसका अनुबन्ध होना ही उपपन्न नहीं है तो इसे शित् कहेंगे कैसे? जब इसे शित्व प्राप्त होगा उसके पहले ही इसका सर्वादेश करना पड़ेगा और यह सर्वादेश अनेकाल्त्वेन ही हो सकेगा। अश्, इश् औश् इत्यादि का तो शित्वेन ही सर्वादेश होगा अनेकाल्त्वेन नहीं। कारण यह है कि 'हलन्त्यम्' द्वारा इनकी इत्संज्ञा इन्हें उपदेश काल में ही अर्थात् आदेश किए जाने के पहले ही प्राप्त हो जाती है अतः इनका शित् होना स्पष्ट है ।

नागेश के अनुसार शी, शि इत्यादि का नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् के ज्ञापित होने के बाद शित् होने से सर्वादेश होना स्वीकार करने पर एक और कठिनाई उत्पन्न होती है। डा, णल् आदि आदेश भी तब एकाल् ही होंगे 'अवर्णस्त्रसावनञः' द्वारा विहित तृ में जिस प्रकार अनुबन्धकृत अनेकाल्त्व न होने से तृ (तृ>त्=अनुबन्ध लोप होकर) का अन्तादेश होता है उसी प्रकार डा, णल् आदेश भी एकाल् होने से अन्त्य के स्थान पर होने लगेंगे सम्पूर्ण प्रत्यय के स्थान पर नहीं। डा, णल् आदेश में तो ऐसा कोई लिंग नहीं (जैसा शी, शि में है) जिसके आधार पर सर्वादेश हो सके। इस दशा में डा, णल् सर्वादेश तभी होंगे जब इन्हें अनेकाल् मानें। सर्वादेश होने के बाद इनकी प्रत्यय संज्ञा होगी और ड्, ण् इत्यादि 'चुटू' सूत्र से इत्संज्ञक हो सकेंगे तथा अनुबंध लोप हो जायगा। अतएव इन्हें अनेकाल् मानकर ही इनका सर्वादेश होना चाहिए।

भाष्यकार के अनुसार शि, शी के शित्करण का अन्य प्रयोजन है वह है- शि सर्वनामस्थानम्', 'विभाषाङि-श्योः' इन सूत्रों में शि, शी शब्दों का ग्रहण हो सके अतः 'इदम् इश्' 'अष्टाभ्यः औश्' की तरह इनका शित्करण भी सर्वादेश प्रयोजन के सिद्ध्यर्थ ही है अन्यथा शित्करण व्यर्थ होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता।

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ 1.1.56 - यह अतिदेश सूत्र है। इस सूत्र द्वारा आदेश को स्थानिवद्भाव का अतिदेश होता है। सूत्र का अर्थ है- आदेश स्थानी के समान हो (स्थानिधर्मक हो), किन्तु स्थानी संबंधी अलाश्रयविधि में न हो (अर्थात्

स्थानी यदि एकाल् हो तो उस अल् का आश्रयण कर प्राप्त होने वाली विधि में तथा यदि अनेकाल् हो तो उसके अवयव भूत अल् का आश्रयण कर प्राप्त होने वाली विधि के विषय में स्थानिवद्भाव न हो।)

राम ङे.– इस दशा में 'ङेर्यः' सूत्र से ङि. को य आदेश हो गया–राम य। अब 'सुपि च' से अदन्त अंग को दीर्घ करना है किन्तु 'य' आदेश सुप् प्रत्यय तो है नहीं अतः दीर्घकैसे हो इस विषय में प्रकृत सूत्र सुप् 'ङे.' के स्थान पर हुए 'य' को स्थानिवद्भाव से 'ङे.' के धर्म सुप्त्व। को प्राप्ति कराता है और स्थानिवद्भाव से सुप् होकर य भी अपने अदन्त अंङ्ग को दीर्घत्व प्राप्त कराता है– रामा य = रामाय इस प्रकार का शब्द सिद्ध होता है। 'अनल्विधौ' का तात्पर्य यह है कि अलाश्रय विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता। अल् प्रत्याहार में सभी वर्ण आ जाते हैं अतएव स्थानी सम्बन्धी वर्णाश्रय विधि को करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता । उदा.–

व्यूढोरस्केन यहाँ सकार विसर्ग के स्थान में हुआ है। विसर्ग अट् है। जिस प्रकार विसर्ग के अट् होने से उसके व्यवधान में 'अट्कुप्वाङ्.नुम्व्यवायेऽपि' से नकार को उरः केण आदि स्थल में णत्व हुआ है उसी प्रकार विसर्गस्थानिक सकार में भी स्थानी का धर्म अट्त्व लाकर उसके व्यवधान में भी णकार की प्राप्ति होती है परन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि णत्वविधि में 'अड्व्यवाय' रूप से विसर्ग रूप एक वर्ण का आश्रयण किया गया है अतः इस प्रसंग में णत्वविधि स्थानी सम्बन्धी अलाश्रयविधि है जिसमें स्थानिवद्भाव नहीं होता। इसी प्रकार 'दिव औत्' सूत्र से वकार के स्थान पर औकारादेश होकर दि और स् (सु) इस दशा में 'इकोयणचि' से यण् हो) द्यौ स् ऐसा रूप बना, अब औकार को स्थानिवद्भाव से स्थानी वकार का धर्म हल्त्व लाने पर 'हल्ङ्.याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' सूत्र से सकार का लोप प्राप्त होता है पर हलङ्.यादिविधि में हल् वकार रूपी एक वर्ण के आश्रयण से यह अल् विधि है अतः यहाँ स्थानिवद्भावातिदेश संभव नहीं अतः सकारलोप नहीं होता। इस प्रकार अभीष्ट 'द्यौः' शब्द सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि स्थानी के हट जाने पर उसके स्थान पर अन्य शब्द के आ जाने पर स्थानिनिमित्तक कार्य की प्राप्ति संभव न होती और रूपसिद्धि में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है तथा आदेशरूपी प्रकृत्यन्तर या प्रत्ययान्तर के आ जाने पर भी स्थानिनिमित्तक कार्य प्राप्त हो जाते हैं।

इस सूत्र में भाष्यकार ने एक बहुत उपयोगी परिभाषा को स्वीकार किया है। परिभाषा है – 'एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति।' शब्द के एकदेश में आदेश होने से भी शब्द को वही शब्द मानकर कार्य सम्भव हो जाता है । जिस प्रकार अस् को भू आदेश हो जाने पर प्रकृति बदल जाती है उसी प्रकार लोट् में ति के एकदेश इकार को उकार आदेश हो जाने पर तु को अन्य शब्द समझना चाहिए ति नहीं ऐसा विचार ठीक नहीं क्योंकि एकदेशविकृत शब्द अन्यशब्द जैसा नहीं हो जाता जिस प्रकार कुत्ते की पूँछ कट जाय तो वह घोड़ा या गधा नहीं बन जाता. कुत्ता ही रह जाता है। इसी प्रकार ति के (तिप्) एकदेश में विकार होने पर अर्थात् तु होने पर भी वह तिङ्. तिप् ही माना जायगा। इससे भवतु भवन्तु भी पदसंज्ञक होंगे।

'एकदेशविकृत.' परिभाषा मानने पर शब्दानित्यत्व दोष उठ खड़ा हुआ और

वैयाकरणों द्वारा मान्य सिद्धान्त 'शब्द नित्य है' अनुपपन्न होने लगा जिसके परिहार के लिए बुद्धिविपरिणामवाद का आश्रयण किया गया इस सिद्धान्त द्वारा यह निरूपित किया गया कि बुद्धि का परिवर्तन मात्र ही स्थानी-आदेशभाव है। शब्द उसी प्रकार व्यवस्थित रहते हैं हमारी बुद्धि ही स्थानी या आदेशरूप से परिवर्तित होती है।

अचः परस्मिन्पूर्वविधौ (1.1.57) – स्थानिवदादेशो. सूत्र स्थानी संबंधी अलाश्रय विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध करता है। प्रकृत सूत्र स्थानी सम्बन्धी अलाश्रय विधि में भी स्थानिवद्भाव का अतिदेश करता है। सूत्र का अर्थ है – परनिमित्त मानकर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह पूर्व को कार्य करने में स्थानिवद् होता है (अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद् भवति। अचः परस्मिन्. सूत्रभाष्य, महाभाष्य)। उदा. – 'वव्रश्च' इस उदाहरण में व्रश्च् से लिट् तिप् णल्, द्वित्व, अभ्यास को सम्प्रसारण हो, पूर्वरूप हो वृ व्रश्च ऐसी दशा हुई। अभ्यास के ऋकार को 'उरत्' सूत्र से अत्, रपर, हलादिशेष हो व व्रश्च बना। अभ्यास के वकार को सम्प्रसारण प्राप्त होने पर वकारोत्तरवर्ती अकार को स्थानिवद्भाव से ऋकार – सम्प्रसारण मानकर 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र से सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है।

न पदान्त द्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घ-जश्चरविधिषु (1.1.58)– यह सूत्र अल् विधि में स्थानिवद्भाव के अतिदेश के निषेध के सम्बन्ध में है। सूत्रार्थ है पदान्त कार्य में, द्विर्वचन कार्य में (द्वित्व में) वरच् प्रत्यय परे रहते, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश्, चर् आदि करने में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् नहीं होता।

द्विर्वचनेऽचि 1.1.59– इस सूत्र के अर्थ में पाँच पक्ष संभव हैं–60

(1) अच् परे रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है।

(2) अजादि प्रत्यय परे रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है।

(3) द्वित्व निमित्तक अच् परे रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह स्थानिवत् होता है।

(4) द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहने अच् के स्थान में आदेश का निषेध होता है; अर्थात् आदेश नहीं होता।

(5) द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में ही स्थानिवत् होता है उस के बाद नहीं। या– द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहते द्वित्व करने तक ही अच् के स्थान में आदेश नहीं होता। उसके बाद हो जाता है। इनमें पाँचवाँ पक्ष ही निर्दोष होने से स्वीकार किया गया है।61 यह सूत्र द्वित्व के संबंध में स्थानिवद्भाव के लिए नियम बनाता है । इस सूत्र से विधीयमान अतिदेश कार्यातिदेश नहीं अपितु रूपातिदेश है ऐसा 'अच्ग्रहणं तु ज्ञापकं रूपस्थानिवद्भावस्य इस वार्तिक द्वारा स्पष्ट है।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य 1.1.66 – इस सूत्र का अर्थ है सप्तम्यन्त पद का उच्चारण कर जिस कार्य का विधान किया जाता है, वह कार्य वर्णान्तर से

अव्यवहित – व्यवधानरहित पूर्व वर्ण के स्थान में होता है। इससे यह निर्धारित हुआ कि आदेश विधायक सूत्रों में जो सप्तम्यन्त पद होगा उससे अव्यवहित पूर्व के स्थान में आदेश होगा। यथा 'इकोयणचि' इस सूत्र में 'अचि' यह सप्तम्यन्त है अतः अच् से अव्यवहित पूर्व जो इक् उसके स्थान में यण् आदेश होगा। इससे सुधी+उपास्यः यहाँ अच् से अव्यवहित पूर्व इक्, उपास्यः के उकार से पूर्व का ईकार है अतः इस ईकार को ही यणादेश प्राप्त होता है।

तस्मादित्युत्तरस्य 1.1.67 – सूत्र में पंचम्यन्त पद का उच्चारण कर जिस कार्य का विधान किया गया हो, वह कार्य उस पंचम्यन्त के द्वारा बोधित वर्ण से अव्यवहित परवर्ण के स्थान में हो ऐसा इस सूत्र का अर्थ है। इस सूत्र द्वारा आदेश के लिए ऐसा नियम बना कि आदेश विधायक सूत्र में जो पंचम्यन्त पद हो उसके द्वारा बोध्य वर्ण अथवा पद (उदाहरण, प्रयोग आदि में) से व्यवधान रहित पर वर्ण को आदेश होगा। इससे 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इस सूत्र में पंचम्यन्त पद उद् से अव्यवहित पर स्था, स्तम्भ के स्थान में पूर्वसवर्ण होगा। 'आदेः परस्य' के नियम से यह पूर्वसवर्ण सकार को होगा। इससे उद्+स्थानम्, उद्+स्तम्भनम् इत्यादि के सकार को पूर्व दकार का सवर्ण थकारादेश हो गया – उद् थ् थानम्, उद् थ् तम्भनम्।

यथासंख्यमनुदेशः समानाम् 1.3.10 – इस सूत्र का अर्थ है समसंबंधी विधि यथासंख्य होती है अर्थात् यदि उद्देश्य तथा प्रतिनिर्देश्य (स्थानी तथा आदेश) की संख्या समान हो तो वहाँ पर आदेश क्रम से हों– प्रथम स्थानी को प्रथम आदेश, द्वितीय स्थानी को द्वितीय आदेश इत्यादि। इससे 'एचोऽयवायावः' सूत्र विहित आदेश अय्, अव्, आय्, आव् आदि क्रम से ए, ओ, ऐ, औ– इनके स्थान पर होते हैं।

ये सभी सूत्र आदेश एवं आदेश कार्य के सम्बन्ध में विभिन्न नियम बनाते हैं। इन नियमों के द्वारा ही हमें यह निश्चय हो पाता है कि आदेश का स्थानी कौन है, आदेश का स्थानी कितना है। किस स्थानी के स्थान पर क्या आदेश हो, स्थानी को प्राप्त कार्य आदेश को भी हो सकता है। इन संज्ञासूत्रों, परिभाषासूत्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य संज्ञासूत्र भी आदेशविधि के सम्बन्ध में विशेष महत्वपूर्ण हैं क्योंकि आदेश विधायक सूत्रों में इनके द्वारा की गई संज्ञाओं का बहुलता से प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए गुण, वृद्धि, सवर्ण, टि, उपधा इत्यादि संज्ञाओं का ज्ञान अत्यावश्यक है क्योंकि गुण हो, वृद्धि हो, सवर्ण हो, पूर्वसवर्ण हो, परसवर्ण हो, टि के स्थान में आदेश हो, उपधा ह्रस्व हो इत्यादि प्रकार के आदेशविधान बड़ी संख्या में दृष्ट होते हैं। इनमें भी गुण, वृद्धि एवं सवर्ण संज्ञाएँ तो ऐसा लगता है मानों आदेशविधि में प्रयोग के लिए ही हैं आदेश विधान में इनका जितना प्रयोग किया गया है उतना अन्य विधि में नहीं। इनके अतिरिक्त धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, अङ्ग, प्रगृह्य, पद, अभ्यास आदि अष्टाध्यायी में प्राप्त होने वाली जितनी भी संज्ञाएँ हैं उनमें से अधिकांशतः आदेशविधायक सूत्रों में प्रयुक्त हुई हैं। उनका विवेचन करने में विषय अत्यन्त विस्तृत हो जायगा अतः कुछ ऐसी संज्ञाओं एवं परिभाषाओं का ही यहाँ विवेचन किया गया जो आदेशविधि में अत्यन्त उपकारक हैं। यह अध्याय परिचयात्मक प्रकृति का है। इसमें आदेश शब्द की व्युत्पत्ति, उसके अर्थ, आदेशसूत्र

का अर्थ, आदेश के प्रकार, आदेश में जुड़ने वाले अनुबन्ध तथा उनके प्रयोजन इत्यादि का विवेचन किया गया। आदेश के स्वरूप को स्पष्ट करने के क्रम में आदेश से सम्बन्धित कुछ प्रमुख सिद्धान्तों एवं सूत्रों का वर्णन करना आवश्यक होने से उन्हें भी इस अध्याय में सम्मिलित किया गया। आदेश की कुछ सजातीय विधियों से इसका साम्य वैषम्य निरूपण भी इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का एक प्रयास है। आगे के अध्यायों में आदेशसूत्रों का विवेचन करना है। इस समीक्षात्मक विवेचन को प्रस्तुत करने के पूर्व इसी अध्याय में अष्टाध्यायी में उपदिष्ट आदेशों का अष्टाध्यायी के अध्याय पादक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण तथा शोध प्रबन्ध में सुविधा पूर्वक विवेचन करने की दृष्टि से किए गए आदेशों के वर्गीकरण को स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

अष्टाध्यायी में हम प्रकरण-व्यवस्था नहीं कर सकते। जहाँ प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में संज्ञा एवं परिभाषा संबंधी सूत्र उपदिष्ट हुए हैं वहीं अष्टम अध्याय में भी संज्ञासूत्र उपलब्ध हैं। इसी प्रकार अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय से लेकर अष्टम अध्याय तक सभी अध्यायों के विभिन्न पादों में आदेश विधायक सूत्र उपलब्ध होते हैं अतएव अष्टाध्यायी में आदेश प्रकरण जैसे किसी प्रकरण की व्यवस्था नहीं हो सकती। इतना अवश्य है कि किसी अध्याय के किसी पाद में आदेश विधायक सूत्र बहुत हैं किसी में कम हैं तो किसी में एक भी नहीं है। यदि इन सूत्रों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों सभी आदेशसूत्र एक ही अध्याय में नहीं रखे गए और भिन्न भिन्न अध्यायों के विभिन्न पादों में सन्निविष्ट किए गए। वस्तुतः विभिन्न अध्यायों के भिन्न-भिन्न पादों में उपदिष्ट आदेशसूत्रों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। जिनके कारणवश इनको इस प्रकार भिन्न-भिन्न अध्यायों के भिन्न पादों में रखा गया। उदाहरण के लिए द्वितीय एवं षष्ठ अध्यायों में आर्धधातुक विषयक धात्वादेश उपदिष्ट हुए हैं। इनका एकत्र उपदेश क्यों नहीं किया गया इसका उत्तर यह है कि षष्ठाध्यायगत आर्धधातुकीय सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट कार्य के लिए यह आवश्यक है कि आर्धधातुक प्रत्यय वस्तुतः अंङ्ग के पर में उपस्थित रहें क्योंकि इस अध्याय के आर्धधातुके 6.4.46 सूत्र में जो सप्तमी है वह परसप्तमी है। द्वितीय अध्याय में जो आर्धधातुके 2.4.34 सूत्र है वह विषयसप्तमी है अर्थात् इस अध्याय में जो कार्य विहित हुए हैं उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि अङ्ग से परे आर्धधातुक प्रत्यय विद्यमान ही हो। भविष्य में आर्धधातुक प्रत्ययों के आने का विषय होने में भी ये आदेश होते हैं। इनमें इसी भेद या वैशिष्ट्य के कारण इनका एकत्र उपदेश नहीं किया गया। अष्टाध्यायी के प्रथम से लेकर अष्टम अध्याय तक उपन्यस्त आदेश सूत्रों का अष्टाध्यायी के अध्याय-पाद-क्रमानुसार संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

प्रथम अध्याय- इस अध्याय के प्रथम पाद में आदेश विषयिनी संज्ञाएँ तथा परिभाषाएँ उपदिष्ट हुई हैं। 'इकोगुणवृद्धी' 'षष्ठी स्थानेयोगा,' 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य,' 'तस्मादित्युत्तरस्य,' 'अलोऽन्त्यस्य,' 'आदेः परस्य,' 'अनेकाल्शित्सर्वस्य,' 'ङि.च्च,' 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' इत्यादि सूत्रों का आदेश क्रिया में बड़ा महत्व है। वृद्धि, गुण, उपधा, सवर्ण इत्यादि आदेश के लिए अत्यन्त उपयोगी संज्ञाएँ प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में ही सन्निविष्ट हुई हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में ही अष्टाध्यायी का एवं इस अध्याय का प्रथम आदेश -विधायक सूत्र- उञः ऊँ 1.1.16 उपदिष्ट हुआ है।

इस अध्याय के शेष तीन पादों में कोई आदेश विधायक सूत्र नहीं प्राप्त होता।

द्वितीय अध्याय- इस अध्याय के प्रथम तीन पादों में आदेश विधायक सूत्र नहीं मिलते। चतुर्थ पाद में कुल 29 सूत्र हैं जो आदेशों का विधान करते हैं। इनमें 'इदमोऽन्वा.' 'एतदस्त्रतसो.' तथा द्वितीयाटौस्स्वेनः - ये तीन सूत्र अन्वादेश विषय में आदेश विधान करते हैं पाणिनि ने अन्वादेश को विशेष पद की तरह पढ़ा है। क्योंकि अन्वादेशजन्य पद राम आदि पदसामान्य की तरह नहीं हैं। अन्वादेशजन्य पद का अर्थ अन्य-पदार्थ सापेक्ष है जबकि रामादि का अर्थ स्वप्रतिष्ठ है। समास के समान (एकाधिक बोध से सम्पृक्त होने के कारण) अन्वादेश भी एक विशिष्ट पद है (क्योंकि बोधान्तर सापेक्ष है)। इसीलिए द्वितीय अध्याय में समास, कारकादि सम्बन्धी सूत्रोपदेशके बाद इसका भी पाठ कर दिया गया । अन्वादेश विषयक आदेश विधान के बाद 'आर्धधातुके' 2.4.35 इस सूत्र के अधिकार में आर्धधातुक विषय में धातु प्रकृति के स्थान पर होने वाले आदेशों के विधायक सूत्र उपन्यस्त हुए हैं। इन आर्धधातुक विषय में प्राप्त होने वाले आदेशों की विशेषता यह है कि इनके लिए आर्धधातुक प्रत्यय का परे होना अनिवार्य नहीं अपितु आर्धधातुक विवक्षा में भी (भविष्य में आर्धधातुक प्रत्यय होने की दशा में) ये आदेश धातु प्रकृति को हो जाते हैं। इनकी दूसरी विशेषता यह है कि इनमें से अधिकांश आदेश धातु के रूप में भी प्राप्त होते हैं यथा - अस् को भू, इण् को गा, इङ् को गाङ्, अज को वी आदि धातु रूप में पठित हुए भी प्राप्त होते हैं (धातुपाठ में गा, गाङ्, भू, वी, ख्या इत्यादि धातुएँ भी पठित हैं।) डॉ॰ रामशंकर भट्टाचार्य के अनुसार इस प्रकरण का आदेश यथार्थ आदेश नहीं है क्योंकि जितनी धातुएँ आदिष्ट हुई हैं वे सब स्वतन्त्र धातु हैं अन्य अध्यायों के आदेशों में यह बात सर्वतोभाव से घटती नहीं है संभवतः प्रक्रियालाघव हेतु पाणिनी ने दो धातुओं में स्थान्यादेशभाव की कल्पना की है।[62]

इस अध्याय के आदेशविधायक अन्तिम चार सूत्र आर्धधातुक विषय में होनेवाले प्रकृत्यादेश से भिन्न हैं। इनमें 'आगस्त्यकौण्डि.' सूत्र गोत्रप्रत्ययान्त आगस्त्य, कौण्डिन्य को क्रमशः अगस्ति, कुण्डिनच् आदेश विहित करता है। 'नाव्ययीभावादतो.' सू. 2.4.83 सुप् के स्थान पर अम् आदेश तथा 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' सू. भी तृतीया एवं सप्तमी विभक्ति प्रत्यय को बहुलता से अमादेश विहित करता है । इस अध्याय का आदेशविधानपरक अन्तिम सूत्र है- 'लुटः प्रथमस्य डा रौ रसः' 2.4.85। यह सूत्र लादेश संबंधी है किन्तु तृतीय अध्याय के प्रत्ययाधिकार में इस लिए नहीं पठित हुआ कि इस अध्याय में पठित होने से यह आदेश प्रत्ययसंज्ञक होता इससे 'ड्' की इत्संज्ञा हो जाती तो अनुबन्ध होने से डा का अनेकाल्त्व संभव न होता (नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्) तब इसका सर्वादेशत्व सिद्ध न होता और बिना सर्वादेश किए 'भविता' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि दुष्कर थी अतः प्रक्रिया लाघव हेतु इसे प्रत्ययाधिकार से ठीक पहले द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद में पढ़ दिया गया।

तृतीय अध्याय- इस अध्याय में आदेशसूत्रों की प्रचुरता है। प्रथम से लेकर चतुर्थ अध्याय तक आदेशसूत्र प्राप्त होते हैं। यह अध्याय शब्दों की प्रकृति प्रत्ययात्मक विश्लेषण प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्ययों के उपदेश से प्रारम्भ हुआ है अतएव सम्पूर्ण अध्याय में बड़ी मात्रा में आदेशविधायक सूत्रों का सन्निविष्ट होना स्वाभाविक है।

इनका पादक्रमानुसार अतिसंक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है।

प्रथम पाद– इस पाद में सर्वप्रथम विकरणों के स्थान पर होने वाले प्रत्ययादेश पठित हैं उदा. च्लि को सिच् आदेश, च्लि को चङ् आदेश, च्लि को अङ् आदेश आदि इसके अतिरिक्त हन् को तकार अन्तादेश, रवन् को ईकार अन्तादेश इत्यादि विधायक शास्त्र भी इस पाद में सन्निविष्ट हैं।

द्वितीय पाद– इस पाद में लिट् के स्थान पर कानच्, क्वसु;लट् के स्थान में शतृ, शानच्, विधायक सूत्र सन्निविष्ट हुए हैं। इस पाद में कई निपातन सूत्र भी हैं जिनमें आदेश निपातन भी देखा गया है।

तृतीय पाद– इस पाद के आदेश शब्दों के प्रकृत्यंश को आदेश विधान संबंधी हैं यथा – हन् को वध, घन, घ आदि। ये आदेश प्रत्ययविशेष के साथ विहित हैं अतएव तत्तत् प्रत्यय के सन्नियोग में ही होंगे उदा.– 'परौ घः' सूत्र में परिपूर्वक हन धातु से करण कारक में अप् प्रत्यय तथा अप् प्रत्यय के सन्नियोग में हन को 'घ' आदेश होगा।

चतुर्थ पाद– तृतीय अध्याय के इस पाद में अन्य पादों की तुलना में अधिक आदेशसूत्र हैं। इस पाद में लादेश विधायक 'तिप्तस्झि.' (3.4.78) सूत्र है जो लकारों के स्थान पर नौ परस्मैपद एवं नौ आत्मनेपद के प्रत्यय विहित करता है। सुप् एवं तिङ् प्रत्ययों में यह बड़ा भेद है कि सुप् तो साक्षात् प्रकृति (प्रातिपदिक) से हो जाते हैं किन्तु तिङ् धातु प्रकृति से विहित लट्., लिट्, लुट् आदि लकारों के स्थान पर आदेश होने वाले प्रत्यय हैं। इस पाद में क्रियासमभिहार एवं क्रियासमुच्चय में लट् लकार एवं लट् के त, ध्वम् को हि, स्व आदेश विधायक शास्त्र भी उपन्यस्त हैं। आदेश सूत्रों का विषय है अष्टादश लादेशों में सम्मिलित आदेशों के स्थान पर विभिन्न लादेश विहित करना। इसमें टित् लकारों के स्थान पर होने वाले आदेश पहले और ङित् लकारों के स्थान पर होने वाले आदेश उनसे बाद में कहे गए हैं।

चतुर्थ अध्याय––तृतीय अध्याय में धातु, धातु से होने वाले प्रत्यय तथा धातु एवं प्रत्यय के मध्य अनुपतनशील विकरणों से संबंधित आदेश विधान हुआ है। चतुर्थ अध्याय में प्रातिपदिक एवं प्रातिपदिक से होने वाले सुप् तद्धित एवं स्त्रीप्रत्यय का विधान करने वाले शास्त्र उपदिष्ट हुए हैं अतएव इस अध्याय के आदेशसूत्र भी एतद्विषयक ही हैं। इस अध्याय में आदेशविधायक सूत्रों की संख्या अत्यल्प है। प्रथम पाद में कुल 13, द्वितीय पाद में 2 तथा तृतीय पाद में 3 सूत्र हैं जिनके द्वारा आदेश विहित किए गए हैं। इन आदेशविधायक शास्त्रों में अधिकांश में प्रत्यय एवं आदेश दोनों साथ-साथ विहित हुए हैं।

पंचम अध्याय–– इस अध्याय में छ, ठक् यत् आदि तद्धित प्रत्यय, तसिल् आदि स्वार्थिक प्रत्यय तथा समासान्त प्रत्ययों का उपदेश किया गया है। इस अध्याय के आदेश प्रकृतिस्थानिक एवं प्रत्ययस्थानिक दोनों ही प्रकार के हैं। इस अध्याय के प्रथम पाद में 1 सूत्र, द्वितीय पाद में 4 सूत्र तथा तृतीय पाद में 14 सूत्र तथा चतुर्थ पाद में 17 सूत्र ऐसे हैं जो आदेशविधान करते हैं। इस अध्याय में प्रकृत्यादेश, प्रत्ययादेश, समासान्त आदेश इत्यादि विहित हुए हैं। इस अध्याय में एक सूत्र है 'एतदोऽन्' यह सूत्र काशिकावृत्ति में 'एतदोऽश्' रूप में प्राप्त होता है किन्तु

पाणिनिकृत सूत्र 'एतदोऽन्' ही है क्योंकि भाष्य-सम्मत है। समासान्त प्रत्यय भी स्वार्थिक प्रत्यय हैं (समासान्ता अपि स्वार्थिकाः- महाभाष्य, ङ्याप्प्रातिपदिकात् सूत्रभाष्य 4.1.1.) अतः स्वार्थिक तद्धित प्रत्ययों के साथ इनका भी पाठ हुआ है। समासान्त प्रत्यय विधान क्रम में समासान्त आदेश भी कहे गए हैं।

षष्ठ अध्याय--इस अध्याय में आदेशसूत्रों की संख्या बहुत अधिक है। इस अध्याय में द्वित्व संबंधी शास्त्र तथा सम्प्रसारण, एकादेश, ह्रस्व विधान, उपधादीर्घविधान तथा समास के पूर्व या उत्तर पद को होने वाले आदेश विधान संबंधी सूत्र उपदिष्ट हुए हैं। इस अध्याय में धातु के स्थान पर होने वाले प्रकृत्यादेश भी पठित हुए हैं। ये आदेशविधान भिन्न प्रकार के हैं एवं इनकी संख्या बहुत है अतः प्रत्येक पाद में प्राप्त होने वाले आदेशों का अतिसंक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है:-

प्रथम पाद--यह पाद धातुसम्बन्धी अभ्यास द्वित्व निरूपणपूर्वक प्रारंभ हुआ है। द्वित्व के पश्चात् सम्प्रसारण एवं उसके बाद आत्व विधि (आकारादेश विधान) संबंधी सूत्रोपदेश किया गया है। सूत्रों का क्रम विप्रतिषेध नियम के अनुसार है। इस पाद में 'संहितायाम्' 6.1.72 सूत्र के अधिकार में सन्धिसम्बन्धी वार्ण विकारों का भी उपदेश हुआ है। यथा इक् को यण्; ए, ओ, ऐ, औ को क्रमशः अय्, अव् आय् आव्, एकादेश-पूर्वसवर्ण, परसवर्ण, पूर्वरूप, पररूप, वृद्धि, गुण, दीर्घ इत्यादि।

द्वितीय पाद--इस पाद में आदेशविधायक शास्त्र नहीं है।

तृतीय पाद-- इस पाद में समास से संबंधित आदेश विहित हैं। ये आदेश समास के पूर्वपद को विहित हुए हैं। कुछ आदेश समास के पूर्वपद के स्थान पर विहित किए गएहैं कुछ इसके अन्तावयव को। जैसे- आजि, आति, ग आदि उत्तरपद हों और पाद पूर्वपद हो तो पाद को पद आदेश, उत्तरपद परे रहते उषस् शब्द को उषासा आदेश तथा समानाधिकरण एवं जातीय-प्रत्यय परे रहते महत् को आकार अन्तादेश, द्वि, अष्टन् को संख्या उत्तरपद रहते आकारादेश इत्यादि। अन्तादेश में ह्रस्व, दीर्घ एवं आत्व विहित हुए हैं। इस पाद के कुछ सूत्र प्रत्यय विशेष के परे रहते प्रकृत्यंश को आदेश विधान करते हैं किन्तु अधिकांश सूत्र सामासिक-पद-संबंधी आदेश विधान करते हैं।

चतुर्थ पाद--इस पाद का प्रथम सूत्र है 'अङ्गस्य'। यह अधिकार सूत्र है तथा पादान्त तक इसका अधिकार है अतएव जितने भी कार्य इस पाद के सूत्रों द्वारा सिद्ध होंगे वे प्रत्यय परे रहते अंग को ही होंगे। इस प्रकार इस पाद के आदेशसूत्र अङ्ग सम्बन्धी आदेश विधान करते हैं। अङ्ग को इकार, आकार, एकार, ईकार, अकार, ह्रस्व, दीर्घ, आदि आदेश या अन्तादेश, उपधा-दीर्घ आदि इस पाद के आदेशसूत्रों का विषय हैं। षष्ठ अध्याय के इस पाद में आदेशसूत्रों की संख्या अन्य विधि विधायक सूत्रों की अपेक्षा बहुत अधिक है। इन सूत्रों द्वारा विधेय आदेश एकाल् प्रकृति के हैं। इस पाद में असिद्धवद्भाव संबंधी एक सूत्र है- असिद्धवदत्राभात् 6.4.22। इस सूत्र का अधिकार पादान्त तक है। इस सूत्र से पादान्त तक के सूत्र 'आभीयशास्त्र' कहे जाते हैं। सूत्र का अर्थ है समानाश्रय कार्य करने में आभीयशास्त्र एक दूसरे के प्रति असिद्ध के समान हो जाते हैं। जैसे-

'जहि' – इस प्रयोग में हन् से लोट् सम्बन्धी सिप्, शप् विकरण, शप् का लोप हो, सिप् को हि आदेश हो, हन् हि ऐसी स्थिति हुई। इस स्थिति में आभीयशास्त्र 'हन्तेर्जः' 6.4.33 से 'हन्' को 'ज' आदेश हो गया– ज हि। अब परवर्ती आभीयशास्त्र 'अतो हेः' 6.4.105 से आकारान्त 'ज' से परे 'हि' का लोप प्राप्त हुआ। तब असिद्धवत्, शास्त्र के द्वारा यह नियम हुआ कि 'अतो हेः' 6.4.105 शास्त्र की दृष्टि में 'हन्तेर्जः' शास्त्र असिद्धवत् हो जाय इससे आकारान्त अङ्ग न मिलने से हि लोप की प्राप्ति अवरुद्ध हो गई (यतः लोप विषय में अङ्ग 'ज' न होकर हन् ही है।) इस पाद में आर्धधातुके 6.4.46 से पूर्व दो प्रकृत्यादेश विधायक सूत्र हैं– 'शा हौ' 6.4.25 तथा 'हन्तेर्जः' 6.4.36 द्वितीय अध्याय के धातु–प्रकृत्यादेश में इनके सम्मिलित न किए जाने का कारण इनमें इस असिद्धवद्भाव का अतिदेश करना है। इसी कारणवश द्वितीय अध्याय के 'अस्तेर्भूः' आदि सूत्र भी आभीय प्रकरण में नहीं पढ़े गए अन्यथा अस् को भू आदेश एवं भू को वुगागम दोनों के आभीय होने से आगम ∴ करने में भू आदेश असिद्धवत् होता और भू प्रकृति न रहने से वुगागम न हो पाता फलतः बभूव आदि प्रयोग सिद्ध न हो सकते षष्ठ अध्याय के इसी आभीय प्रकरण में 'आर्धधातुके' 6.4.46 सूत्र भी है। यह अधिकार सूत्र है और पादसमाप्तिपर्यन्त इसका अधिकार है। आभीय प्रकरण सूत्रांक 6.4.22 से 'न ल्यपि' 6.4.69 तक ही है अतएव इसके (सू. 'न ल्यपि) के बाद द्वितीय अध्याय के धात्वादेश रखे जा सकते थे। किन्तु ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि द्वितीय अध्याय के अधिकार सूत्र के अन्तर्गत विहित आदेश आर्धधातुक विषय में या उसकी विवक्षा में होते हैं जबकि इस अध्याय के इस पाद के आदेश आर्धधातुक परे रहते ही होते हैं। इस आभीय प्रकरण के परवर्ती आदेश सूत्रों में कुछ सूत्र प्रकृति संबंधी आदेश विधान परक एवं कुछ प्रत्यय संबंधी आदेश विधानपरक भी हैं। किन्तु इस पाद के अधिकांश आदेश एकाल् ही हैं।

सप्तम अध्याय––इस अध्याय के आदेशसूत्रों का विषय है– प्रत्यय के स्थान पर आदेश विधान, वृद्धिकार्यविधान, अभ्याससम्बन्धी आदेश विधान तथा ह्रस्वादि–कार्य–विधान।

प्रथम पाद– इस पाद में आरंभ से 45 वें सूत्र तक (तप्तनप्तनथनाश्च 7.1.45) प्रत्यय के स्थान पर होने वाले आदेशों का विवरण है। इन आदेशों के स्थानी सुप्, तिङ्, तद्धित आदि सभी प्रकार के प्रत्यय हैं। इस पाद में कुछ प्रकृत्यादेश एवं कुछ प्रकृति अथवा अङ्ग सम्बन्धी वर्णादेश भी कहे गए हैं।

द्वितीय पाद– इस पाद में वृद्धिविधायक आदेशसूत्र, दीर्घादेश विधायक सूत्र, अङ्ग-विकार–विधायक-सूत्र तथा कुछ प्रत्ययादेश भी प्राप्त होते हैं।

तृतीय पाद– इस पाद के अधिकांश आदेश सूत्रों द्वारा विहित आदेश एकाल् प्रकृति के हैं। पाद में मुख्यतः आदेशविधान ही हुआ है। अन्य विषयों से सम्बन्धित सूत्र कम ही हैं। वृद्धि, दीर्घ, कवर्गादेश, चवर्गादेश, ह्रस्व, गुण, एकारादेश तथा कुछ प्रकृति एवं कुछ प्रत्यय के स्थान पर आदेश विधायक शास्त्र भी हैं। इस पाद के आधे से भी अधिक सूत्र आदेशविधायक सूत्र हैं।

चतुर्थ पाद– इस पाद में भी आदेश सूत्र की संख्या बहुत अधिक है। इनका

विषय है विकरण को ह्रस्व विधान, उपधा के स्थान पर ह्रस्व दीर्घ आदि विधान, ऋकारान्त अङ्ग को गुणविधान, तथा अभ्यास एवं अंङ्ग सम्बन्धी ह्रस्व, दीर्घ, गुण, इकार, उकार विधान। इस पाद में उपदिष्ट अभ्यास विकारीय सूत्रों की यह विशेषता है कि इनमें परस्परबाध्यबाधकभाव नहीं है। (अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति-परिभाषेन्दुशेखर: 67, परिभाषावृत्ति 99, अभ्यासविकारेषु अपवादा नोत्सर्गान् विधीन् बाधन्ते - पुरुषोत्तमदेवकृत परिभाषावृत्ति, 11.) संभवतः इसीलिए द्वित्व एवं अभ्याससंज्ञा, अभ्यस्तसंज्ञा करने के बाद भी षष्ठ अध्याय में इनका समावेश न होकर सप्तम अध्याय के अन्त में किया गया।

अष्टम अध्याय- इस अध्याय में पदद्वित्व, षत्व, णत्व, संहिता सम्बन्धी वार्ण विकार, रुत्व, विसर्जनीय, सत्वादेश संबंधी सूत्र हैं। इस अध्याय के अन्तिम तीन पादों में सन्निविष्ट शास्त्र शेष सातों अध्याय एवं अध्याय के प्रथम पाद की दृष्टि में असिद्ध हैं। इस अध्याय में वर्णद्वित्व विधान संबंधी सूत्र भी हैं।

प्रथम पाद- इस पाद का सर्वप्रथम सूत्र पदद्वित्व संबंधी सूत्र 'सर्वस्य द्वे' है। भाष्यकार के मत में यह द्वित्व स्थानेद्विवचन है अर्थात् द्वित्वादेश है - ऐसा आदेश जिसमें सम्पूर्ण पद का शब्दतः एवं अर्थतः द्वित्व हो। षष्ठाध्यागत द्वित्व को भाष्यकार द्विरुच्चारणम् द्विर्वचनम् या द्विः प्रयोगो द्विर्वचनम् कहते हैं। इस दृष्टि से षष्ठाध्यायस्थ द्वित्व आगम की कोटि का सिद्ध होता है। इनके इसी अन्तर के कारण इनका एक स्थान पर उपदेश नहीं किया गया। यह द्वित्व पौनः पुन्य, नित्यता, वीप्सा आदि विशेष अर्थों का बोधक है जब कि अभ्यास द्वित्व में ऐसा नहीं होता। विशेष अर्थ का बोधक होते हुए भी समास, तद्धितादि के साथ इसे इसलिए नहीं रखा गया क्योंकि 'समर्थः पदविधिः' सम्बन्धी सामर्थ्य इसमें नहीं। इस सूत्र का अन्वय द्वित्व के विधायक शास्त्र के साथ नहीं क्योंकि द्वित्व सिद्ध पदों का होता है प्रातिपदिक का नहीं। यह विधि प्रकृति प्रत्यय, या इनसे संबंधित कोई कार्य विशेष नहीं है (जैसा कि अभ्यास द्वित्व है) अतः इसका सभी कार्यों का उपदेश करने के बाद असिद्धकाण्ड से पूर्व उपदेश किया गया। इस पाद में अस्मद् एवं युष्मद् प्रकृति को वाम्, नौ, नस्, ते, मे आदि आदेश विहित हुए हैं।

द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पाद - इन पादों को 'असिद्ध-काण्ड' नाम से भी जाना जाता है। द्वितीय पाद का प्रथम सूत्र है - 'पूर्वत्रासिद्धम्'। इस सूत्र का अर्थ है सपादसप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादीशास्त्र असिद्ध हो तथा त्रिपादीशास्त्रों में भी पूर्व के प्रति परशास्त्र असिद्ध हो। हर इह यहाँ हरे इह(हरय् इह इस दशा में 'लोपः शाकल्यस्य' 8.3.19 से यकार लोप हो गया है और हर के अन्त्य अकार से परे इह के इकार को 'आद्गुणः' 6.1.87 से गुण एकादेश प्राप्त है इस गुण एकादेश विधायक शास्त्र के प्रति लोप शास्त्र असिद्ध है। क्योंकि लोप न हुआ सा है अतः गुण एकादेश नहीं हो पाता।

इस असिद्ध काण्ड में द्वितीय पाद में मतुप् के मकार को वकारादेश, रेफ को लत्वादेश, चवर्ग को कवर्गादेश, जश्त्व, चर्त्व, निष्ठा के तकार को नकार, सकार के स्थान पर रुत्व, उपधा दीर्घ इत्यादि से संबंधित सूत्र हैं। तृतीय पाद में रुत्व, विसर्जनीय, विसर्ग के स्थान पर सकारादेश, सकार को षत्वादेश इत्यादि विधायकशास्त्र प्राप्त होते हैं। चतुर्थ पाद में नकार को णत्वादेश, जश्त्व, चर्त्व,

पूर्वसवर्ण, परसवर्ण आदि विधायक शास्त्र उपदिष्ट हुए हैं।

असिद्धकाण्ड के सभी आदेशसूत्र प्रायः एकाल् आदेश विधायक सूत्र हैं। इस काण्ड में तृतीय अध्याय में रेफ एवं षत्व आदेश का निरूपण करने के बाद चतुर्थ अध्याय में णत्वादेश संबंधी सूत्र रखे गए हैं क्योंकि रेफ एवं षत्व दोनों णत्वादेश के निमित्त हैं। वस्तुतः असिद्धकाण्ड में आदेश विधायक शास्त्रों की अधिकता है। अष्टाध्यायी के आरंभ में शास्त्रोपयोगी संज्ञाओं, परिभाषाओं के बाद, शब्दों की प्रकृति एवं उससे होने वाले प्रत्ययों का निरूपण किया गया है। अब शेष रह जाता है इनसे संबंधित विकारों का उपदेश जो इस असिद्ध काण्ड में किया गया है। किन्तु आदेशादि विधायक शास्त्र सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में यत्र तत्र उपदिष्ट हुए हैं मात्र त्रिपादी में नहीं। वस्तुतः जो आदेश अन्य कार्यों एवं अन्य आदेशों के प्रति असिद्ध हैं वे ही इस असिद्ध काण्ड में उपदिष्ट हुए हैं। षष्ठ अध्याय के आभीय प्रकरण का असिद्ध कार्य संबंधी शास्त्र इस अष्टम अध्याय के असिद्ध काण्ड में क्यों नहीं सन्निविष्ट किया गया इसका उत्तर यह है कि इन दोनों प्रकरणों के असिद्धत्व में मौलिक अन्तर हैं। जहाँ अष्टम अध्याय के असिद्धत्व में पूर्वम् प्रति परं शास्त्रमसिद्धं' नियम प्रवृत्त होता है वहीं आभीय असिद्धत्व के विषय में ऐसा आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ – जहि में 'हन्तेर्जः' **6.4.33** द्वारा हुआ ज आदेश पर शास्त्र 'अतो हे :' **6.4.105** द्वारा विहित कार्य हिलोप के प्रति असिद्ध माना गया अर्थात् परशास्त्र के प्रति पूर्वशास्त्र असिद्ध माना गया। इसी प्रकार 'एधि' –यहाँ अस् हि, स् हि, ए हि इस स्थिति में 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च '**6.4.119** द्वारा विहित एकारादेश 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' **6.4.101** के द्वारा प्राप्त हि को धि आदेश करने में असिद्ध है अर्थात् पर शास्त्र पूर्वशास्त्र के प्रति असिद्ध है। इन दोनों उदाहरणों के आधार पर निष्कर्ष निकला कि पूर्वम् प्रति परं शास्त्रमसिद्धम् नियम षाष्ठिक असिद्ध प्रकरण में नहीं प्रवृत्त होता इस प्रकरण में पहले हो चुका कार्य पीछे होने वाले कार्य की दृष्टि में असिद्ध होता है ऐसा मान सकते हैं।

इन दोनों असिद्ध कार्यों में दूसरा अन्तर यह है कि आभीय असिद्धत्व समानाश्रय विधियों में ही होता है अर्थात् जिस शास्त्र-विहित कार्य को अन्य शास्त्र-विहित कार्य के करने में असिद्ध माना जा रहा हैं उन दोनों कार्यों का समानाश्रय होना आवश्यक है; उनका आश्रय-निमित्त समान होना चाहिए।

इनके मध्य तीसरा अन्तर यह है कि पूर्वत्रासिद्धम् शास्त्र सम्बन्धी असिद्धत्व सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में प्रवृत्त होता है (क्योंकि सपादसप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी एवं त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति पर शास्त्र असिद्ध है अर्थात् इस असिद्धत्व की व्यापकता सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में है) दूसरी ओर आभीय असिद्धत्व कुछ विशिष्ट स्थल में अपेक्षित असिद्धत्व है और इसी कारणवश आभीय प्रकरण में इससे संबंधित सूत्रों का सन्निवेश हुआ है। इन्हीं भिन्नताओं के कारण आभीय प्रकरण के सूत्र असिद्धकाण्ड में सन्निविष्ट नहीं किए गए।

आदेशों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ये विभिन्न आकार एवं प्रकार के हैं। जिन निमित्तों को आधार बनाकर इनका विधान किया गया है तथा जिन विषयों में ये होते हैं उनमें भी विविधता है। कुछ आदेश एकवर्णात्मक स्वरूप के हैं तो कुछ अनेकवर्णात्मक। कुछ आदेश शब्दों के अन्त्य वर्ण को होते हैं, कुछ आदि

वर्ण को तथा कुछ सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर। कुछ आदेश नित्यरूप से विहित किए गए हैं तो कुछ विकल्प से। कुछ प्रकृति के स्थान पर । कुछ के लिए प्रत्यय विशेष का विषय होना ही पर्याप्त है तो कुछ के लिए प्रत्यय का परे विद्यमान होना आवश्यक है। कुछ वैदिक प्रयोग विषय में ही विहित हुए हैं। तो कुछ लौकिक प्रयोग विषय में ही तथा कुछ दोनों प्रयोग विषय में । कहीं किसी वर्ण विशेष के पूर्व या परे स्थिति होने पर आदेश प्राप्त होता है तो कहीं प्रत्यय विशेष के परे रहते अथवा शब्द विशेष के परे रहते। प्रत्ययों में भी कभी सार्वधातुक प्रत्यय, कहीं आर्धधातुक प्रत्यय , कभी विभक्ति प्रत्यय, कभी सुप् प्रत्यय इत्यादि को निमित्त बनाकर आदेश विधान हुआ है। कभी-कभी किसी विशेष विषय में ही प्रयुक्त होने की स्थिति में आदेश विधान किया गया है (जैसे संज्ञा और अन्वादेश विषय में प्रयुक्त होने की स्थिति में)। कभी-कभी शब्दविशेष का किसी विशेष अर्थ में प्रयोग होने पर आदेश विहित किया गया है (जैसे 'निनदिभ्यां स्नातेः कौशले' सूत्र में स्ना धातु के सकार को मूर्धन्यादेश 'कुशलता' अर्थ में) कुछ आदेश प्रकृति प्रत्यय सापेक्ष नहीं हैं (जैसे-संहिता एवं समास विषयक आदेश ये पूर्ववर्ण-परवर्ण तथा पूर्वपद-उत्तरपद सापेक्ष हैं। इन विविधताओं के होते हुये कोई ऐसा आधार सुनिश्चित करना जिसके अनुसार इनका वर्गीकरण किया जा सके बड़ा कठिन प्रतीत होता है।

सिद्धान्त कौमुदी की तत्व-बोधिनी टीका के रचयिता ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने अपनी इस टीका में दो प्रकार के आदेशों की चर्चा की है - प्रत्यक्ष तथा आनुमानिक। 'अस्तेर्भूः' सूत्रविहित अस् स्थानी को भू-आदेश प्रत्यक्ष आदेश है। ति के स्थान पर हुआ तु आनुमानिक है। 'एरुः' इस सूत्र में इ से इकारान्त स्थानी तथा उ से उकारान्त आदेश अनुमित होता है तथा ति को तु हो यह अर्थ फलित होता है।[63]

आधुनिक विचारकों में डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य ने भी आदेशों का विभाजन करने का प्रयास किया है। इनके अनुसार - "आदेश के दो मौलिक विभाग हैं, प्रथम - वर्णसम्बन्धी सम्बन्धी तथा द्वितीय - पदसंबंधी। वर्ण सम्बन्धी आदेश भी दो प्रकार के हैं - एकवर्णात्मक तथा अनेकवर्णात्मक। प्रथम का नाम 'विकार' तथा द्वितीय का 'आदेश' यह प्राक्पाणिनीय वैयाकरण आपिशलि का मत था। परवर्तीकाल में इस भेद का व्यवहार नहीं रहा पाणिनी ने भी इस भेद को मानकर प्रकरण-व्यवस्था नहीं की है। आचार्य पाणिनि ने वर्ण विकार को अपनी दृष्टि से दो भागों में बाँटा है - पदद्वय संबंधी वर्णद्वयादेश एवं एकादेश।"[64]

आदेश सूत्रों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि जिन विषयों एवं निमित्तों को आदेश होने में हेतु रूप में लिया गया है वे विविध प्रकार के हैं तथा उन्हें वर्गीकरण का आधार बनाना कठिन है किन्तु आदेशों के स्वरूप एवं इनके स्थानी के आधार पर इनका वर्गीकरण संभव है। सभी आदेश या तो एकाल् हैं या अनेकाल्। वे या तो किसी एक वर्ण के स्थान पर आदेश किए जाते हैं या सम्पूर्ण के स्थान पर। ये दोनों बातें सर्वतोभाव से सभी आदेशों पर घटती हैं। प्रत्यक्ष एवं आनुमानिक इन दो वर्गों में वर्गीकरण करने पर आदेशों की उपर्युक्त दोनों मौलिक विशेषताएँ स्पष्ट नहीं हो पातीं। वस्तुतः आदेशों का प्रत्यक्ष या आनुमानिक होना यह सूत्रोपदेश शैली की विशिष्टता है (अर्थात् यह पाणिनि की

शैली की विशेषता है कि कुछ स्थानी एवं आदेश सूत्रार्थ करने पर स्पष्ट रूप में बोधित हो जाते हैं पर कुछ स्थानी एवं आदेश का सूत्रार्थ के आधार पर अनुमान लगाया जाता है।> आदेशों के स्वरूप एवं इसके स्थानीके आधार पर आदेशों का वर्गीकरण उचित भी है और पाणिनिसम्मत भी। 'अनेकाल्शित् सर्वस्य', 'अलोऽन्त्यस्य', 'ङि.च्च' इत्यादि सूत्रों के आधार पर ही एकाल् एवं अनेकाल् जैसे वर्ग बनाए गए हैं अतएव यह वर्गीकरण अपाणिनीय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के वर्गीकरण में आदेशों की मौलिक विशेषताएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं।

आदेश के स्वरूप (एकाल्त्व एवं अनेकाल्त्व) एवं इनके स्थानी केआधार पर इनका चार वर्ग बनाया जा सकता है –

(1) एकाल् स्थानी संबंधी एकाल् आदेश।
(2) एकाल् स्थानी संबंधी अनेकाल् आदेश।
(3) अनेकाल् स्थानी संबंधी एकाल् आदेश।
(4) अनेकाल् स्थानी संबंधी अनेकाल् आदेश।

आदेशों की कुछ अन्य विशेषताओं को स्पष्ट किया जा सके इसलिए उपर्युक्त वर्गीकरण में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक है। आदेशसूत्रों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि एकाल् स्थानी संबंधी एकाल् आदेशों की संख्या बहुत अधिक है। इन एकाल् आदेशों में भी कुछ ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, गुण, वृद्धि, सम्प्रसारण तथा कुछ चर्त्व, जश्त्व, भषत्व, मूर्धन्यभाव आदि पारिभाषिक पदों का प्रयोग कर विहित किए गए हैं। इन एकाल् स्थानी संबंधी एकाल् आदेशों को यदि एक ही अध्याय में रखा जाय तो वह अध्याय बहुत बड़ा हो जायगा तथा इन पारिभाषिक पदों द्वारा बोध्य गुणधर्म स्पष्ट नहीं हो सकेगा। क्योंकि ह्रस्व, दीर्घ, गुण, वृद्धि, इत्यादि हल् वर्णों के विषय में तथा चर्, जश्, भष् आदि अच् वर्णों के विषय में निरर्थक हैं। अतः इन्हें दो वर्गों में बाँट दिया गया – अज्वर्णादेश तथा हल्वर्णादेश। अज्वर्णादेश प्रकरण में ऐसे एकाल् स्थानी संबंधी एकाल् आदेश रखे गए जो स्वर वर्ण (अच्) हैं या ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, गुण, वृद्धि, सम्प्रसारण आदि शब्दों का प्रयोग कर विहित किए गए हैं। हल्वर्णादेश प्रकरण में ऐसे एकाल् स्थानी संबंधी एकाल् आदेश रखे गए हैं जो व्यंजन वर्ण (हल्) हैं या चर्, जश्, भष्, मूर्धन्य आदि शब्दों का प्रयोग कर विहित किए गए हैं। दूसरा परिवर्तन यह किया गया कि अनेकाल् स्थानी के स्थान पर विहित एकाल् आदेशों का पृथक् वर्ग नहीं बनाया गया कारण यह है कि ऐसे अनेकाल् स्थानी संबंधी एकाल् आदेश शित् हैं और सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं तथा इनकी संख्या भी बहुत कम है अतः इनका पृथक् वर्ग नहीं बनाया जा सका और इन्हें अनेकाल् स्थानी संबंधी अनेकाल् आदेशों में ही सम्मिलित कर लिया गया। अनेकाल् आदेश भी सम्पूर्ण स्थानी केस्थान पर होते हैं यही शित् प्रकार के एकाल् आदेशों से इनका साम्य प्रकट करता है। आचार्य पाणिनि ने अनेकाल् एवं शित् दोनों का एक ही सूत्र में ग्रहण किया है – अनेकालशित् सर्वस्य।

अनेकाल् एवं शित् आदेश सर्वादेश हैं – सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं। इन आदेशों को सूत्र 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' से स्थानिवद्भाव का अतिदेश प्राप्त है इस प्रकार इनमें स्थानिवद्भाव से प्रकृति या प्रत्यय कहलाने की क्षमता होती है। प्रकृति एवं प्रत्यय का अपना अर्थ होता है (यह अर्थ शास्त्रीय होता है अर्थात् शास्त्र

मात्र में प्रकृति एवं प्रत्यय की अर्थवत्ता होती है लोक में नहीं। इनके स्थान पर होने वाले अनेकाल् आदेश भी प्रकृति या प्रत्यय के अर्थ से युक्त हो जाते हैं। आदेशों की इसी विशिष्टता को स्पष्ट करने के लिए इनका दो वर्ग बनाया गया – प्रकृत्यादेश एवं प्रत्ययादेश। प्रकृत्यादेश में सम्पूर्ण प्रकृति के स्थान पर हुए अनेकाल् एवं शित् आदेशों को रखा गया एवं प्रत्ययादेश में प्रत्यय के स्थान पर होने वाले अनेकाल् एवं शित् सर्वादेशों को रखा गया। इस क्रम में समास संबंधी आदेशों को भी प्रकृत्यादेश वर्ग में रख दिया गया। यद्यपि ये आदेश सम्पूर्ण प्रकृति को न होकर उसके अंशरूप पूर्वपद या उत्तरपद को होते हैं तथापि एक सम्पूर्ण शब्द – जो समास का पूर्वपद हो या उत्तरपद हो; के स्थान पर सर्वादेश होने से तथा स्थानिवद्भाव से उस अर्थ के प्रत्यायक होने से इन्हें भी प्रकृत्यादेश प्रकरण में सम्मिलित कर लिया गया। तीसरे परिवर्तन में ये सारी व्यवस्थाएँ की गईं।

एकाल् स्थानी संबंधी एकाल् आदेश तथा अनेकाल् स्थानी संबंधी एकाल् और अनेकाल् आदेशों के वर्गीकरण के संबंध में उपर्युक्त परिवर्तन करने के बाद शेष रह जाता है एकाल् स्थानी संबंधी अनेकाल् आदेश । ये आदेश अनेकाल् होते हुए भी सर्वादेश नहीं किए जाते अतएव इनमें सम्पूर्ण प्रकृति या प्रत्यय कहलाने की तथा स्थानिवद्भाव से इनके अर्थ की प्रतीति कराने की क्षमता नहीं होती। इसी कारणवश इन्हें प्रकृत्यादेश या प्रत्ययादेश प्रकरण में नही रखा गया। एकाल् स्थानी संबंधी एकाल् आदेश न होने से इन्हें अज्वर्णादेश एवं हल्वर्णादेश वर्गों में भी नहीं रखा जा सकता अतः इनका पृथक् वर्ग बनाना ही उचित है। आचार्य पाणिनि ने भी ऐसे आदेशों के लिए ङ-कार अनुबन्ध का प्रयोग किया है और 'ङि-च्च' सूत्र द्वारा अलग से इनका अन्तादेशत्व विहित किया है ('अलोऽन्त्यस्य' सूत्र में इन्हें नहीं सम्मिलित किया।) अतः इन्हें उपर्युक्त चारो वर्गों में नहीं रखा गया। ऐसे अनेकाल् आदेश जो एकाल् स्थानी को विहित किए गए हैं, संख्या में अत्यल्प हैं अतः इनके नाम से एक सम्पूर्ण अध्याय नहीं बन सकता इसलिए इन्हें प्रकीर्ण वर्ग में सम्मिलित किया गया।

पदद्वित्व को पतंजलि ने आदेश कहा है अतः इनको भी प्रबन्ध में समाविष्ट करना पड़ा। उपर्युक्त चारों वर्गों में जिन कारणों से ये सूत्र नहीं रखे गए वे स्पष्ट हैं। ये प्रकृति, प्रत्यय के स्थान पर हुए अनेकाल् या एकाल्-अन्तादेश नहीं हैं अतः इन्हें उपर्युक्त चारों वर्गों से पृथक् रखा गया एवं प्रकीर्ण वर्ग में द्वित्वादेश रूप से समाविष्ट किया गया । इसी वर्ग में अभ्यास एवं वर्ण संबंधी द्वित्व भी सम्मिलित कर लिए गए यद्यपि ये आदेश नहीं द्विरुच्चारण हैं फिर भी एक जैसे दो वर्ण या वर्ण समुदाय सभी प्रकार के द्वित्व में उपलब्ध होते हैं अतः द्वित्वादेश के विवेचन के क्रम में इनको भी सन्निविष्ट किया गया। 'द्विरुच्चारण' प्रकार के ऐसे द्वित्व विधायक शास्त्रों की संख्या बहुत ही कम है अतः इससे किसी बड़े अप्रसंग दोष की संभावना नहीं है। प्रकीर्ण वर्ग में ही 'टि' के स्थान पर विहित आदेश भी सन्निविष्ट किए गए हैं क्योंकि टि एकाल् भी हो सकती है अनेकाल् भी अतः अज्वर्णादेश, हल्वर्णादेश में इन्हें रखा नहीं जा सकता। ये आदेश सर्वादेश नहीं होते हैं अतः प्रकृत्यादेश या प्रत्ययादेश वर्गों में भी नहीं रखे गए। इसी वर्ग में 'एचोऽयवायावः' जैसे सूत्र भी रखे गए हैं। इनके स्थानी तो एकाल् हैं किन्तु आदेश अनेकाल् हैं पर ङित् नहीं अनेकाल् होते हुए भी ये सर्वादेश नहीं होते अतः इनको

इस प्रकीर्ण वर्ग में ही रखा गया। ऐसे आदेशों को आचार्य ने ङित् रूप में पढ़ा है यहाँ ङकार अनुबन्ध न लगाने का कारण यह है कि अय् अव् आदि आदेश संधि संबंधी आदेश हैं और एच् से अच् परे रहते एच् को विहित हुए हैं इनका अन्त्य वर्ण हल् है जबकि ङित् आदेशों का अन्त्य वर्ण अच् है।

प्रकीर्ण वर्ग में ही एकादेशों को भी रखा गया है। एकादेशों की विशेषता यह है कि इनमें आदेश तो एक वर्णात्मक है किन्तु स्थानी द्विवर्णात्मक यह द्विवर्णात्मक स्थानी भी दो भिन्न-भिन्न पदों से गृहीत होता है। एकादेशों का स्थानी पूर्वपद का अन्त्य एवं परपद का आदिवर्ण संयुक्त रूप में होता है। आदेश भी पूर्व के अन्त एवं पर के आदि वर्ण के तुल्य गुण धर्म वाला होता है अर्थात् एकादेश विधि के आदेश में दोनों स्थानियों का स्थान एवं प्रयत्न आदि का साम्य अपेक्षित है। एकादेश भी वस्तुतः संहिताजन्य वर्ण विकार है। द्विवर्णात्मक स्थानी को एक वर्णात्मक रूप विशेष स्वरूप के कारण इस आदेश को भी प्रकीर्ण वर्ग में ही सन्निविष्ट किया गया। इस प्रकार आदेश सूत्रों का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ------

(1) अज्वर्णादेश प्रकरण
(2) हल्वर्णादेश प्रकरण
(3) प्रकृत्यादेश प्रकरण
(4) प्रत्ययादेश प्रकरण
(5) प्रकीर्ण वर्ग ।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अज्वर्णादेश, हल्वर्णादेश इत्यादि शीर्षकों के 'अच्', 'हल्' आदि आदेशों के विशेषण हैं स्थानियों के नहीं। अज्वर्णादेश का तात्पर्य है ऐसा एकाल् आदेश जो अच् हो और जिसका स्थानी एकाल् हो। हल्वर्णादेश का अर्थ है – ऐसा एकाल् आदेश जो हल् हो और जिसका स्थानी एकाल् हो। इसी प्रकार प्रकृत्यादेश का तात्पर्य शब्द के प्रकृत्यंश को होने वाले आदेश तथा प्रत्ययादेश का तात्पर्य शब्द के प्रत्ययांश को विहित आदेश है। अगले अध्यायों में इसी आधार पर विभिन्न आदेशसूत्रों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सन्दर्भ-सूची

1. दिश् अतिसर्जने, अतिसर्जनम् दानम् – सि. कौ. तुदादिगण धात्वंक 1283 । अतिसर्जनम् त्यागः – क्षीरस्वामी।
2. 'अत्र क उपदेशः? उच्चारणम्। कुत एतत्? दिशिरुच्चारणक्रियः।' तथा – 'दिशिरुच्चारणक्रियायाम्।'- उपदेशाङ्ज. सूत्रभाष्य।
3. द्र. – वासुदेवदीक्षितकृत सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमा टीका, सू. 'स्थानिवदा'.
4. तथा च आपिशल श्लोकेऽपि तस्य स्वरूपम् वर्णितम् – 'आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्।' – वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, तृतीयो भागः। आदेशस्तु प्रसङ्गेन लोपः सर्वापकर्षणात्।'' – पृ. 387 सं. गोपालदत्त पाण्डेय।
5. द्र. – पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन पृ. 41, लेखक डॉ रामशंकर भट्टाचार्य।
6. द्र.– वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी की सू. 'स्थानिवदादेशो'. सूत्र की

तत्त्वबोधिनी टीका।

7. 'दाधाघ्वदाप्' (1.1.20) सूत्रभाष्य तथा 'आद्यन्तौ टकितौ' (1.1.46) सूत्रभाष्य
8. 'दाधाघ्वदाप्' सूत्रभाष्य
9. 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' सूत्र पर वार्तिकपाठ
10. 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' सूत्रभाष्य।
11. 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' सूत्रभाष्य।
12. 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' सूत्रभाष्य।
13. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (1.23)
14. व्याकरण महाभाष्य, द्वितीय आह्निक
15. महाभाष्य, सप्तमाह्निक सूत्रांक 1.1.46।
16. आगमशास्त्रमनित्यम् नागेशकृत परिभाषेन्दुशेखरः परिभाषांक 94 तथा आगमशासनमनित्यम् कालापपरिभाषासूत्र सूत्रांक 21, अनित्यमागशासनम् व्याडिकृतपरिभाषा 76, शाकटायनपरिभाषा सूत्रांक 79, चान्द्रपरिभाषासूत्र 78 पुरुषोत्तमदेवकृत लघुपरिभाषावृत्ति सूत्रांक 84, पुरुषोत्तमदेवकृत परिभाषापाठ 76, नीलकण्ठदीक्षितकृत परिभाषावृत्ति सूत्रांक 87, हरिभास्करअग्निहोत्रकृत परिभाषाभास्कर सूत्रांक 170 आदि।
17. इस विषय में द्रष्टव्य है 3.1.1 सूत्रभाष्य की उद्योत टीका। – " वचनमविरङ्गाद्यादेशानामपि न स्वीयार्थप्रत्यायकता किन्तु स्थान्यर्थ प्रत्यायकत्वैव।".
18. द्र. पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन, ले. डॉ रामशंकर भट्टाचार्य पृ.9।
19. आदेशों में स्थानी के अर्थ का अतिदेश हो जाता है एकाल् आदेश भी जब सम्पूर्ण प्रकृति या प्रत्यय के स्थान पर आदेश किए जाते हैं तो एकवर्णात्मक होते हुए भी वे स्थानिवद्भाव से अर्थवान् हो जाते हैं। आगम सदा किसी के अवयवरूप में ही होते हैं अतएव उनका अर्थवान् होना संभव नहीं।
20. महाभाष्य।'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्रभाष्य।
21. महाभाष्य । 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' सूत्रभाष्य।
22. इस विषय मे द्र. प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् सूत्रभाष्य।
23. भोजदेवकृत परिभाषासूत्र, परिभाषांक 1.2.116।
24. नागेशकृत परिभाषेन्दुशेखरः क्रम सं. 99
25. व्याडिसंगृहीत परिभाषा क्रम सं. 70 .
26. भोजदेवकृतपरिभाषासूत्र 1.2.116
27. 'अजादेर्द्वितीयस्य' 6.1.2 यह सूत्र अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व का नियम करता है।
28. 'सन्यङन्तस्येति चेदशः सन्यनिटः', 'दीर्घकृत्वसम्प्रसारणषत्वमभिकस्य द्विर्वचनात्', 'आवृत्त्योश्चाभ्यस्तविधि प्रतिषेधः', 'सन्यङाश्रये च समुदायस्य समुदायादेशत्वात् हलाश्रये चाव्यपदेश आमिश्रत्वात्'। – इन दोषों का परिहार नहीं हो सकता। – द्र.'एकाचो द्वे प्रथमस्य' सूत्र भाष्य, महाभाष्य।

29. द्र.—एकाचो द्वे प्रथमस्य सूत्र भाष्य।
30. द्र.— कैयटकृत महाभाष्यप्रदीप नाम्नी टीका। सू. 'सर्वस्य द्वे' 8.1.1।
31. द्र सर्वस्य द्वे 8.1.1 सूत्रभाष्य।
32. 'सर्वस्य द्वे' सूत्रभाष्य।
33. महाभाष्यप्रदीपोद्योत । सू. सर्वस्य द्वे 8.1.1।
34. द्र. वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी : 'सर्वस्य द्वे' सूत्र की बालमनोरमा टीका।
35. द्र. व्याकरण महाभाष्य, अष्टम अध्याय तृतीयपाद, द्वितीय आह्निक, 59 सूत्र।
36. सू. 'आनाय्योऽनित्ये' (3.1.127)
37. सू. 'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च' (3.2.26)
38. द्र. — काशिका वृत्ति, तृतीय अध्याय, प्रथमपाद, 123 सू.।
39. द्र. — पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्च. (5.1.59) सूत्र भाष्य।
40. द्र. — 5.1.59 सूत्रभाष्य की प्रदीप टीका।
41. 'द्विशब्दादयं दशवर्गाभिधायिनः स्वार्थे शतिच् प्रत्ययो निपात्यते, विन्भावश्च। द्वौ दशतौ विंशति।'- महाभाष्य 5.1.59 सूत्रभाष्य।
42. इस विषय में द्र. 7.2.27 एवं 7.2.30 सूत्रभाष्य।
43. रूढिशब्दानां हि यथाकथञ्चिद् व्युत्पत्तिः क्रियते । परिकल्पितेनावयवार्थेन' --काशिकावृत्ति की जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास टीका। सूत्रांक 5.2.93 सू. 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग'.।
44. द्र. काशिकावृत्ति। सू. 'वृक्षासन.' 8.3.93।
45. महाभाष्यप्रदीप, सूत्रांक 5.1.59 ("पंक्तिविंशति."सू.)
46. द्र.— काशिकावृत्ति की पदमंजरी नाम्नी टीका। पंक्तिविंशति.। सू. 5.1.59।
47. प्रत्यय के स्थान पर होने वाले आदेशों के शित्करण का अन्य प्रयोजन भी है—सार्वधातुक संज्ञक होना
48. 'ङिच्च' 1.1.52 सू. द्वारा
49. 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' 1.1.55 सू. द्वारा
50. इस विषय में द्रष्टव्य है 'ङिच्च' सूत्रभाष्य, 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्' सू. की काशिका वृत्ति तथा वासुदेवदीक्षितकृत बालमनोरमा टीका (सि. कौ.)
51. भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्ड।
52. महाभाष्य, प्रथम अध्याय, अष्टम आह्निक, स्थानिवदादेशो. सूत्रभाष्य।
53. महाभाष्य। स्थानिवद. सूत्रभाष्य।
54. सू. इग्यणः सम्प्रसारणम् 1.1.45
55. द्र. 'इग्यणः'. सूत्रभाष्य।'—महाभाष्य'
56. शब्दस्यापि शब्देनानन्तरादयोऽभिसम्बन्धाः। अस्तेर्भूर्भवतीति सन्देहः स्थाने अनन्तरे समीपे इति। —षष्ठी स्थानेयोगा सूत्रभाष्य, महाभाष्य। तथा— 'शब्दस्य शब्देन त्रय एव सम्बन्धाः—आनन्तर्यं, सामीप्य,

प्रसंगश्चेति ।" – सिद्धान्त कौमुदी की बालमनोरमा टीका सू. 'षष्ठी स्थानेयोगा'

57. सिद्धान्त कौमुदी, बालमनोरमा टीका सू. स्थानेऽन्तरतमः ।

58. धातु–सूत्र–गणोणादि–वाक्य लिंगानुशासनम् । आगम–प्रत्ययादेशाः उपदेशाः प्रकीर्तिताः –महाभाष्य

59. सू. 'लशक्वतद्धिते' द्वारा प्रत्यय के आदि शकार की इत्संज्ञा होती है ।

60. द्र. व्याकरण महाभाष्य, प्रथम नवाह्निक, हिन्दी व्याख्याकार चारुदेव शास्त्री, पृ. 102, 103

61. द्र. 'द्विर्वचने.' सूत्रभाष्य, महाभाष्य ।

62. द्र. – पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन, पृ. 23 ।

63. "द्विविधः आदेशः प्रत्यक्ष आनुमानिकश्चेति । 'अस्तेर्भूः' इत्यादिः प्रत्यक्षः । 'तेस्तुः' इत्यादिस्त्वानुमानिकः । 'एरुः' इत्यत्र हि इकारेणेकारान्तस्थानी अनुमीयते, उकारेण चोकारान्त आदेशः । तथा च तेस्तुः इति फलितोऽर्थः ।" सिद्धान्त कौमुदी, तत्त्वबोधिनी टीका सू. 'स्थानिवदादेशो.' ।

(64) 'पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन ' पृ. 41 ।

द्वितीय अध्याय
अच्णविंश

(1) 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' (3.1.6)

मान्, बध, दान्, शान् – इनसे सन् प्रत्यय हो तथा अभ्यास के विकार को दीर्घ हो।

उदा०– मीमांसते, बीभत्सते, दीदांशते, शीशांसते।

मीमांसते– मान् सन् त > मि मान् सते। अभ्यास के विकार 'इ' को दीर्घ हो मी मांसते = मीमांसते।

बीभत्सते -- बध सन् > बिभत्स। अभ्यास के विकार इ को दीर्घ होकर बीभत्स। बीभत्स त > बीभत्सते। सूत्र में सन् प्रत्यय एवं अभ्यास दीर्घ एक साथ विहित हैं इससे मान् बध आदि के आकार, अकार को ही दीर्घ होने लगता है इसलिए भाष्यकार ने 'दीर्घश्चाभ्यासस्य' का पदच्छेद --'दीर्घश्च आभ्यासस्य, आभ्यासः-- अभ्यासस्य विकारः।[1] किया है इससे अभ्यास के विकार 'इ' को ही दीर्घ होता है और इष्ट रूप बन जाता है।

(2) 'धिन्विकृण्व्योर च' (3.1.80)

धिवि, कृवि धातुओं से उ प्रत्यय तथा धातुओं को अकार अन्तादेश होता है।

उदा०– धिनोति, कृणोति।

धिनोति-- धिव् तिप् > धि न् व् ति। अब उ पत्यय एवं अकार अन्तादेश होने पर ----- धिन् अ उ ति बना। अकार लोप एवं उ को गुण होकर धिनोति शब्द बना।

सूत्रोपदिष्ट अकार अन्तादेश का 'अतोलोपः' से लोप हो जाता है और यह किसी प्रयोग में दिखता नहीं तथापि इस आदेश की यह उपयोगिता है कि यदि आदेश विहित न किया जाता और वकार का लोप करा दिया जाता तो धातु की उपधा में लघु इकार को लघुपधगुण प्राप्त होने लगता।

(3) 'ई च खनः' (3.1.111)

खन् धातु से क्यप् प्रत्यय और धातु के अन्तावयव को ईकारादेश होता है।

उदा०-- खेयम्।

खेयम्-- खन् धातु से सूत्रविहित क्यप् प्रत्यय तथा धातु को ईकार अन्तादेश होने पर ---- ख ई क्यप् > खेय। खेय सु > खेयम्।

(4) 'एरुः' (3.4.86)

लोडादेशों के इकार के स्थान पर उकारादेश हो। उदा०-- पचतु, पचन्तु आदि।

पचतु-- पच् लोट् > पच् तिप् > पचति। सूत्र द्वारा प्राप्त उकारादेश

होकर-- पचत् उ = पचतु ।

(5) 'एत ऐ' (3.4.94)

लोट् सम्बन्धी उत्तमपुरुष के एकार को ऐकारादेश हो।

उदा०-- एधै, करवै आदि ।

एधै-- एध लोट् > एध इट् > एधे। लोट् सम्बन्धी उत्तमपुरुष के एकार को सूत्रविहित ऐकार आदेश होने पर -- एध् ऐ = एधै ।

(6) 'आत ऐ' (3.4.95)

वेद विषय में लेट् लकार के आकार के स्थान पर ऐकारादेश होता है।

उदा०-- मादयैते, करवैते आदि ।

मादयैते-- मद् णिच् लेट् > मादय् आताम्। लेट् सम्बन्धी आकार को ऐकार होने पर -- मादय् ऐताम्= मादयैताम्। मादयैताम् > मादयैते ।

(7) 'वैतोऽन्यत्र' (3.4.96)

आत ऐ सूत्र के विषय को छोड़कर लेट् के एकार के स्थान पर विकल्प से ऐकार आदेश हो।

उदा०-- एधतै, शासै, इशै आदि । पक्ष में -- एधते, शासे, इशे ।

शासै-- शास् लेट् > शास् इट् > शासे। लेट् सम्बन्धी - ए को ऐ आदेश हो -- शास् ऐ=शासै ।

(8) 'पूतक्रतोरै च' (4.1.36)

पूतक्रतु शब्द से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय तथा प्रकृति को ऐकार अन्तादेश हो।

उदा०-- पूतक्रतायी ।

पूतक्रतायी- पूतक्रतोः स्त्री इस अर्थ में पूतक्रतु शब्द से ङीप् प्रत्यय तथा पूतक्रतु को ऐकार अन्तादेश होने पर -- पूतक्रत् ऐ ङीप् > पूतक्रतै ई। पूतक्रतै ई > पूतक्रतायी ।

(9) 'वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदानामुदात्तः' (4.1.37)

वृषाकपि, अग्नि, कुसित, कुसीद-- इन प्रातिपदिकों को स्त्रीलिंग में उदात्त ऐकारादेश तथा ङीप् प्रत्यय हो।

उदा०-- वृषाकपायी, अग्नायी, कुसितायी, कुसिदायी ।

वृषाकपायी-- वृषाकपि से सूत्रविहित ङीप् प्रत्यय एवं प्रातिपदिक को ऐकारादेश हो-- वृषाकप् ऐ ङीप् = वृषाकपै ई। वृषाकपै ई > वृषाकपायी ।

(10) 'मनोरौ वा' (4.1.38)

स्त्रीलिंग में मनु शब्द से ङीप् प्रत्यय तथा शब्द को औकारादेश विकल्प से होता है।

उदा० -- मनावी। पक्ष में-- मनायी तथा मनुः ।

मनावी, मनायी -- मनु > मन् औ ङीप् > मनौ ई। मनौ ई > मनावी। औकारादेश न होने पर ऐकारादेश पक्ष में 'मनायी' तथा ङीप् एवं औकारादेश के अभाव में 'मनु' प्रयोग बनते हैं।

(11) 'कस्येत्' (4.2.24)

'सास्य देवता' अर्थ में क शब्द से अण् प्रत्यय तथा तत्सन्नियुक्त क को ईकारादेश होता है।

उदा० -- कायं।

कायं-- 'को देवताऽस्य' अर्थ में क से अण् प्रत्यय तथा क को ईकार अन्तादेश होने पर -- क् ई अण् > की अण् बना। की अण् > कायं।

(12) 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' (5.4.135)

उत्, पूति, सु, सुरभि -- इन शब्दों से उत्तर गन्ध शब्द को बहुव्रीहि में समासान्त इकारादेश होता है।

उदा० --उद्गन्धिः, पूतगन्धिः, सुगन्धिः, सुरभिगन्धिः।

उद्गन्धिः--उद्गन्ध शब्द को इकार अन्तादेश हो -- उद्गन्ध इ = उद्गन्धि। उद्गन्धि सु उद्गन्धिः।

(13) 'अल्पाख्यायाम्' (5.4.136)

यदि अल्प की आख्या हो तो बहुव्रीहि समास में गन्ध शब्द को समासान्त इकारादेश होता है।

उदा० -- अल्पमस्मिन् भोजने घृतम् इति घृतगन्धिः।

घृतगन्धिः -- घृतगन्ध् इ = घृतगन्धि। घृतगन्धि सु > घृतगन्धिः।

(14) 'उपमानाच्च' (5.4.137)

बहुव्रीहि समास में उपमानवाची शब्दों से उत्तर गन्ध शब्द को भी समासान्त इकारादेश हो जाता है।

उदा० -- पद्मस्येव गन्धोऽस्य इति पद्मगन्धिः।

पद्मगन्धिः -- पद्मगन्ध शब्द को समासान्त इकार अन्तादेश हो -- पद्मगन्ध् इ = पद्मगन्धि। पद्मगन्धि सु > पद्मगन्धिः।

(15) 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (6.1.7)

तुजादि धातुओं के अभ्यास को दीर्घ होता है।

उदा० -- तूतुजानः, मामहानः, दाधारः।

तूतुजानः -- तुज् शानच् > तुतुजान। सूत्र द्वारा विहित अभ्यास दीर्घ होकर तूतुजान। तूतुजान सु = तूतुजानः।

(16) 'आदेच उपदेशेऽशिति' (6.1.44)

उपदेशावस्था में जो एजन्त धातु उसे शित् भिन्न प्रत्यय परे रहते आकारादेश हो।

उदा० -- ग्लातुम्, क्षायति आदि।

ग्लातुम् -- ग्लै तुमुन्। ग्लै एजादि धातु है अतः इसे सूत्र द्वारा आत्वादेश प्राप्त है। आत्व होने पर -- ग्लातुम् = ग्लातुम्।

(17) 'स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि' (6.1.46)

स्फुर् तथा स्फुल् धातुओं के एच् के स्थान में घञ् परे रहते आकारादेश हो जाता है।

उदा०-- विस्फारः, विस्फालः आदि।

विस्फारः -- वि स्फुर् घञ् > वि स्फोर् घञ्। धातु के एच् को आत्व

होने पर वि स्फार् अ = विस्फार । विस्फार सु = विस्फारः ।

(18) 'क्रीङ्जीनां णौ' (6.1.47)

डुक्रीञ्, इङ्. तथा जि -- इन धातुओं के एच् के स्थान में णिच् प्रत्यय परे रहते आकारादेश होता है ।

उदा०- क्रापयति, अध्यापयति, जापयति आदि ।

क्रापयति -- क्री णिच् > क्रे इ । धातु के एच् को आकार होकर - क्र आ इ बना क्रा इ तिप् > क्रा पुक् इ तिप् = क्रापयति ।

(19) 'सिध्यतेरपारलौकिके' (6.1.48)

सिध् धातु के एकार को णिच् परे रहते आकार हो किन्तु उस सिध् धातु द्वारा बोध्य क्रिया परलोक संबंधी न हो ।

उदा०-- अन्नं साधयति, ग्रामं साधयति ।

साधयति -- सिध् णिच् > सेध् इ । सिध् के एच् को आत्व होने पर साध् इ = साधि।साधि लट् > तिप् = साधयति ।

'तपस्तापसं सेधयति' यहाँ सिध् धातु द्वारा बोध्य क्रिया परलोक संबंधी अभ्युदय बताती है अतः धातु को आत्व नहीं हुआ ।

(20) 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' (6.1.49)

मीञ्, डुमिञ् एवं दीङ्. -- इन धातुओं को ल्यप् अथवा एच् निमित्तक प्रत्यय के प्रसङ्ग में आत्व हो जाता है ।

उदा०-- दाता, माता, प्रमायः इत्यादि ।

दाता -- दीङ्. लुट् > देङ्. तिप् । देङ्. को आत्व हो दा तिप् । दा तिप् > दा तास् डा > दाता ।

प्रमायः -- प्र मिञ् ल्यप् > प्र मे य । धातु के एच् को गुण हो -- प्र मा य । प्रमाय सु = प्रमायः।

(21) 'विभाषा लीयतेः' (6.1.50)

लीङ्. तथा ली धातु के ईकार को ल्यप् परे रहने पर या एज्निमित्तक प्रत्यय परे रहने पर विकल्प से आत्व होता है ।

उदा०-- विलाता, विलाय । पक्ष में-विलेता, विलीय ।

विलाता -- वि ली अथवा लीङ्. लुट् > वि ली तिप् । एज्निमित्तक प्रत्यय परे होने से धातु के ईकार को आत्व होने पर -- वि ला तिप् वि ला तिप् > वि ला डा > विलाता ।

विलेता -- वि ली तिप् । ईकार न होने पर गुण होकर वि ले तिप् > वि ले डा > विलेता ।

(22) 'खिदेश्छन्दसि' (6.1.51)

वेद विषय में खिद् धातु के एच् को वैकल्पिक आकारादेश होता है ।

उदा०-- चिखाद । पक्ष में चिखेद ।

चिखाद -- खिद् लिट् >खिद् णल् > खेद् णल् । धातु को आत्व हो- खाद् णल् > चिखाद ।

(23) 'अपगुरो णमुलि' (6.1.52)

णमुल् परे रहते अपपूर्वक गुर् धातु के एच् को विकल्प से आत्वादेश

होगा ।

उदा०— अपगारमपगारम् । पक्ष में – अपगोरमपगोरम् ।

अपगारमपगारम् —— अप गुर् णमुल् > अप गोर् णमुल् । धातु के एच् को आत्व हो —— अपगार् णमुल् = अपगारमपगारम् । आत्व के अभाव में अपगोरमपगोरम् ।

(24) 'चिस्फुरोर्णौ' (6.1.53)

चि एवं स्फुर् धातु के एच् को णिच् परे रहते विकल्प से आत्वादेश हो ।

उदा०—— चापयति, स्फारयति । पक्ष में – चाययति, स्फोरयति ।

चापयति, चाययति —— चि णिच् > चै इ । धातु के एच् को आत्व हो —— च् आ इ = चा इ । चा इ तिप् > चापयति । आत्व के अभाव में चै इ तिप् > चाययति ।

(25) 'प्रजने वीयतेः' (6.1.54)

प्रजन अर्थ गम्यमान हो तो वी धातु को वैकल्पिक आत्वादेश हो णि परे रहते ।

उदा०—— वापयति, वाययति ।

वापयति —— वी णिच् । धातु को आत्व हो वा इ । वा इ तिप् > वा प् अयति = वापयति । आत्वाभाव में वाययति ।

(26) 'बिभेतेर्हेतुभये' (6.1.55)

हेतु अर्थात् प्रयोजक ही जब भय का कारण बन रहा हो तो भी धातु के एच् के स्थान में णिच् परे रहते वैकल्पिक आत्वादेश हो।

उदा०—— भापयते । पक्ष में —— भीषयते ।

भापयते, भीषयते —— भी णिच् > भै इ । धातु के एच् को आत्व हो —— भा इ । भाप् इ तिप् > भापयति। आत्वाभाव पक्ष में – भै इ तिप् > भाययति । कुञ्चिकया एनं भाययति इस प्रयोग में प्रयोजक (देवदत्त आदि) भय का हेतु नहीं अतः यहाँ भापयति प्रयोग नहीं होगा ।

(27) 'नित्यं स्मयतेः' (6.1.56)

णिच् प्रत्यय परे रहते स्मिङ्. धातु के एच् को नित्य ही आत्व होता है यदि स्मय हेतु अर्थात् प्रयोजक हो तो ।

उदा० —— जटिलो विस्मापयते ।

विस्मापयते —— वि स्मिङ्. णिच् > वि स्मै इ । धातु के एच् को आत्व हो वि स्मा इ । वि स्मा इ त > विस्मापयते ।

(28) 'ख्यत्यात् परस्य' (6.1.108)

ख्य् एवं त्य् से परे ङसि तथा ङस् के अकार को उकारादेश होता है यदि संहिता का विषय हो तो ।

उदा०—— सख्युः, पत्युः ।

सख्युः —— सखि ङसि या ङस् > सख् य् अस् । ख्य् से परे ङसि एवं ङस् के अकार को उकार आदेश होने पर —— सख्य् उस् > सख्युः ।

पत्युः —— पति ङसि या ङस् > पत्य् अस् । प्रत्यय के अकार को उकारादेश होने पर —— पत्य् उस् > पत्युः ।

(29) 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (6.1.109)

संहिता विषय में अप्लुत अकार से पूर्व जो रु उसके रेफ को उकारादेश होता है।

उदा०-- शिवोऽर्च्यः ।

शिवोऽर्च्यः -- शिवस् अर्च्यः > शिव रु अर्च्यः । रु से परे अप्लुत अकार है अतः रु के रेफ को उकार आदेश होगा- शिव उ अर्च्यः । शिव उ अर्च्यः > शिवोऽर्च्यः ।

(30) 'हशि च' (6.1.110)

हश् परे रहते भी अप्लुत अकारपरक रु को उकार आदेश होता है।

उदा ०-- शिवो वन्द्यः ।

शिवो वन्द्यः -- शिवस् वन्द्यः । यहाँ शिव के अप्लुत अकारसे परे रु के रेफ को उकार प्राप्त है क्योंकि रेफ से परे हश् वकार है। शिव र् वन्द्यः > शिव उ वन्द्यः । शिव उ वन्द्यः > शिवो वन्द्यः ।

(31) 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्' (6.1.122)

वेद में आङ् को अच् परे रहते बाहुलकात् अनुनासिक आदेश होता है संहिता के विषय में।

उदा०--अभ्र आँ अपः । अनुनासिक नहीं हुआ -- इन्द्रोबाहुभ्याम् आतरत् ।

अभ्र आँ अपः -- यहाँ आङ् को अच् अकार (अपः) परे रहते अनुनासिक हो गया है।

(32) 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (6.1.123)

शाकल्य ऋषि के मत में इक् को असवर्ण अच् परे रहते ह्रस्व होगा और प्रकृतिभाव होगा।

उदा०-- चक्रि अत्र ।

यहाँ - 'चक्री अत्र' इस दशा में इक् से परे असवर्ण अच् रहते इक् को ह्रस्व एवं प्रकृतिभाव हो 'चक्रि अत्र' शब्द प्रयोग बना।

ऋषि का नामोल्लेख विकल्प फलित करता है अतः पक्ष में उपर्युक्त कार्य नहीं होंगे और यण् होकर चक्र् य् अत्र = चक्र्यत्र।

(33) "ऋत्यकः" (6.1.126)

शाकल्य ऋषि के मत में (अर्थात् विकल्प से) अक् से परे ह्रस्व ऋकार हो तो अक् को ह्रस्व एवं प्रकृतिभाव होगा।

उदा०-- खट्व ऋश्यः । पक्ष में-खट्वर्श्यः ।

खट्व ऋश्यः -- खट्वा ऋश्यः । यहाँ अक् आकार से परे ह्रस्व ऋकार है अतः सूत्र द्वारा अक् को ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव होकर -- खट्व ऋश्यः बना। ह्रस्व एवं प्रकृतिभाव के अभाव में गुण हो खट्वर्श्यः बना।

(34) 'दिव उत्' (6.1.127)

दिव् पद को उकारादेश होता है।

उदा० -- द्युभ्याम् ।

द्युभ्याम् -- दिव् भ्याम् । उकारादेश होने पर दि उ भ्याम् । दि उ भ्याम्

> द्युभ्याम् ।

(35) 'ईदग्ने: सोमवरुणयो:' (6.3.26)

देवतावाची द्वन्द्व समास में सोम या वरुण शब्द उत्तरपद हों तो अग्नि को ईकारादेश होता है ।

उदा० -- अग्नीषोमौ, अग्नीवरुणौ ।

अग्नीषोमौ -- अग्नि एवं सोम का देवतावाची द्वन्द्व समास होने पर सोम उत्तरपद रहने से अग्नि के ईकार को दीर्घ हो -- अग्नीसोम बना । अग्नीसोम औ > अग्नीषोमौ ।

(36) 'इद् वृद्धौ' (6.3.27)

देवतावाची शब्दों के द्वन्द्व समास में यदि वृद्धि किया हुआ शब्द उत्तरपद हो तो अग्नि शब्द को इकारादेश होता है ।

उदा०-- आग्निवारुणीम्, आग्निमारुतम् ।

इन उदाहरणों में वरुण एवं मरुत शब्दों में वृद्धि हुई है । ईदग्ने: से प्राप्त दीर्घ ईकार के निवृत्यर्थ सूत्र द्वारा ह्रस्व इकार विहित हुआहै और अग्नि का इकार ह्रस्व ही रह गयाहै ।

(37) 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु' (6.3.42.)

भाषितपुंस्क शब्द से उत्तर जो ङि. तदन्त अनेकाच् शब्द को ह्रस्व हो जाता है घ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत, तथा हत शब्दों के परे रहते ।

उदा०-- ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणितमा (तरप्तमपौ घ:) ब्राह्मणिरूपा, ब्राह्मणिकल्पा, ब्राह्मणिचेली, ब्राह्मणिब्रुवा, ब्राह्मणिगोत्रा, ब्राह्मणिमता, ब्राह्मणिहता आदि । इन शब्दों में पूर्वपद ब्राह्मणी ङ्यन्त है एवं भाषितपुंस्क है अत: रूप- कल्पादि शब्दों के उत्तरपद होते इसको ह्रस्व अन्तादेश हुआ है ।

'भाषितपुंस्क' पारिभाषिक शब्द है । इस शब्द का अर्थ है - वह शब्द जो पुल्लिंग एवं नपुंसक लिंग दोनों में एक ही अर्थ में प्रयुक्त हो । सुधी शब्द का अर्थ बुद्धिमान है और यह शब्द पुलिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों में इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है अतएव यह भाषितपुंस्क है । 'पीलु' शब्द का वृक्ष और फल दोनों अर्थों में प्रयोग होता है किन्तु पुलिंग में वृक्ष अर्थ एवं नपुंसक लिंग में फल अर्थ होने से यह भाषितपुंस्क है । पुलिंग में इसका रूप 'पीलवे' तथा नपुंसक लिंग में 'पीलुने' बनता है ।

(38) 'नद्या: शेषस्यान्यतरस्याम्' (6.3.43)

नदीसंज्ञक शेष शब्दों को विकल्प से घादियों के परे रहते ह्रस्व हो ।

उदा०-- ब्रह्मबन्धुतरा, ब्रह्मबन्धुतमा, वीरबन्धुतरा आदि । ह्रस्व के अभाव में ब्रह्मबन्धूतरा ब्रह्मबन्धूतमा आदि ।

(39) 'उगितश्च' (6.3.44)

उगित अर्थात् वे शब्द जिनका उकार अथवा इकार या ऋकार इत्संज्ञक हो, से परे जो नदी तदन्त को घादियों के परे रहने पर विकल्प से ह्रस्व होता है ।

उदा०-- विदुषितरा, विदुषितमा। पक्ष में -- विदुषीतरा, विदुषीतमा आदि।

विदुषितरा, विदुषीतरा -- विदुषी शब्द नदीसंज्ञक है तथा विद् धातु से वसु प्रत्यय हो, सम्प्रसारण कर विदुष् शब्द बना है अतः वसु के उगित होने से विदुष् उगित् है अतः उगित् नदीसंज्ञक विदुषी से परे घसंज्ञक तरप् के रहने से विदुषी को विकल्प से ह्रस्वादेश प्राप्त है। ह्रस्व होने पर विदुषितरा तथा ह्रस्वाभाव में विदुषीतरा शब्द बनें।

(40) 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' (6.3.46)

समानाधिकरण तथा जातीयर् प्रत्यय परे हो तो महत् शब्द को अकार अन्तादेश होता है।

उदा०-- महादेवः, महाब्राह्मणः, महाबाहुः आदि।

महादेवः -- महत् एवं देव का 'महान् च असौ देवश्च' इस विग्रह में समास हुआ। महान् एवं देव दोनों ही प्रथमान्त हैं अतः समानाधिकरण है इस स्थिति में आलोच्य सूत्र से महत् के तकार को आकार अन्तादेश हो जाता है-- मह आ देव = महादेव, महादेव सु = महादेवः।

महाजातीयः -- महत् जातीय। जातीयर् प्रत्यय परे रहते महत् को आकार अन्तादेश होने पर -- मह आ जातीय > महाजातीय।

(41) 'द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः' (6.3.47)

द्वि तथा अष्टन शब्दों को संख्या उत्तरपद रहते आत्वादेश हो किन्तु अशीति परे हो तो न हो।

उदा०-- द्वादश, अष्टादश आदि।

द्वादश -- 'द्वि च दश च' इस विग्रह में द्वि एवं दस का समास होने पर सूत्र द्वारा द्वि को आत्वादेश प्राप्त हुआ -- द्व् आ दश > द्वादश।

अष्टादश -- अष्टन् एवं दश का समास होने पर अष्टन् को आकार अन्तादेश हो - अष्ट आ दश = अष्टादश शब्द बना।

(42) 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' (6.3.60)

ऐसे इगन्त शब्द जो ङ्यन्त न हो, को गालव आचार्य के मत में उत्तरपद परे रहते ह्रस्व होता है।

उदा०- ग्रामणिपुत्रः। पक्ष में - ग्रामणीपुत्र।

ग्रामणी इगन्त और ङ्यन्त है अतः इसे ह्रस्व अन्तादेश हुआ। गालव आचार्य का नाम ग्रहण करने से विकल्प फलित होता है अतः पक्ष में ह्रस्व नहीं भी होगा।

(43) 'एक तद्धिते च' (6.3.61)

एक शब्द को तद्धित तथा उत्तरपद परे रहते ह्रस्व होता है।

उदा०- एकता, एकशाटी इत्यादि।

एकता -- एक टाप् > एका, एका तल्। एका को तद्धित् तल् परे रहते ह्रस्व होने पर -- एक तल् > एकता।

एकशाटी -- एका शाटी। उत्तरपद परे रहते एक को ह्रस्व हो -

एकशाटी शब्द बना।

सूत्र में गृहीत एक शब्द टाबन्त एक शब्द (स्त्रीलिंग संबंधी) ही है क्योंकि पुल्लिंग एवं नपुंसक लिंग में ह्रस्वविधान व्यर्थ है कारण यह है कि एक शब्द स्वतः ह्रस्वान्त है। इसलिए टाबन्त 'एका' को ही एक शब्द से ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इसी के विषय में ह्रस्व-विधान सार्थक है।

(44) **'ङ्यापो संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (6.3.62)**

ङ्यन्त एवं आप् - प्रत्ययान्त शब्दों को संज्ञा तथा वेद विषय में ह्रस्व होता है।

उदा०-- रेवतिपुत्रः, रोहिणिपुत्रः, कुमारिदारा आदि। बाहुलकात् विहित होने से कहीं कहीं नहीं भी होता। यथा- नान्दीकरः, फाल्गुनीपौर्णमासी आदि।

रेवती एवं रोहिणी दोनों ङ्यन्त शब्द हैं इन्हें संज्ञा विषय में ह्रस्व हुआ है। 'कुमारिदारा' वेद विषय में ह्रस्व का उदाहरण है। 'नान्दीकरः' संज्ञा विषय में एवं 'फाल्गुनीपौर्णमासी' वेद विषय में ह्रस्वाभाव का उदाहरण है।

(45) **'त्वे च ' (6.3.63)**

त्व प्रत्यय परे रहते भी ङ्यन्त तथा आबन्त को बाहुलकात् ह्रस्व होता है।

उदा०- अजत्वम्, रोहिणित्वम। बाहुलकात् होने से अजात्वम्, रोहिणीत्वम् भी बनते हैं। अजा आबन्त एवं रोहिणी ङ्यन्त के उदाहरण हैं।

(46) **'इष्टकेषीकामालानां चितत्तूलभारिषु' (6.3.64)**

इष्टका, इषीका, माला -- इन तीन शब्दों को क्रमशः चित, तूल, भारिन् शब्दों के परे रहने पर ह्रस्व हो जाता है।

उदा०-- इष्टकचितम्, इषीकतूलम्, मालभारिणी इन प्रयोगों में पूर्वपद के अन्त्य अच् को ह्रस्व हो गया है।

(47) **'खित्यनव्ययस्य' (6.3.65)**

खित् शब्द के उत्तरपद रहते अव्ययभिन्न शब्द को ह्रस्व हो जाता है।

उदा०-- कालिम्मन्या।

कालिम्मन्या -- काली मुम् मन् श्यन् खश् टाप् > काली म्मन्या। मन्या खित् शब्द है अतः काली को ह्रस्व अन्तादेश हो कालि म् मन्या = कालिम्मन्या शब्द बना।

(48) **'आ सर्वनाम्नः' (6.3.90)**

दृग्, दृश् या वतुप् परे हो तो सर्वनामसंज्ञक शब्दों को आत्वादेश होता है।

उदा०- तादृक्, तादृशः, तावान् इत्यादि।

तादृक् -- तद् दृश् क्विन् सु > तद् दृश् सु > तद् दृग् सु। आत्वादेश हो - त आ दृग् सु > ता दृग् सु। ता दृग् सु > तादृक्।

तादृशः -- तद् दृश् कन्। दृश् परे रहते सर्वनाम शब्द दृश् को आकार अन्तादेश हो -- त आ दृश् अ = तादृश। तादृश सु = तादृशः।

(49) **'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (6.3.96)**

द्वि, अन्तर् तथा उपसर्ग से उत्तर अप् शब्द को ईकार होता है।

उदा०-- द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम्, वीपम्, नीपम् आदि ।
द्वीपम्-- द्वि से परे अप् के अकार को ईकार हो द्वि ईप् > द्वीप् बना । द्वीप् सु > द्वीप् अम् = द्वीपम् । इसी प्रकार अन्तर शब्द तथा सम्, वि, नि आदि उपसर्ग से परे अप् के अकार को ईकार होने पर अन्तरीपम्, समीपम्, वीपम्, नीपम् आदि बने ।

(50) 'ऊदनोर्देशे' (6.3.97)

अनु शब्दों से उत्तर अप् शब्द को ऊकारादेश होता है यदि देश का अभिधान करना हो तो ।
उदा०-- अनूप ।
अनूप एक देशविशेष का नाम है । अतः अनु से परे अप् के अकार को ऊकार आदेश हुआ है । अनु ऊप् > अनूप > अनूप अच् सु अनूपः ।

(51) 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (6.3.110)

जहाँ ढकार या रेफ का लोप हुआ हो उसके पूर्व अण् को दीर्घ होता है ।
उदा० -- लीढम्, मीढम्, उपगूढम्, मूढः आदि ।
लीढम् -- लिह् क्त > लिह् त > लिढ् त > लिढ् ध >लिढ् ढ > लि ढ । यहाँ ढ का लोप हुआ है अतः सूत्रविहित दीर्घ प्राप्त है । दीर्घ हो -- ली ढ । लीढ सु > लीढम् ।

(52) 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (6.3.111)

ढकार और रेफ का लोप होने पर सह् तथा वह् धातु के अवर्ण को ओकारादेश होता है ।
उदा०-- सोढा, वोढा, सोढुम्, वोढुम् आदि । सोढा, वोढा -- सह् या वह् से तृच् । हकार को ढत्व, तृच् के तकार को ध, ध को ढ, धातु के ढ का लोप हो स ढृ, व ढृ बने । धातु के अवर्ण को ओकारादेश होकर -- सोढृ, वोढृ । प्रथमा एक वचन में सोढा, वोढा शब्द बनते हैं ।

(53) "कर्णेलक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य ।"(6.3.114)

विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक -- इन शब्दों को छोड़कर कर्ण शब्द उत्तरपद रहते लक्षणवाची शब्दों के अण् को दीर्घ होता है संहिता के विषय में ।
उदा०--दात्राकर्णः, अङ्गुलाकर्णः द्विगुणाकर्णः आदि । लक्षण् से तात्पर्य है वह विशेष चिह्न जो पहचान के लिए पशुओं के शरीर पर अंकित किया गया हो ।

(54) 'नहि वृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (6.3.115)

संहिता में नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि, तनि - इन क्विप् प्रत्ययान्त शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्व अण् को दीर्घ हो जाता है ।
उदा०-- उपानत्, नीवृत्, प्रावृट्, मर्माविध्, नीरुक्, ऋतीषट्, परीतत् आदि ।
उपानत् -- उप नह् क्विप् । पूर्व अण् को दीर्घ हो - उपा नह् । उपानह्

सु > उपानत् ।
नीरुक् -- नि रुच् क्विप् > नि रुच् । रुच् परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होनेपर नी रुच् । नीरुच् सु > नीरुक् ।

(55) **'वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम्' (6.3.116)**
वन तथा गिरि शब्द उत्तरपद में हों तो कोटरादिगण एवं किंशुलकादिगण में पठित शब्दों को संज्ञाविषय में दीर्घ होगा ।
उदा०-- कोटरावणम्, मिश्रकावणम्, पुरगावणम्, सिध्रकावणम्, किंशुलकागिरिः, शाल्वकागिरिः, अन्जनागिरिः, भन्जनागिरिः आदि ।
इन उदाहरणों में कोटर, किंशुलक इत्यादि शब्दों का अन्त्य अच् दीर्घ हुआ है ।

(56) **'वले' (6.3.117)**
वलच् प्रत्यय परे हो तो पूर्व अण् को दीर्घ होता है ।
उदा०-- कृषीवलः ।
कृषीवलः -- कृषि वलच् । वल के परे रहने पर पूर्व अण् को दीर्घ होने पर - कृषीवल । कृषीवल सु = कृषीवलः ।

(57) **'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्' (6.3.118)**
अजिरादि को छोड़कर बह्वचक शब्दों के अण् को दीर्घ होता है संज्ञा विषय में यदि मतुप् प्रत्यय परे हो तो ।
उदा०-- पुष्करावती, अमरावती, उदुम्बरावती आदि । पुष्कर, अमर, उदुम्बर आदि बह्वच्क शब्दों के परे मतुप् प्रत्यय होने से इनके अन्त्य अण् को दीर्घ हो गया है ।

(58) **'शरादीनां च' (6.3.119)**
शरादिगणपठित शब्दों को मतुप् परे रहते दीर्घ होता है यदि शब्द संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हो रहा हो तो ।
उदा०-- शरावती, वंशावती, धूमावती आदि । उदाहृत शब्द संज्ञारूप में प्रयुक्त होंगे तभी इनके प्रकृति भाग के अन्त्य अण् को दीर्घ होगा ।

(59) **'इको वहेऽपीलोः' (6.3.120)**
पीलु शब्द को छोड़कर जो इगन्त पूर्वपद वाले शब्द उनको दीर्घ होगा यदि वह् शब्द उत्तरपद हो तो ।
उदा०-- ऋषीवहम्, कपीवहम् आदि ।
ऋषीवहम् -- ऋषि एवं वह् शब्दों का समास होने पर इगन्त ऋषि के अन्त्य इकार को दीर्घ होकर - ऋषी वह् बना । ऋषीवह् सु > ऋषीवहम् ।

(60) **'उपसर्गे घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (6.3.121)**
घञन्त उत्तरपद रहते अमनुष्य अभिधेय होने पर उपसर्ग के अण् को बहुलता से दीर्घ होता है ।
उदा०-- वीक्लेदः, वीमार्गः, अपामार्गः ।
वीक्लेदः -- वि क्लिद् घञ् । गुण हो वि क्लेद् अ । घञन्त क्लेद शब्द परे रहते उपसर्ग के अण् को दीर्घ होकर वी क्लेद । वीक्लेद सु > वीक्लेदः ।

(61) 'इकः काशे' (6.3.122)

इगन्त उपसर्ग को काश शब्द उत्तरपद रहते दीर्घ होता है यदि संहिता का प्रसंग हो तो।

उदा०-- नीकाशः, वीकाशः, अनूकाशः आदि।

नीकाशः -- नि काश। उपसर्ग के अण् को दीर्घ होकर नी काश। नीकाश सु नीकाशः।

(62) 'दस्ति' (6.3.123)

दा के स्थान में हुआ जो तकारादि आदेश उसके परे रहते इगन्त उपसर्ग को दीर्घ होता है।

उदा०-- नीत्तम्, वीत्तम्, परीत्तम्।

नीत्तम् -- नि दा क्त > नि द् त् त > नि त् त। दा के स्थान में तकारादि आदेश हुआ है अतएव उसके पूर्व इगन्त उपसर्ग को दीर्घ होकर -- नी त्त बना। नीत्त सु > नीत्तम्।

(63) 'अष्टनः संज्ञायाम्' (6.3.124)

उत्तरपद परे रहते अष्टन् शब्द को दीर्घ होगा संज्ञा विषय में।

उदा०-- अष्टावक्रः, अष्टाबन्धुरः, अष्टापदम्, अष्टाध्यायी।

अष्टावक्र -- अष्टन् एवं वक्र का समास होने पर अष्टन् वक्र बना। अष्टन् वक्र > अष्ट वक्र। अब अष्ट को दीर्घ होने पर - अष्टावक्र बना।

(64) 'छन्दसि च' (6.3.125)

वेद विषय में भी उत्तरपद परे रहते अष्टन् को दीर्घ होता है।

उदा०-- अष्टाकपालम्, अष्टाहिरण्या, अष्टापदी।

अष्टाकपालम् -- अष्ट कपाल इस दशा में अष्ट को दीर्घ हो अष्टा कपाल। स्वादि कार्य हो- अष्टाकपालम्।

(65) 'चितेः कपि' (6.3.126)

कप् प्रत्यय परे हो तो चिति शब्द को संहिता विषय में दीर्घ होता है।

उदा०- एकचितीकः, द्विचितीकः, त्रिचितीकः आदि।

एकचितीकः --एक चिति कप्। कप् परे रहते चिति को दीर्घ होकर एक चिती क। एक चितीक सु = एकचितीकः।

(66) 'विश्वस्य वसुराटोः' (6.3.127)

यदि वसु अथवा राट् शब्द परे हो तो विश्व शब्द को दीर्घ होगा।

उदा०-- विश्वावसु, विश्वाराट्।

(67) 'नरे संज्ञायाम्' (6.3.128)

नर शब्द परे हो तो संज्ञाविषय में विश्व शब्द को दीर्घ हो जाएगा।

उदा०- विश्वानर।

(68) 'मित्रे चर्षौ' (6.3.129)

मित्र शब्द परे हो और ऋषि अभिधेय हो तो विश्वशब्द को दीर्घ होता है।

उदा०-- विश्वामित्र।

(69) 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (6.3.120)

मन्त्र विषय में सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य – इन शब्दों को मतुप् परे रहने पर दीर्घ हो जाता है।

उदा०-- सोमावती, अश्वावती, इन्द्रियावती, विश्वदेव्यावती आदि।
सोमावती –सोमावती – सोमवतुप्। सोम को दीर्घ हो सोमावत्। स्त्रीलिंग में – सोमावती।

(70) 'ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्' (6.3.131)

मन्त्र विषय में प्रथमा को छोड़ अन्य विभक्तियों के परे रहने पर ओषधि शब्द को दीर्घ होता है।

उदा०-- नम ओषधीभ्यः। यहाँ ओषधि के अन्त्य इकार को दीर्घ हुआ है।

(71) 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (6.3.132)

तु, नु, घ, मक्षु, तङ्., कु, त्र, उरुष्य -- इन शब्दों को ऋचा विषय में दीर्घ हो जाता है। उदा०--

आ तू न इन्द्र वृत्रहन्।
नू मर्तः।
उत वा घा स्यालात्।
मक्षू गोमन्तमीमहे।
भरता जातवेदसम्।
कूमनः।
अत्रा गौः।
उरुष्याः णोऽग्नेः।

(72) 'इकः सुञि' (6.3.133)

इगन्त शब्द को मन्त्र विषय में सुञ् (निपात) परे रहने पर दीर्घ होता है।

उदा०-- अभी षु णः सखीनाम्।

(73) 'द्व्यचोऽतस्तिङ.' (6.3.134)

द्वि – अच्क अकारान्त क्रियापद के अकार को ऋचा विषय में दीर्घ होता है।

उदा०-- विद्मा हि त्वा। यहाँ विद्म – इस द्वि–अच्क क्रिया पद को दीर्घ हुआ है।

(74) 'निपातस्य च' (6.3.135)

ऋचा विषय में निपात को भी दीर्घ होता है।

उदा०-- एवा ते। एव निपात को दीर्घ हुआ है।

(75) 'अन्येषामपि दृश्यते' (6.3.136)

कहे गए प्रसंगों के अतिरिक्त (अन्य शब्दों को) भी दीर्घ दिखाई पड़ता है।

उदा०-- केशाकेशि, जलाषाट्, नारकः, पूरुषः।

(76) 'चौ' (6.3.137)

चु (अन्चु) का अकार एवं अकार लोप करने के बाद बचा हुआ स्वरूप परे हो तो पूर्व अण् को दीर्घ होता है।

उदा०-- दधीचः ।

दधीचः -- दधि च (अन्चु) शस् । च से पूर्व जो अण् उसे दीर्घ हो दधी च शस् > दधीचः ।

(77) 'सम्प्रसारणस्य' (6.3.138)

सम्प्रसारणान्त पूर्वपद के अण् को उत्तरपद परे रहने पर दीर्घ हो जाता है।

उदा०-- कारीषगन्धीपुत्रः ।

करीष एवं गन्ध का समास, अण् प्रत्यय, अण् को ष्यङ्., चाप् प्रत्यय हो कारीषगन्ध्या शब्द बना। कारीषगन्ध्या एवं पुत्र का समास होने पर कारीषगन्ध्या के यकार का सम्प्रसारण, पूर्वरूप हो कारीषगन्धि पुत्र बना। कारीषगन्धि सम्प्रसारणान्त पूर्वपद है अतः दीर्घ होकर कारीषगन्धीपुत्र बना स्वादिकार्य हो अभीष्ट शब्द बना।

(78) 'हलः' (6.4.2)

अङ्ग का अवयव जो हल् उससे उत्तरवर्ती सम्प्रसारणान्त अंग को दीर्घ होता है।

उदा०-- जीनः, संवीतः ।

जीनः -- ज्या क्त > ज् इ आ क्त > जि त। ज् अंग का अवयव हल् है इससे परे सम्प्रसारण इकार है अतः सम्प्रसारणान्त जि को दीर्घ होगा -- जी त। जी त > जीन। जीन सु > जीनः ।

(79) 'नामि' (6.4.3)

नाम् परे हो तो अजन्त अंग को दीर्घ होता है।

उदा०-- रामाणाम् ।

रामाणाम् -- राम आम् > राम न् आम् > राम नाम्। दीर्घ होने पर -- रामा नाम् > रामाणाम् ।

(80) 'नोपधायाः' (6.4.7)

नकारान्त अंग की उपधा को नाम् परे रहते दीर्घ होगा।

उदा०-- पन्चानाम्, अष्टानाम्, दशानाम् ।

पन्चानाम् -- पन्चन् नाम्। नकारान्त अंग की उपधा को दीर्घ होकर - पन्चान् नाम्। पन्चान् नाम् > पन्चानाम् ।

(81) 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' (6.4.8)

सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्ति के यदि वह सम्बुद्धि की न हो तो परे रहने पर नान्त अंग की उपधा को दीर्घ होता है।

उदा०-- राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, राजानौ ।

राजा-- राजन् सु। नान्त अंग की उपधा को दीर्घ हो -- राजान् सु। राजान् सु > राजा ।

राजानौ -- राजन् औ। उपधा दीर्घ हो -- राजान् औ = राजानौ ।

(82) 'वा षपूर्वस्य निगमे' (6.4.9)

वेद विषय में नकारान्त अंग की उपधा को विकल्प से दीर्घ होता है यदि उपधा के अच् से पहले षकार हो तो।

उदा०-- ऋभुक्षाणमिन्द्रम्। पक्ष में - ऋभुक्षणम्। ऋभुक्षिन् नान्त अंग है तथा उपधा के अच् से पूर्व षकार (क्ष = क + ष) है अतः इसकी उपधा को दीर्घ हुआ है।

(83) 'सान्तमहतः संयोगस्य' (6.4.10)

सकारान्त संयोग का जो नकार तथा महत् का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ होता है यदि सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान विभक्ति परे हो तो।

उदा०--श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः, महान्, महान्तौ, महान्तः आदि।

महान् -- महत् सु > महन्त् सु > महन् स्। महत् के नकार की उपधा को दीर्घ होकर -- महान् स् > महान्।

श्रेयान् -- श्रेयस् सु > श्रेयन् स् सु > श्रेयन् स्। उपधादीर्घहो - श्रेयान् स् > श्रेयान्।

(84) 'अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम्' (6.4.11)

अप्, तृन्, तृच्, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ -- इन अंगों की उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्नसर्वनामस्थान प्रत्यय परे हो तो।

उदा०-- आपः, कर्त्तारः, कर्त्तारौ, स्वसारौ, नप्तारौ, नेष्टारौ, त्वष्टारौ, क्षत्तारौ, होतारौ, पोतारौ, प्रशास्तारौ आदि।

आपः -- अप् जस्। उपधा दीर्घ हो -- आप् जस्। आप् जस् > आपः।

कर्त्तारः -- कृ तृन् > कर्तृ। कर्तृ जस् > कर्त्त अस्। उपधा दीर्घ हो - कर्तार् अस्। कर्त्तार् अस् > कर्त्तारः।

स्वसारौ -- स्वसृ औ > स्वसर् औ। उपधा दीर्घ हो --- स्वसार् औ = स्वसारौ।

(85) 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (6.4.12)

इन् प्रत्ययान्त, हन्, पूषन्, अर्यमन् - इन अंगों की उपधा को शि विभक्ति परे रहते दीर्घ हो जाता है।

उदा०-- बहुदण्डीनि, बहुवृत्रहाणि, बहुपूषाणि, बहुर्यमाणि।

बहुदण्डीनि -- बहुदण्डिन् शि। दण्डिन् इन् प्रत्ययान्त है अतः शि परे रहते इसकी उपधा को दीर्घ हो गया - बहुदण्डीन् शि = बहुदण्डीनि।

(86) 'सौ च' (6.4.13)

सम्बुद्धिभिन्न सु विभक्ति परे रहते भी इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् - इन अंगों की उपधा दीर्घ हो जाती है।

उदा०-- दण्डी, वृत्रहा, पूषा, अर्यमा आदि।

वृत्रहा-- वृत्रहन् सु। हन् अंग की उपधा को दीर्घ होने पर - वृत्रहान् सु > वृत्रहा रूप सिद्ध हुआ।

दण्डी- दण्डिन् सु। इन् प्रत्ययान्त दण्डिन् की उपधा दीर्घ हो -- दण्डीन्

सु बना। दण्डीन् सु > दण्डी।

(87) 'अत्वसन्तस्यचाधातोः' (6.4.14)

अतु अन्तवाले और अस् अन्त धातुभिन्न अंग की उपधा को भी दीर्घ हो जाता है यदि सम्बोधन से भिन्न सु प्रत्यय परे हो तो।

उदा०-- भवान्, कृतवान्, गोमान्, सुपयाः, सुयशाः।

गोमान् -- गोमत् सु। गोमत् शब्द अत्वन्त है (गो मतुप्) अतः प्रथमा एकवचन की सु विभक्ति परे रहते इसकी उपधा को दीर्घ हुआ -- गोमात् सु > गोमान्।

सुयशाः - सुयशस् सु। सुयशस् शब्द असन्त है (सु युट् अश् असुन्) अतः इसकी उपधा को दीर्घ होकर -- सुयशास् सु बना। सुयशास् सु > सुयशाः।

(88) 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' (6.4.15)

क्वि (क्विप्), झलादि कित् ङित् परे हों तो अनुनासिकान्त अंग की उपधा को दीर्घ होता है।

उदा०-- प्रशान्, प्रदान्, प्रतान्, शान्तः, शंशान्तः आदि।

प्रशान् -- प्र शम् क्विप्। क्विप् परे रहते अनुनासिकान्त अंग शम् की उपधा दीर्घ हो -- प्र शाम् क्विप्।

प्र शाम् क्विप् > प्रशान्।

शान्तः -- शम क्त। झलादि कित् क्त परे रहते अनुनासिकान्त अंग की उपधा दीर्घ होने पर -- शाम् त। शाम् त सु > शान्तः।

शंशान्तः -- शम् यङ्। झलादि यङ् परे रहते अनुनासिकान्त अंग की उपधादीर्घ हो -- शाम् यङ् हुआ। शाम् यङ् तस् > शंशान्तः।

(89) 'अज्झनगमां सनि' (6.4.16)

अजन्त अंग, हन् तथा गम् -- इनसे परे झलादि सन् हो तो इन्हें दीर्घ होता है।

उदा०-- चिचीषति, चिकीर्षति, जिहीर्षति, जिघांसति, अधिजिगांसति।

चिकीर्षति -- कृ सन्। कृ अजन्त अंग है अतः इससे परे झलादि सन् रहते इसे दीर्घ प्राप्त हुआ। दीर्घ हो - कॄ सन्। कॄ सन् तिप् > चिकीर्षति।

जिघांसति -- हन् सन्। उपधा दीर्घ होकर -- हान् स। हान् स तिप् > घान् स ति > घ घान् सति > ज घान् सति > जिघांसति।

अधिजिगांसति -- अधि इङ् सन् > अधि गम् सन्। गम् की उपधा दीर्घ हो -- अधि गाम् स। अधि गाम् स लट् > तिप् = अधिजिगांसति।

(90) 'तनोतेर्विभाषा' (6.4.17)

तन् अंग को झलादि सन् परे रहते विकल्प से दीर्घ होता है।

उदा०-- तितांसति। पक्ष में तितंसति।

तितांसति, तितंसति -- तन् सन्। दीर्घ पक्ष में -- तान् स। तान् स तिप् > तितांसति। दीर्घ के अभाव में तन् सन् तिप् > तितंसति।

(91) 'क्रमश्च क्त्वि (6.4.18)

क्रम की उपधा को झलादि क्त्वा प्रत्यय परे रहते विकल्प से दीर्घ होता है।

उदा०-- क्रान्त्वा। पक्ष में -- क्रन्त्वा।

क्रान्त्वा -- क्रम् क्त्वा। उपधा दीर्घ होकर -- क्राम् त्वा > क्रन् त्वा = क्रान्त्वा। उपधादीर्घ न होने पर क्रम् क्त्वा > क्रन्त्वा।

(92) 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (6.4.19)

च्छ् और व के स्थान में यथाक्रम श् एवं ऊठ् आदेश होते हैं यदि अनुनासिकादि, क्वि, झलादि कित् या ङित् प्रत्यय परे हों तो।

उदा०-- प्रश्नः, विश्नः, प्राट्, पृष्ट्वा, द्यूतः, द्युभ्याम्।

प्रश्नः -- प्रच्छ नङ्। नङ् अनुनासिकादि प्रत्यय है अतः प्रच्छ के 'च्छ' को श आदेश हो जाता है। प्र श् न = प्रश्न, प्रश्न सु = प्रश्नः।

प्राट् -- प्रच्छ् क्विप् > प्राच्छ् क्विप्। च्छ् को श् हो -- प्र श् क्विप्। प्राश् क्विप् > प्राश्। प्राश् सु > प्राट्।

द्यूतः -- दिव् क्त। झलादि कित् परे रहते वकार को ऊठ् हो -- दि ऊ त > द्यूत। द्यूत सु =द्यूतः।

(93) 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (6.4.20)

ज्वर, त्वर, स्रिवि, अव, मव -- इन अंगों की उपधा एवं वकार के स्थान पर ऊठ् आदेश होता है, क्वि झलादि कित्, ङित् एवं अनुनासिकादि प्रत्यय परे हों तो -

उदा०-- जूः, जूरः, जूर्तिः, तूः, तूरः, तूर्तिः, तूर्णः, स्रूः, स्रुवौ, स्रुवः, ऊः, औ, उवः, मूः, मुवौ, मुवः, मूतः, मूतिः इत्यादि।

जूः -- ज्वर् क्विप्। ऊठ् आदेश हो जू ऊ र क्विप् > जूर्। जूर् सु > जूः।

तूर्णः -- त्वर् क्त। ऊठ् हो त् ऊ र् त = तूर् त। तूर् त > तूर्ण। तूर्ण सु= तूर्णः।

ऊः -- अव क्विप् सु > अव सु। ऊठ् हो अऊ सु। अ ऊस् > ऊ स् > ऊः।

मूतिः -- मव क्तिन्। ऊठ् हो म ऊ ति। मऊ ति > मूति सु > मूतिः।

(94) 'शास इदङ्हलोः' (6.4.34)

शास् अंग की उपधा को इकारादेश होगा हलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो।

उदा०-- शिष्टः, अशिषः, अन्वशिषत्।

शिष्टः -- शास् क्त। उपधा को इकार हो -- शिस् त। शिस् त > शिष्ट, शिष्ट सु = शिष्टः

अशिषः -- अट् शास् मस्। उपधा को इकार हो अ शिस् मस्।

अशिस् मस् > अशिषः ।

अन्वशिषत् -- अनु अट् शास् च्लि तिप् > अन्व शास् अंग त् । शास् की उपधा को इकार हो अन्वशिस् अत् = अन्वशिषत् ।

(95) 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (6.4.41)

विट् तथा वन् प्रत्यय परे हों तो अनुनासिकान्त अंग को आकारादेश होता है ।

उदा०-- अब्जाः, गोजाः, ऋतजाः, अग्रिजाः विजावा आदि ।

अब्जाः -- अप् जन् विट् । विट् परे रहते अनुनासिकान्त अंग जन् को आकारादेश हो -- अप् ज आ विट् । अप् ज आ विट् > अब्जा । सु हो अब्जा ।

विजावा -- वि जन् वनिप् > वि जन् वन् । जन् को आकार अन्तादेश होनेपर -- वि ज आ वन्> विजावन् । विजावन् सु > विजावा ।

(96) 'तनोतेर्यकि' (6.4.44)

तन् अंग को विकल्प से यक् परे रहते आकारादेश होता है ।

उदा०-- तायते । पक्ष में -- तन्यते ।

तन् यक् त । आत्व हो -- त आ य त । त आ य त > तायते ।

आत्वाभाव पक्ष में - तन् य त > तन्यते ।

(97) 'सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' (6.4.45)

क्तिच् प्रत्यय परे रहते सन् अंग को आकारादेश हो जाता है तथा विकल्प से इसका लोप भी होता है ।

उदा०-- सातिः । लोप पक्ष में सतिः ।

सन् क्तिच् । आकारादेश हो -- स आ क्तिच् > साति । स्वादिकार्य हो सातिः । आत्व के अभाव में न् का लोप होकर -- स ति = सति सति सु = सतिः ।

(98) 'युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि' (6.4.58)

यु और प्लु - इन्हें वेद विषय में ल्यप् परे रहने पर दीर्घ हो जाता है ।

उदा०-- दान्त्यनुपूर्वं वियूय । यत्रा यो दक्षिणा परिप्लूय ।

वियूय -- वि यु ल्यप् । यु को दीर्घ हो -- वि यू य = वियूय ।

परिप्लूय -- परि प्लु ल्यप् । प्लु को दीर्घ हो - परि प्लू य = परिप्लूय ।

(99) 'जनसनखनां सञ्झलोः' (6.4.42)

जन, सन, खन -- इन अंगों को आकारादेश होता है यदि झलादि सन् तथा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो ।

उदा०-- जातः, सिषासति, सातः, खातः आदि ।

जातः-- जन् क्त । जन् को आकारादेश होकर ज आ त > जात । जात सु = जातः ।

सिषासति -- सन् सन् । सन् धातु को आकार अन्तादेश हो -- स आ सन् । स आ सन् > सिषास तिप् = सिषासति ।

खातः -- खन् क्त "" खन् को आकार अन्तादेश होकर - ख आ त ।

ख आ त > खात। सु हो खातः।

(100) 'ये विभाषा' (6.4.43)

यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो जन्, सन्, खन् धातु को आकार अन्तादेश विकल्प से होता है।

उदा०-- जायते, खायते, सायते। पक्ष में जन्यते, खन्यते, सन्यते।

जायते, जन्यते -- जन् यक् त। यकारादि कित् यक् परे रहते जन् के नकार को आत्व हो -ज आ य ते। ज आ य ते > जायते।

आत्वाभाव में जन् य ते = जन्यते।

(101) 'क्षियः' (6.4.59)

क्षि को दीर्घ होता है ल्यप् परे रहते।

उदा०-- प्रक्षीयः।

प्रक्षीय -- प्र क्षि ल्यप्। दीर्घ होकर - प्र क्षी य = प्रक्षीय।

स्वादिकार्य हो - प्रक्षीयः।

(102) 'निष्ठायामण्यदर्थे' (6.4.60)

ण्यत् के अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्तमान जो निष्ठा, वह क्षि से परे हो तो क्षि अंग को दीर्घ होता है।

उदा०-- आक्षीणः, प्रक्षीणः, परिक्षीणः।

आक्षीणः -- आङ् पूर्वक क्षि से कर्ता अर्थ में क्त। अण्यदर्थ होने से क्षि को दीर्घ हो -- आ क्षी त। आ क्षी त > आक्षीण, आक्षीण सु = आक्षीणः।

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सू० से स्पष्ट है कि कृत्य ण्यत् भावकर्म में होता है अतः जहाँ क्त, क्तवत् भावकर्म में नहीं होंगे -- कर्ता में होंगे वहाँ क्षि को दीर्घ होगा। इससे 'अक्षितम्' में क्षि को दीर्घ नहीं होता।

(103) 'वाऽऽक्रोशदैन्ययोः' (6.4.61)

क्षि अंग को अण्यदर्थ निष्ठा के परे रहने पर आक्रोश तथा दैन्य गम्यमान होने पर विकल्प से दीर्घ होता है।

उदा०-- क्षीणायुरेधिः, क्षीणकः। पक्ष में -- क्षितायुः क्षितकः।

क्षीणायुः, क्षितायुः -- यहाँ आक्रोश अर्थ में क्षि से अण्यदर्थ में क्त हुआ है। सूत्र द्वारा क्षि को विकल्प से दीर्घ प्राप्त है। दीर्घ हो -- क्षी त > क्षीण तथा दीर्घ के अभाव में क्षित शब्द बने। आयुः से संधि हो क्षीणायुः, क्षितायुः बने।

क्षीणकः, क्षितकः -- क्षि क्त। यहाँ दैन्य अर्थ में अण्यदर्थ निष्ठा - क्त प्रत्यय हुआ है अतः क्षि को वैकल्पिक दीर्घ प्राप्त है। दीर्घ हो -- क्षी त > क्षीण, तथा दीर्घाभाव में क्षित बना। कन् प्रत्यय, स्वादिकार्य हो क्षीणकः एवं क्षितकः शब्द बने।

(104) 'ईद्यति' (6.4.65)

अकारान्त अंग को ईकारादेश होता है यत् प्रत्यय परे हो तो।

उदा०-- देयम्, धेयम्।

देयम्-दा यत्। ईकारादेश हो-दी य। दी य>देय। देय सु > देयम्।

(105) 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (6.4.66)

घुसंज्ञक मा, स्था, गा, पा, ओहाक्, षो -- इन अंगों की उपधा को हलादि कित् ङित् आर्धधातुक परे रहते ईकारादेश होता है।

उदा०-- मीयते, मेमीयते, स्थीयते, तेष्ठीयते, गीयते, जेगीयते, पीयते, पेपीयते, हीयते, जेहीयते, अवसीयते, अवसेसीयते।

गीयते -- गा यक् त। धातु को ईकारादेश हो -- गी य त > गीयते।

पेपीयते -- पा यङ्। पा को ईकारादेश होने पर -- पी यङ्। पी य त > पेपीयते।

(106) 'एर्लिङि' (6.4.67)

कित् ङित् लिङ् आर्धधातुक परे रहने पर घु, मा, स्था, गा, पा, हा, सा -- इन अंगों को एकारादेश होता है।

उदा०-- देयात्, मेयात्, धेयात्, स्थेयात्, गेयात्, पेयात्, अवसेयात् आदि।

देयात् -- दा लिङ् > दा यासुट् तिप्। दा घुसंज्ञक है तथा यासुट् कित् (किद् आशिषि' सू० से) है अतः दा को एकार होगा - दे यास् ति > देयात्।

मेयात् -- मा यासुट् तिप् > मा या त्। मा को एकारादेश हो -- मे यात् = मेयात्।

(107) 'वान्यस्य संयोगादेः' (6.4.68)

घु, मा, स्था आदि से अन्य जो संयोगादि आकारान्त अंग उसको कित् ङित् लिङ् आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर विकल्प से एकारादेश होता है।

उदा०-- ग्लेयात्, ग्लायात्, म्लेयात्, म्लायात् आदि।

ग्लेयात्, ग्लायात् -- ग्लै यासुट्, तिप् > ग्ला यास् त्। ग्ला को एकारादेश हो -- ग्ले या त् = ग्लेयात्। एकारादेश के अभाव में -- ग्ला या त् = ग्लायात्।

(108) 'मयतेरिदन्यतरस्याम्' (6.4.70)

मेङ् अंग को ल्यप् परे रहने पर विकल्प से इकारादेश होता है।

उदा०-- अपमित्य:, अपमाय:।

अपमित्य:, अपमाय: -- अप मेङ् क्त्वा > अप मे ल्यप्। इकारादेश हो -- अपमि य। अप मि य > अपमित्य। स्वादिकार्य हो -- अपमित्य:। इकारादेश वैकल्पिक है अतः इकारादेश के अभाव में अप मे य सु > अपमाय: शब्द बना।

(109) 'ऊदुपधाया गोहः' (6.4.90)

गोह अंग की उपधा को ऊकारादेश होता है अजादि प्रत्यय परे हो तो।

उदा०-- निगूहयति, निगूहक:, निगूही इत्यादि।

निगूहयति -- नि गुह् णिच् शप् तिप् > नि गोह् इ अ ति गोह् की उपधा ओकार को ऊकार होकर - नि गूह इ अ ति। नि गूह इ अ

ति > निगोहयति ।

(110) 'दोषो णौ' (6.4.91)

दोष अंग की उपधा को णि परे रहने पर ऊकार आदेश होता है।

उदा०-- दूषयति ।

दुष् णिच् शप् तिप् > दोष् इ अ ति । दोष् की उपधा को ऊकार होकर -- दूष् इ अ ति = दूषयति ।

(111) 'वा चित्तविरागे' (6.4.91)

चित्त के विकार अर्थ में दोष अंग की उपधा को णि परे रहने पर विकल्प से ऊकारादेश होता है।

उदा०-- चित्तं दूषयति दोषयति वा ।

दूषयति -- दुष् णिच् शप् तिप् > दोष् इ अ ति । दोष् की उपधा को ऊकार होकर - दूष् इ अ ति > दूषयति । ऊकारादेश के अभाव में दोषयति ।

(112) 'मितां ह्रस्वः' (6.4.92)

मित् अंग की उपधा को ह्रस्व होता है, णि परे रहने पर ।

उदा०-- घटयति, व्यथयति, जनयति, शमयति इत्यादि ।

घटयति --घट् णिच् > घाट् णिच् (वृद्धि होकर) प्रकृत सूत्र द्वारा उपधा ह्रस्व होने पर घट् णिच् । घट णिच् तिप् > घटयति ।

(113) 'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' (6.4.93)

चिण्परक अथवा णमुल्परक णि परे हो तो मित् अंग की उपधा को विकल्प से दीर्घ होगा ।

उदा०-- अशामि अशमि वा । तामन्तामम् तमन्तमम्वा ।

अशामि, अशमि -- अट् शम् णिच् चिण् तिप् । उपधा दीर्घ हो -- अट् शाम् इ चिण् तिप् > अशामि । दीर्घ के अभाव में अशमि ।

तामन्तामम्, तमन्तमम् -- तम् णिच् णमुल् । उपधादीर्घ होकर -- ताम् णि अम् > तामन्तामम् । दीर्घ के अभाव में तम् णिच् णमुल् > तमन्तमम् ।

(114) 'खचि ह्रस्वः' (6.4.94)

खच्परक णि परे रहते अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है।

उदा०-- द्विषन्तपः, परन्तपः ।

द्विषन्तपः -- द्विषत् तप् णिच् खच् > द्विषत् ताप् णिच् खच् । अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होकर -- द्विषत् तप् णिच् खच् > द्विषन्तप । स्वादिकार्य हो - द्विषन्तपः ।

(115) 'ह्लादो निष्ठायाम्' (6.4.95)

निष्ठा परे हो तो ह्लाद अंग की उपधा को ह्रस्व होता है।

उदा०-- प्रह्लन्नः, प्रह्लन्नवान् ।

प्रह्लन्नः -- प्र ह्लाद् क्त । उपधा ह्रस्व हो - प्र ह्लद् क्त > प्रह्लन्न ।

(116) 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' (6.4.96)

ऐसे ण्यन्त छादि अंग जो दो उपसर्गों से युक्त न हो, के परे घ प्रत्यय

हो तो अङ्ग की उपधा को ह्रस्व हो जाता है।
उदा०-- प्रच्छदः, दन्तच्छदः।
प्रच्छदः -- प्र छद् णिच् घ > प्र छादि घ। उपधा ह्रस्व होकर --
प्र छदि घ > प्रच्छद। प्रच्छदस् = प्रच्छदः।

(117) **'इस्मन्त्रन्क्विषु च' (6.4.97)**
ण्यन्त छादि धातु की उपधा को ह्रस्व होगा यदि इस्, मन्, त्रन्, क्वि प्रत्यय परे हो तो।
उदा०-- छदिः, छद्म, छत्रम्, उपच्छत् आदि।
छदिः -- छद् णिच् इस् > छाद् णिच् इस्। ह्रस्व् हो -- छद् णिच् इस् > छदिः।

(118) **'अत उत्सार्वधातुके' (6.4.110)**
उ प्रत्ययान्त कृ धातु के अकार के स्थान पर उकार आदेश होता है यदि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो।
उदा०-- कुरुतात्, कुर्वन्ति।
कुरुतात् -- कृ उ तिप् > कर् उ तातङ्. करुतात्। धातु के अकार को उकार हो -- कुरुतात्।

(119) **'ई हल्यघोः' (6.4.113)**
घुसंज्ञक को छोड़कर जो श्नान्त अंग एवं अभ्यस्तसंज्ञक अंग उनके आकार को ईकारादेश होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो।
उदा०-- लुनीतः, पुनीतः, लुनीथः, पुनीथः।
लुनीतः -- लूञ् श्ना तस् > लु ना तस्। ईकार आदेश हो -- लु नी तस् = लुनीतः।

(120) **'इद्दरिद्रस्य' (6.4.114)**
दरिद्रा धातु के आकारको इकारादेश होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो।
उदा०-- दरिद्रितः, दरिद्रिथः।
दरिद्रितः -- दरिद्रा तस्। धातु के आकार को इकार हो -- दरिद्रि तस् = दरिद्रितः।

(121) **'भियोऽन्यतरस्याम्' (6.4.115)**
हलादि कित्, ङित् सार्वधातुक परे हो तो अंग को विकल्प से इकारादेश होता है।
उदा०-- बिभितः। पक्ष बिभीतः।
बिभितः -- भी तस्। अंग को इकार आदेश हो भि तस्। भि तस् > बिभितः। ह्रस्व के अभाव में भी तस् > बिभीतः।

(122) **'जहातेश्च' (6.4.116)**
ओहाक् अंग को भी हलादि कित् ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर विकल्प से इकारादेश होता है।
उदा०-- जहितः, जहीतः वा।
हा तस् > हा शप् तस् > हा तस् > ज हा तस्। अंग को इकार हो

जा हि तस् = जहितः । इकार के अभाव में इकार के अभाव में 'ई हल्यघोः' से प्राप्त ईकार ही रह गया और ज ही तस् = जहीतः शब्द सिद्ध हुआ।

(123) 'आ च हौ' (6.4.116)

ओहाक् अंग को विकल्प से आकारादेश तथा चकारात् इकारादेश भी होता है कित् ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे हों तो।

उदा०-- जहाहि, जहिहि, जहीहि।

हा सिप् > हा हि > ज हा हि। हा को 'ई हल्यघोः' से ईकार हो ज ही हि। प्रकृत सूत्र से आत्व हो ज हा हि = जहाहि। आत्व न होने पर पाक्षिक इत्व हो जहिहि। आत्व या इत्व न होने पर = जहीहि -- तीन रूप बने।

(124) 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (6.4.119)

घुसंज्ञक अंग को एवं अस् को एकारादेश तथा अभ्यास का लोप होता है कित् ङित् परे रहने पर।

उदा०-- देहि, धेहि, एधि।

देहि -- द दा हि। दा घुसंज्ञक है अतः अंग को एकार आदेश होगा द दे हि। द दे हि > दे हि = देहि। एधि -- अस् हि > स् हि। एत्वहो-ए हि। ए हि > ए धि = एधि।

(125) 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (6.4.120)

लिट् परे रहते अनादेशादि, पूर्व पर एक एक हल् हों जिसके ऐसे मध्य में विद्यमान धातु के अकार को एकारादेश हो और अभ्यास का लोप हो यदि कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो।

उदा०-- पेचतुः, येमतुः, रेणतुः आदि।

पेचतुः -- पच् लिट् > पच् अतुस् > पपच् अतुस्। धातु के अकार को एकार एवं अभ्यास का लोप हो -- पेच् अतुस् = पेचतुः।

(126) 'थलि च सेटि' (6.4.121)

लिट् परे रहते जिस अंग के आद्यवयव को आदेश न हुआहो उसके ऐसे अकार को एकार हो जो दो हलों के मध्य हो (अर्थात् अकार से पूर्व एवं परे असंयुक्त हल् हो।) तथा अभ्यास का लोप भी हो यदि सेट् थल् परे हो तो।

उदा०-- पेचिथ।

पच् थल् > प पच् इट् थल्। सूत्र द्वारा एत्व एवं अभ्यास लोप हो -- पेच् इ थ > पेचिथ।

(127) 'तृफलभजत्रपश्च' (6.4.122)

तृ, फल भज, त्रप, -- इन अंगों के अकार को एकारादेश होगा तथा अभ्यास लोप भी होगा यदि कित्, ङित् लिट् और सेट् थल् परे हो तो।

उदा०-- तेरतुः, फेलतुः, भेजतुः, त्रेपे, तेरिथ।

तेरतुः -- तृ अतुस् > तर् तर् अतुस्। धातु के अकार को एकार एवं अभ्यास लोप होने पर -- तेर् अतुस् > तेरतुः।

तेरिथ -- तृ थल् > तृ इट् थल् > तर् इ थ। एत्व हो -- तेर् इ थ = तेरिथ।

(128) 'राधो हिंसायाम्' (6.4.123)

हिंसा अर्थ में वर्तमान राध् अंग के अकार के स्थान पर एकार आदेश हो जाता है तथा अभ्यास का लोप भी होता है कित्, ङित्, लिट् परे हो तो तथा सेट् थल् परे हो तो।

उदा०-- अपरेधतुः, अपरेधिथ आदि।

अपरेधतुः -- अप राध् अतुस् > अप राध् राध् अतुस्। अभ्यास लोप एवं धातु को एकार होने पर -- अप रेध् अतुस् = अपरेधतुः।

अपरेधिथ -- अप राध् थल् > अप राध् इट् थल् धातु के अकार को एकार हो -- अप रेध् इ थ = अपरेधिथ।

(129) 'वा जॄभ्रमुत्रसाम्' (6.4.124)

जॄ, भ्रमु, त्रस् -- इन अंगों के अकार को एत्व तथा अभ्यास लोप विकल्प से होता है यदि कित् ङित् लिट् तथा सेट् थल् परे हों तो।

उदा०-- जेरतुः, भ्रेमिथ, त्रेसुः आदि।

जेरतुः -- जॄ अतुस् > जर् जर् अतुस्। एत्व एवं अभ्यास लोप हो जेर् अतुस् = जेरतुः।

भ्रेमिथ -- भ्रमु थल् > भ्रम् इट् थल्। अकार को एत्व हो -- भ्रेम् इ थ = भ्रेमिथ।

(130) 'फणां च सप्तानाम्' (6.4.125)

फण, राजृ, टुभ्राजृ, टुभ्राशृ, टुभ्लाशृ, स्यमु, स्वन -- इन सात धातुओं के अवर्ण के स्थान में विकल्प से एत्व एवं अभ्यास लोप होता है। यदि कित्, ङित् लिट् तथा सेट् थल् परे हों तो।

उदा०-- फेणतुः, रेजतुः, भ्रेजे, भ्रेशे, भ्लेशे, स्येमतुः, स्वेनतुः आदि। पक्ष में -- पफणतुः, रराजतुः, बभ्राजे, बभ्राशे, बभ्लाशे, सस्यमतुः, सस्वनतुः आदि।

फेणतुः, पफणतुः -- फण अतुस् > फण् फण् अतुस्। धातु को एत्व एवं अभ्यास लोप होने पर -- फेण् अतुस् = फेणतुः। एत्व एवं अभ्यास लोप के अभाव में -- फण् फण् अतुस् > फ फणतुस् प फणतुस्> पफणतुः।

(131) 'उद् ईत्' (6.4.139)

उत् से उत्तर भसंज्ञक अच् को ईकारादेश होता है।

उदा०-- उदीचः।

उत् अन्चु उत् अन्च् > उत् अच्। ईकारादेश हो उत् ईच् > उदीच्। स्वादि हो उदीचः।

(132) 'ओर्गुणः' (6.4.146)

उवर्णान्त भसंज्ञक अंग को गुण होता है, तद्धित परे रहते।

उदा०-- औपगवः।

उपगु अण्। उपगु भसंज्ञक अंग है ('यचि भम्' सू० से) इसे तद्धित

अण् प्रत्यय परे रहते गुण होकर -- उपगो अण् > औपगव। स्वादिकार्य हो -- औपगवः।

(133) 'स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' (6.4.156)

स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र -- इन अंगों का जो यणादि भाग उसका लोप होता है यदि इष्ठन्, ईयसुन् परे हो तथा यणादि से पूर्व को गुण होता है।

उदा०-- स्थविष्ठः, स्थवीयान्, दविष्ठः, दवीयान्, यविष्ठः, यवीयान्, ह्रसिष्ठः, ह्रसीयान्, क्षेपिष्ठः, क्षेपीयान्, क्षोदिष्ठः, क्षोदीयान्।

स्थविष्ठः -- स्थूल इष्ठन्। इष्ठन् से पूर्व स्थूल का यणादि भाग 'ल' का लोप तथा उस भाग से पूर्व को गुण हो -- स्थ् ओ इष्ठन्। स्थो इष्ठन् > स्थविष्ठ। स्वादिकार्य हो स्थविष्ठः।

यवीयान् -- युवन् ईयसुन्। युवन् के यणादि पर भाग का लोप तथा उससे पूर्व को गुण हो-- यो ईयसुन्। यो ईयसुन् > यवीयस्। स्वादि कार्य हो -- यवीयान्।

(134) 'ज्यादादीयसः' (6.4.160)

ज्य अंग से उत्तर ईयस् को आकार आदेश होता है।

उदा०-- ज्यायान्।

ज्य ईयसुन्। ईयस् को आकार आदेश हो -- ज्य आयस् > ज्यायस्। ज्यायस् सु > ज्यायान्।

(135) 'ई च द्विवचने' (7.1.77)

द्विवचन के विभक्ति प्रत्यय परे हों तो अस्थि आदि शब्दों को वेद विषय में ईकारादेश होता है और वह उदात्त होता है। उदा० -- अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले कपेरिव। अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां।

अक्षी -- अक्षि औ । औ प्रथमा द्विवचन की विभक्ति है अतः अक्षि के अन्तावयव इकार को उदात्त ईकारादेश होकर अक्षी औ बना। पूर्वसवर्ण होकर 'अक्षी' शब्द सिद्ध हुआ।

अक्षीभ्याम् -- अक्षि भ्याम्। सूत्र विहित कार्य होकर अक्षी भ्याम् = अक्षीभ्याम्।

(136) 'दिव् औत्' (7.1.84)

दिव् अंग को सु परे रहते औकारादेश होता है। उदाहरणार्थ -- द्यौः।

द्यौः -- दिव् सु। अब सूत्र द्वारा प्राप्त औकारादेश होकर दि औ सु -- ऐसा स्वरूप बना। इकार को यण् तथा सु को रुत्व विसर्गादि कार्य होकर अपेक्षित रूप सिद्ध हुआ।

(137) 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (7.1.85)

पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन -- इन अंगों को सु परे रहते आकारादेश होता है। जैसे - पन्थाः, मन्थाः, ऋभुक्षाः आदि।

पन्थाः -- पथिन् सु। पथिन् के अन्तावयव नकार को सूत्र विहित आकारादेश होकर पथि आ सु -- ऐसी स्थिति हुई। इकार को

अकार, थकार को न् थ आदेश, सवर्णदीर्घ रुत्व विसर्गादि होकर अभीष्ट रूप बना।

(138) **'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (7.1.86)**

पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन् -- इन अंगों के इकार के स्थान में अकारादेश होता है सर्वनामस्थान परे रहते। उदा०-- पन्था, पन्थानौ, पन्थान:। पन्थानम् पन्थानौ। मन्था:, मन्थानौ, मन्थान:, मन्थानम्, मन्थानौ, ऋभुक्षा:, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाण:, ऋभुक्षाणम्, ऋभुक्षाणौ।

पन्था: -- पथिन् सु। पथिन् के इकार को सूत्र विहित अकार होने पर -- प थ न् सु, ऐसी स्थिति हुई। 'थ' को 'न्थ' आदेश न् को आत्व, सु को रुत्व विसर्ग होकर यथेष्ट सिद्धि हुई। इसी प्रकार मन्था: ऋभुक्षा: आदि भी सिद्ध होंगे।

(139) **'ऋत इद्धातो:' (7.1.100)**

यह सूत्र ऋकारान्त धातु अंग को इकारादेश विहित करता है। उदा०-- किरति, गिरति आदि।

सूत्र विहित इकार रपर होकर प्रवृत्त होगा (सू० 'उरण् रपर:' के द्वारा) अत: ऋकार के स्थान पर इर् आदेश होगा। इसके अतिरिक्त यदि अंग धातु की अपेक्षा अन्य जैसे प्रातिपदिक हो तो यह आदेश नहीं होगा।

किरति -- कृ तिप् > कृ श तिप्। कृ धातु अंग है और ऋकारान्त है अतएव सूत्रविहित कार्य होकर क् इर् अ ति = किरति बना।

गिरति -- गृ श तिप्। ऋकार को इकार करने पर ग् इर् अ ति = गिरति बना।

(140) **'उपधायाश्च' (7.1.101)**

धातु अंग की उपधा में स्थित जो ऋकार उसे भी इकारादेश होता है। (सू० उरण् रपर के बल से ऋकार को विहित अण् कार्य -- इकारादेश रपर होकर प्रवृत्त होगा अतएव उपधा के ऋकार को इर् आदेश होगा।) उदा०-- कीर्तयति, कीर्तयत:, कीर्तयन्ति।

कीर्तयति -- कृत् णिच् तिप्। सूत्र विहित कार्य होकर क् इर् त् णिच् तिप् -- ऐसा रूप बना। फिर् त णिच तिप् इस दशा में इकार को दीर्घ णिच् के इकार को गुण तथा परवर्ती शप् के अकार एवं णिच् के गुण एकार के स्थान पर अयादेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

(141) **'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (7.1.102)**

ओष्ठ्य वर्ण जिस ऋकार से पूर्व में है उस ऋकारान्त धातु को उकारादेश होता है।

उदा०-- पूर्ता:, मुमूर्षति आदि।

पूर्ता: -- पृ क्त > पृ त। यहाँ पृ ऋकारान्त धातु है तथा ऋकार से पूर्व ओष्ठ्य पकार है अतएव उपर्युक्त सूत्र विहित आदेश प्राप्त होता है। आदेश होकर -- प् उर् त ऐसी स्थिति हुई। पश्चात् उकार को दीर्घ होकर प्रथमा बहुवचन में पूर्ता: स्वरूप सिद्ध हुआ।

(142) 'बहुलं छन्दसि' (7.1.103)

वेद विषय में ऋकारान्त धातु के अंग को बहुल करके उकारादेश होता है। उदा०-- मित्रावरुणौ ततुरिः। दूरे ह्यध्वा जगुरिः।

ततुरिः -- तृ किन्। उकारादेश होकर -- त् उर् इ = तुरि बना। द्वित्व, अभ्यास के उकार को अकारादेश होकर अभीष्ट शब्द सिद्ध हुआ।

जगुरिः -- गृ किन् > गृ इ। सूत्र विहित कार्य होकर ग् इर् इ > गिरि। द्विवचन, अभ्यासादि कार्य होकर अभीष्ट रूप सिद्ध होगा।

(143) 'सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु' (7.2.1)

जिस सिच् के परे परस्मैपद के प्रत्यय हैं ऐसे सिच् के परे रहते इगन्त अंग को वृद्धि होती है। उदा०-- अचैषीत्, अनैषीत्, अलावीत्।

अचैषीत् -- अट् चिञ् सिच् तिप् > अ चि स् ईट् ति > अ चि स् ई ति > अ चि स् ई त्। चि इगन्त है जिससे परस्मैपदप्रत्ययपरक सिच् परे है अतएव वृद्धि होकर अ चै सी त् बना। षत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

(144) 'अतो ल्रान्तस्य' (7.2.2)

अकार के समीप जो रेफ तथा लकार तदन्त अंग के अकार के स्थान में ही वृद्धि होती है यदि परस्मैपदपरक सिच् परे हो तो। उदा०-- अक्षारीत्, अत्सारीत्, अजावीत्।

अक्षारीत् -- क्षर्, लुङ्. > अट् क्षर् च्लि तिप् > अट् क्षर् इट् सिच् ईट् तिप्। क्षर् में रेफ अकार के समीप है। क्षर् से परे परस्मैपद तिप् प्रत्यय परक सिच् है अतएव धातु अंग क्षर् के अकार को सूत्र द्वारा वृद्धि प्राप्त हुई। तब अकार की सवर्ण वृद्धि आकार होकर -- अट् क्षार् इ सिच् ई तिप् ऐसी दशा बनी। तिप् के इकार का लोप, सिच् के सकार का लोप इट् एवं ईट् के इकार को सवर्ण दीर्घ हो अपेक्षित शब्द सिद्ध हुआ।

(145) 'वदव्रजहलन्तस्याचः' (7.2.3)

वद, व्रज तथा हलन्त अंगों के अच् के स्थान में वृद्धि होती है यदि परस्मैपदपरक सिच् परे हो तो। उदा०-- अवादीत्, अव्राजीत्, अपाक्षीत्, अगादीत् आदि।

अवादीत् -- अट् वद् इट् सिच् ईट् तिप् = अ वद् इ स ई त्। वद् के अच् को सूत्र विहित वृद्धि प्राप्त होने पर अकार को सवर्ण वृद्धि आकार होकर -- अ वाद् इ स ई त् ऐसी स्थित हुई। सिच् लोप, इ एवं ई का सवर्ण दीर्घ हो रूप सिद्ध हुआ।

अव्राजीत् -- अ व्रज् इ स् ई त्। वृद्धि होने पर अ व्राज् इ स ई त्। अन्य कार्य होकर अभीष्ट रूप बना।

अपाक्षीत् -- अ पच् स ई त्। पच् हलन्त धातु है अतः सूत्र विहित वृद्धि होकर अ पाच् स ई त् -- ऐसा स्वरूप हुआ। पश्चात् सकार को कुत्व एवं वर्णमेल हो प्रयोग सिद्ध हुआ।

(146) 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (7.2.37)

ग्रह् धातु से उत्तर लिट्भिन्न वलादि आर्धधातुक परे रहते इट् को दीर्घ

होता है।

उदा०-- ग्रहीता, ग्रहीतुम् आदि।

ग्रहीता -- ग्रह् तृच > ग्रह् इट् तृच् = ग्रह् इ तृ तृच्। वलादि एवं आर्धधातुक प्रत्यय हैं अतएव इट् को सूत्रविहित दीर्घ होकर ग्रह् ई तृ > ग्रहीतृ बना। इससे प्रथमा एकवचन में ग्रहीता रूप सिद्ध हुआ।

ग्रहीतुम् -- ग्रह् तुमुन् > ग्रह् इ तुम्। सूत्र विहित दीर्घ होने पर -- ग्रह् ई तुम् = ग्रहीतुम्।

(147) **'वृतो वा' (7.2.38)**

वृ तथा ऋकारान्त धातु से उत्तर लिट् को विकल्प से दीर्घ हो यदि उससे परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय हो तो। उदा०-- वरिता, वरीता। तरिता, तरीता।

वरिता वरीता -- वृ (वृङ्. या वृञ्) तृच > व् अर् तृ > वर् इट् तृ > व र् इ तृ। सूत्र द्वारा वैकल्पिक दीर्घ प्राप्त होने पर दीर्घ पक्ष में वर् ई तृ = तथा दीर्घ अभाव पक्ष में वरितृ दो प्रातिपदिक बने। इनसे प्रथमा एकवचन में क्रमशः वरीता एवं वरिता ये दो रूप बने।

तरीता, तरिता -- तृ तृच् > तर् तृ > तर् इ तृ। इट्, दीर्घ होकर-तरीतृ तथा दीर्घाभाव पक्ष में तरितृ। प्रथमा एकवचन में तरीता एवं तरिता ये दो रूप बने।

(148) **'ईदासः' (7.2.83)**

आस से उत्तर आन शब्द को ईकारादेश होता है।

उदा०-- आसीन।

आसीनः -- आस शप् शानच् > आस् आन। आन के आकार को ("आदेः परस्य" नियम से) ईकारादेश होने पर -- आस् ईन = आसीन। स्वादिकार्य हो कर शब्द सिद्ध हुआ।

(149) **'अष्टन आ विभक्तौ" (7.2.84)**

अष्टन अंग को विभक्ति प्रत्यय परे रहते आकारादेश होता है।

उदा०-- अष्टाभिः, अष्टाभ्यः, अष्टानाम्, अष्टासु।

अष्टाभिः -- अष्टन् भिस्। अष्टन् को आकार अन्तादेश होकर -- अष्ट आ भिस् ऐसा रूप हुआ। सवर्णदीर्घ रुत्वविसर्गादि होकर यथेष्ट स्वरूप बना।

अष्टाभ्यः -- अष्टन् भ्यस्। आत्वादेश हो -- अष्ट आ भ्यस्। अष्टाभ्यः।

(150) **'रायो हलि' (7.2.85)**

रै अंग को हलादि विभक्ति परे रहते आकारादेश होता है। उदा०-- राभ्याम्, राभिः।

राभ्याम् -- रै भ्याम्। सूत्रविहित आत्वादेश होकर र् आ भ्याम् = राभ्याम्।

राभिः -- रै भिस्। सूत्र द्वारा प्राप्त आत्वादेश होकर र् आ भिस् = राभिस् बना। रुत्वविसर्ग हो राभिः बना।

(151) 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (7.2.86)

युष्मद् तथा अस्मद् अंग को आदेश रहित विभक्ति के परे रहते आकारादेश होता है।

उदा०-- युष्माभिः, अस्माभिः, युष्मासु, अस्मासु।

युष्माभिः -- युष्मद् भिस्। यहाँ भिस् मूल विभक्ति प्रत्यय है जिसे कोई भी आदेश नहीं हुआ है अतएव सूत्र द्वारा युष्मद् अंग को आकार अन्तादेश प्राप्त हुआ। युष्म आ भिस् -- आदेश होकर यह रूप बना। सवर्णदीर्घ, रुत्व विसर्ग हो रूप सिद्ध हुआ।

अस्माभिः -- अस्मद् भिस्। आत्वादेश होकर अस्म आ भिस्। अस्माभिः।

युष्मासु -- अस्मद् सुप्। सूत्रविहित आत्वादेश होकर अस्म आ सु -- ऐसी दशा हुई। सवर्णदीर्घ एवं वर्णमेल होकर अस्मासु बना।

(152) 'द्वितीयायां च' (7.2.87)

द्वितीया विभक्ति के परे रहते भी युष्मद् तथा अस्मद् अंग को आकारादेश होता है।

उदा०-- त्वाम्, माम्, युवाम्, आवाम्, युष्मान्, अस्मान्।

त्वाम्, माम् -- युष्मद् अम्, अस्मद् अम् > त्व अद् अम्, म अद् अम् ('त्वमावेकवचने' से) > त्वद् अम्, मद् अम्। अब प्रकृत सूत्र द्वारा प्राप्त आत्व होकर त्व आ अम्, म आ अम् -- ऐसा रूप हुआ। अब पूर्व अकार एवं आकार को सवर्ण दीर्घ होकर आकार एवं इस आकार एवं अम् के अकार को सवर्णदीर्घ आकार हो रूप सिद्ध हो गए।

युवाम् -- युष्मद् औट् > युष्मद् अम् ('ङे प्रथमयोरम्' सू० से) > युव अद् अम् ('युवावौ द्विवचने' से) >युवद् अम्। सूत्र विहित आत्व होकर युव आ अम् -- ऐसा रूप हुआ। वकारोत्तरवर्ती अकार एवं आकार को सवर्ण दीर्घ आकार एवं आकार एवं अकार को सवर्ण दीर्घ आकार हो युवाम् शब्द बना। इसी प्रकार आवाम् भी सिद्ध होगा।

युष्मान् -- युष्मद् शस् > युष्मद् अस् > युष्मद् न् स् ('शसो न' सू० से)। अब सूत्र विहित आत्वादेश होकर युष्म आ न् स् यह रूप हुआ। मकारोत्तरवर्ती अकार एवं उसके परवर्ती आकार को सवर्णदीर्घ तथा सकार का संयोगान्त लोप होकर रूप सिद्ध होगा।

(153) 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (7.2.88)

भाषा में अर्थात् लौकिक संस्कृत में प्रथमा विभक्ति के द्विवचन के परे रहते भी युष्मद् एवं अस्मद् को आकारादेश होता है। उदा०-- युवाम् आवाम्।

युवाम् -- युष्मद् औ > युष्मद् अम् > युव अद् अम् > युवद् अम्। सूत्र द्वारा प्राप्त आत्वादेश होकर युव आ अम् बना। पहले युव एवं आ के अकार एवं आकार का सवर्ण दीर्घ पश्चात् उस सवर्णदीर्घ आकार एवं अम् के अकार का सवर्ण दीर्घ हो अभीष्ट रूप बना।

आवाम् -- आवद् अम्। आत्व होकर -- आव आ अम् बना। सवर्णदीर्घ

होकर रूप सिद्ध हुआ।

(154) 'त्यदादीनामः' (7.2.102)

त्यदादि अंगों को विभक्ति परे रहते अकारादेश होता है। उदा०--

त्यद् – स्यः, त्यौ, त्ये।

तद् – सः, तौ, ते।

यद् – यः, यौ, ये।

एतद् – एषः, एतौ, एते।

इदम् – अयम्, इमौ, इमे।

अदस् – असौ, अमू, अमी।

द्वि – द्वौ, द्वाभ्याम्।

स्यः -- त्यद् सु > स् यद् सु। सूत्रविहित अकारादेश होकर-स्य अ सु -- इस प्रकार की स्थित हुई। अकारद्वय के स्थान पर पररूप एकादेश एवं सु को रुत्व – विसर्ग होकर प्रयोग सिद्ध हुआ।

त्यौ-- त्यद् औ > स् य द् औ। अकारादेश होकर स्य अ औ बना। यकार के अकार एवं परवर्ती अकार को पररूप एकादेश अकार एवं उस अकार एवं औकार के स्थान पर पररूप औकार हो रूप सिद्ध होगा।

ते -- तद् जस् > तद् शी। सूत्रविहित अकारादेश होने पर -- त अ ई। पररूप अकार एवं इस अकार ईकार को गुण एकारादेश होकर 'ते' बना।

यः -- यद् सु। अकारादेश होकर -- य अ सु। पररूप रुत्व विसर्ग हो प्रयोग सिद्ध हुआ।

एष -- एतद् सु > ए स द् सु। सूत्रविहित अत्वादेश होकर ए स अ स्। सकार के अकार एवं अकार को पररूप अकार एकादेश, षत्व, रुत्व विसर्ग हो प्रयोग सिद्ध हुआ।[2] त्य दादिगण में पठित शब्दों में त्यद् से लेकर द्विपर्यन्त शब्दों को ही अत्व होता है। परवर्ती भवत् आदि शब्दों में यह अकारादेश नहीं होता।

(155) 'अदस औ सुलोपश्च' (7.2.107)

अदस् को सु परे रहते 'औ' आदेश और सु का लोप होता है। उदा०-- असौ।

असौ -- अदस् सु। सूत्रविहित 'औ' आदेश एवं 'सु' लोप होकर -- अद औ बना। द को स एवं पररूप एकादेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

(156) 'मृजेर्वृद्धि' (7.2.114)

मृज् अंग के इक् के स्थान में वृद्धि होती है। उदा०- मार्ष्टा, मार्ष्टुम्, मार्ष्टव्यम्।

मार्ष्टा -- मृज् तृच्। वृद्धि होकर -- म् आर् ज् तृ बना। षत्व एवं ष्टुत्व होकर प्रथमा एकवचन में प्रयोग सिद्ध होगा।

मार्ष्टुम् -- मृज् तुमुन्। वृद्धि होकर -- म् आर् ज् तुम्। षत्व, ष्टुत्वादि होकर प्रयोग सिद्ध होगा।

(157) 'अचोञ्णिति' (7.2.115)

ञित्, णित् प्रत्यय परे हों तो अजन्त अंग को वृद्धि होती है। उदा०--

ञित -- कारः, हारः

णित् -- कारकः

कारः -- कृ घञ्। सूत्र द्वारा प्राप्त वृद्धि करने पर -- क् आर् अ, ऐसा रूप बना। प्रथमा एकवचन में 'कार' शब्द सिद्ध हुआ।

कारकः -- कृ ण्वुल् > कृ वु > कृ अक। सूत्रविहित वृद्धि होकर -- क् आर् अक = कारक बना। प्रथमा एकवचन में कारकः शब्द बना।

(158) 'अत उपधायाः' (7.2.116)

अंग की उपधा अकार के स्थान में वृद्धि हो यदि ञित् अथवा णित् प्रत्यय परे हों तो। उदा०--

ञित् - पाकः, त्यागः।

णित् - पाचकः, पाठयति।

पाकः-- पच् घञ। पच् अंग की उपधा अकार को वृद्धि होकर - पाच् अ ऐसी स्थिति हुई। चकार को कुत्व एवं स्वादिकार्य हो शब्द सिद्ध हुआ।

पाचकः -- पच् ण्वुल्। पच् अक। उपधा के अकार को वृद्धि होकर पाच् अक = पाचक।

(159) 'तद्धितेष्वचामादेः' (7.2.117)

ञित्, णित् तद्धित् परे हों तो अंग के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है। उदा०--

ञित् - गार्ग्यः, वात्स्यः।

णित् - औपगवः, कापटवः।

गार्ग्यः -- गर्ग यञ् > गर्ग य। यञ् प्रत्यय ञित् है एवं तद्धित प्रत्यय है अतएव अंग गर्ग के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त होती है। वृद्धि हो कर -- गार्ग य बना। अकार का लोप एवं स्वादिकार्य होकर अभीष्ट रूप बना।

औपगवः -- उपगु अण्। सूत्रविहित आदि अच् की वृद्धि होकर 'औपगु अ' बना। गुण, अवादेश हो शब्द सिद्ध हुआ।

(160) 'किति च' (7.2.118)

कित् तद्धित प्रत्यय परे हो तो अंग के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है।

उदा०-- नाडायनः, चारायणः, आक्षिकः।

नाडायनः -- नड फक्। फक् कित् प्रत्यय है अतः अंग नड के आदि अच् नकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि प्राप्त हुई तब अकार का सवर्ण आकार अक्षर अकार के स्थान पर होकर -- नाड फ ऐसा रूप बना। पश्चात् फ को आयन एवं डकारोत्तवर्ती अकार का लोप एवं स्वादिकार्य होकर अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

आक्षिकः -- अक्ष ठक्। ठक् कित् तद्धित प्रत्यय है अतएव सूत्रविहित

वृद्धि प्राप्त हुई तब आदि अच् अकारके स्थानपर अकार का सवर्ण वृद्धिसंज्ञक वर्ण आकार आदेश हो -- आश्व ठ बना।

(161) 'देविकाशिंशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात्' (7.3.1)

देविका, शिंशपा, दित्यवाट्, दीर्घसत्र, श्रेयस् -- इन शब्दों के आदि अच् को वृद्धि का प्रसंग हो तो आकारादेश होता है यदि ञित् अथवा णित् या कित् तद्धित प्रत्यय परे हों तो।

यह सूत्र देविकादि पाँच शब्दों को आदि वृद्धि के अपवाद स्वरूप आत्वादेश का विधानकरता है फलतः जहाँ देविका, शिंशपा आदि के एकार, इकार को वृद्धि होती वहाँ अब वृद्धि बाधित होकर आकारादेश प्राप्त होगा।

उदा०-- दाविकम्, शांशपः, दात्यौहम्, दार्घसत्रम्, श्रायसम्।

दाविकम् -- देविका अण्। इस स्थिति में देविका शब्द को सू० 'तद्धितेष्वचामादेः' 7.2.117 से आदिवृद्धि प्राप्त है तब आलोच्यमान सूत्र वृद्धि का बाध करके आत्वादेश का विधान करता है और -- द् आ विका अ>दाविका अ, ऐसा स्वरूप बनाता है। पश्चात् अन्त्याकार का लोप एवं सु, सु को अम् हो अभीष्ट प्रयोग सिद्ध होता है।

शांशपः -- शिंशपा अण् अथवा अण्। यहाँ भी "सू० तद्धितेष्वचामादेः" से आदि अच् को वृद्धि प्राप्त है। इस वृद्धि को बाधित कर आत्वादेश प्राप्त हुआ और -- श् आंशप अ = शांशप अ, ऐसी स्थिति हुई। अन्त्य अकार का लोप हो एवं स्वादिकार्य होकर 'शांशपः' शब्द सिद्ध हुआ।

दात्यौहम् -- दित्यवाह् अण्। सूत्र द्वारा विहित आदि अच् को आत्व करने पर -- द् आ त्यवाह् अ = दात्यवाह बना। सम्प्रसारण पूर्वरूप एवं विभक्त्यादि कार्य होकर रूप सिद्ध हुआ।

दार्घसत्रम् -- दीर्घसत्र अण्। आदि अच् को आत्व होकर -- द् आ र्घसत्र अ = दार्घसत्र अ > दार्घसत्र सु = दार्घसत्र अम् = दार्घसत्रम्।

श्रायसम् -- श्रेयस् अण्। आदि अच् को आत्व होकर श्र् आ यस् अ = श्रायस। विभक्तिकार्य करने पर अपेक्षित रूप सिद्ध हुआ।

(162) 'अवयवादृतोः' (7.3.11)

अवयववाची पूर्वपद से उत्तर ऋतुवाची उत्तरपद शब्द के अचों में आदि अच् को तद्धितभिन्न ञित्, णित्, कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है।

उदा०-- पूर्ववार्षिकम्, अपरहैमनम्।

पूर्ववार्षिकम् -- पूर्व वर्षा ठक्। यहाँ उत्तरपद ऋतुवाचक है तथा पूर्वपद उसका अवयववाची है अतएव उपर्युक्त सूत्र द्वारा उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त हुई। तब अकार के स्थान पर सवर्णसंज्ञक आकार वृद्धि वर्ण आदेश होकर पूर्व व् आ र्षा ठ > पूर्ववार्षा ठ बना। ठ को इक् अन्त्य आकार का लोप एवं विभक्ति कार्य होकर रूप सिद्ध हुआ।

अपरहैमनम् -- अपर हेमन्त अण्। उत्तरपद के आदि अच् हकारोत्तरवर्ती एकार को सवर्ण वृद्धि वर्ण ऐकार होकर -- अपर ह् ऐ मन्त अ, ऐसी

स्थित हुई। तब अण् प्रत्यय के साथ विहित तकार लोप एवं विभक्ति कार्य होकर 'अपरहैमनम्' शब्द सिद्ध हुआ।

(163) 'सुसर्वार्धाज्जनपदस्य' (7.3.12)

सु, सर्व तथा अर्द्ध शब्द से उत्तर जनपदवाची उत्तरपद के अचों में आदि अच् को ञित्, णित् अथवा कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है।

उदा०-- सुपाञ्चालकः, सर्वपाञ्चालकः, अर्द्धपाञ्चालकः।

सुपाञ्चालकः -- सुपञ्चाल वुन्। सुपञ्चाल शब्द में उत्तरवर्ती पद पञ्चाल एक विशेष जनपद का बोधक है अतएव आलोच्य सूत्र द्वारा इसके आदि अच् की वृद्धि होगी। अब अकार की वृद्धि आकार होकर -- सु प् आ ञ्चाल वु। सुपाञ्चाल अक सुपाञ्चालक सु = सुपाञ्चालकः।

सर्वपाञ्चालकः-- सर्वपञ्चाल वुन्। सर्व शब्द से परे जनपदवाची पञ्चाल शब्द होने से सूत्र द्वारा उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि होकर सर्व पाञ्चाल वु बना। वु को अक और विभक्ति कार्य होकर प्रयोग सिद्ध होगा।

अर्द्धपाञ्चालकः -- अर्द्ध पञ्चाल वु। उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि होकर अर्द्ध प् आञ्चाल वु = अर्द्धपाञ्चाल अक बना। अपेक्षित कार्य होकर अभीष्ट प्रयोग सिद्ध होगा।

(164) 'दिशोऽमद्राणाम्' (7.3.13)

दिशावाची शब्दों से उत्तर यदि जनपदवाची शब्द हो तो उत्तरपद के आदि अच् को तद्धित ञित् णित् तथा कित् प्रत्यय परे होते वृद्धि होती है किन्तु उत्तरपद यदि जनपदवाची मद्र शब्द हो तो वृद्धि नहीं होगी।

उदा०-- पूर्वपाञ्चालकः, दक्षिणपाञ्चालकः।

पूर्वपाञ्चालकः -- पूर्वपञ्चाल वुन्। पूर्व शब्द यहाँ पूर्व दिशा का बोधक है अतएव उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि होगी -- पूर्व प आ ञ्चाल वु = पूर्व पाञ्चाल वु = पूर्वपाञ्चालकः।

पूर्व शब्द यदि अवयववाची हो जैसे -- पूर्वं पञ्चालानां = पूर्वपञ्चालः, तत्र भवः इस प्रसंग में उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि नहीं होगी और 'पौर्वपञ्चालः' ऐसा प्रयोग बनेगा।

(165) 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' (7.3.14)

दिशावाची शब्दों के परे यदि प्राच्य देश के वाचक ग्राम एवं नगर के वाचक शब्द हों तो उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि होगी यदि ञित्, णित् अथवा कित् तद्धित प्रत्यय परे हों तो।

उदा०-- पूर्वैषुकामशमः, पूर्वपाटलिपुत्रकः।

पूर्वैषुकामशमः -- पूर्वइषुकामशमी ञ। यहाँ 'पूर्व' एवं 'इषुकामशमी' शब्दों से बने समस्त शब्द 'पूर्वेषुकामशमी' से 'तत्र भवः' अर्थ में ञ प्रत्यय हुआ है। 'पूर्व' शब्द दिशावाचक है, इषुकामशमी ग्रामवाचक है और इनसे परे ञित् ञ प्रत्यय है अतएव सूत्र द्वारा उत्तरपद इषुकामशमी के इकार की वृद्धि होगी -- पूर्व ऐषुकामशमी। पश्चात् एकादेश एवं विभक्त्यादि कार्य होकर अभीष्ट रूप सिद्ध होगा।

पूर्वपाटलिपुत्रक: -- पूर्वपाटलिपुत्र वुन् उत्तरपद 'पाटलिपुत्र' के आदि अच् आकार को वृद्धि प्राप्त हुई । आकार को वृद्धि आकार ही होगा क्योंकि स्थान प्रयत्न का साम्य आकार से ही है। इस प्रकार वृद्धि होने पर -- पूर्व पाटलिपुत्र वुन् हुआ।

(166) **'सङ्.ख्यायाः संवत्सरसङ्.ख्यस्य च' (7.3.15)**

संख्यावाची शब्द से उत्तर संवत्सर शब्द के तथा संख्यावाची के आदि अच् को वृद्धि होती है यदि ञित् अथवा णित् अथवा कित् तद्धित प्रत्यय परे हो तो।

उदा०-- द्विषाष्टिक:, द्विसांवत्सरिक: ।

द्विसांवत्सरिक: -- द्वि संवत्सर ठञ्। द्वि संख्यावाची शब्द है इससे उत्तर संवत्सर शब्द है तथा इन शब्दों से बने समास शब्द से परे ञित् ठञ् प्रत्यय हुआ है तब सूत्र द्वारा संवत्सर शब्द के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त हुई। सकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि आकार हो -- द्वि सांवत्सर ठञ् ऐसी स्थिति हुई। ठ को इक, अन्त्य अकार लोप, विभक्ति कार्य होकर अभीष्ट रूपसिद्ध होगा।

द्विषाष्टिक: -- द्वि षष्टि ठञ् । इस शब्द में संख्यावाची 'द्वि' से परे संख्यावाची 'षष्टि' शब्द है अत: सूत्र द्वारा संख्या वाची षष्टि के आदि अच् को वृद्धि होगी -- द्वि षाष्टि ठञ्। द्वि षाष्टि ठञ् > द्विषाष्टिक।

(167) **'वर्षस्याभविष्यति' (7.2.16)**

संख्या शब्द से उत्तर वर्ष शब्द के अचों में आदि अच् को ञित्, णित् तथा कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते वृद्धि होगी यदि वह प्रत्यय भविष्यत् अर्थ में न हुआ हो तो।

उदा०-- द्विवार्षिक:, त्रिवार्षिक:।

द्विवार्षिक: -- द्वि वर्ष ठञ्। सूत्रविहित वृद्धि होकर -- द्वि वार्ष ठञ्। वर्ष के अन्त्य अकार का लोप 'ठ' को इक तथा विभक्ति कार्य होकर अभीष्ट रूप बना।

(168) **'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयो:' (7.3.17)**

जिसके अन्त में परिमाणवाची शब्द हो ऐसे अंग के संख्यावाची शब्द से परे जो उत्तरपद उसके आदि अच् को वृद्धि होती है यदि अंग से ञित् अथवा णित् या कित् तद्धित प्रत्यय परे हो किन्तु संज्ञा विषय में अथवा शाण शब्द उत्तरपद हो तो सूत्रोपदिष्ट कार्य नहीं होगा।

उदा०-- द्विनैष्किकम्, द्विसौवर्णकम् ।

द्विनैष्किम् -- द्वि निष्क ठञ्। द्वि संख्यावाची शब्द है और निष्क परिमाणवाची। परिमाणान्त द्वि निष्क से ञित् ठञ् परे है अत: उत्तरपद निष्क के आदि अच् इकार को वृद्धि प्राप्त हुई। तब आन्तर्तम्य होने से इकार के स्थान पर ऐकार वर्ण होकर -- द्विनैष्क ठञ् हुआ। 'ठ' को इक अन्त्य अकार लोप एवं स्वादिकार्य हो प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्विसौवर्णिकम् -- द्वि सुवर्ण ठञ्। उत्तरपद के आदि अच् उकार को वृद्धि

प्राप्त है उकार का सवर्ण औकार है अतः उकार को औकार होकर -- द्विसौवर्ण ठञ्।

(169) 'जे प्रोष्ठपदानाम्' (7.3.18)

जात अर्थ में विहित जो ञित्, णित् या कित् तद्धित प्रत्यय उसके परे रहते प्रोष्ठपद अंग के उत्तरपद के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है।

उदा०-- प्रोष्ठपादः।

प्रोष्ठपादः -- प्रोष्ठपद अण्। यहाँ 'प्रोष्ठपदासु जातः' इस अर्थ में प्रोष्ठपद से णित् अण् तद्धित प्रत्यय हुआ है अतः अंग के उत्तरपद पद के आदि अच् को वृद्धि हुई-- प्रोष्ठ पाद अण्। प्रोष्ठपाद के अन्त्य अकार का लोप एवं विभक्ति कार्य होकर 'प्रोष्ठपादः' बना।

(170) 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' (7.3.19)

हृद्, भग, सिन्धु -- ये शब्द जिन अंगों के अन्त में हों उनके पूर्वपद के तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है ञित्, णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते। उदा०-- सौहार्दम्, सौहार्द्यम्, सौभाग्यम्, साक्तुसैन्धवः आदि।

सौहार्दम् -- सुहृदय अण् > सुहृद् अण्। सुहृद् शब्द के अन्त में हृद् शब्द है तथा इससे परे णित् अण् प्रत्यय है अतः सूत्रविहित वृद्धि होगी। पूर्वपद सु के आदि अच् उकार को वृद्धि औकार तथा हृद् के आदि अच् ऋकार को वृद्धि रपर होकर-- सौ हार् द् अ = सौहार्द बना। प्रथमा एकवचन में सु, सु को अम् होकर प्रयोग सिद्ध हुआ।

सौभाग्यम् -- सुभग यत्। पूर्व एवं उत्तरपद के आदि अचों को वृद्धि होकर -- सौ भाग य = सौभाग्य बना।

साक्तुसैन्धवः -- सक्तुसिन्धु अण्। पूर्व एवं उत्तरपदों के आदि अच् को सूत्रविहित वृद्धि होकर -- साक्तु सैन्धु अण्।

(171) 'अनुशतिकादीनाम् च' (7.3.20)

अनुशतिक - आदि अंगों के पूर्वपद तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को ञित्, णित्, कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है।

उदा०-- आनुशातिकम्, आनुसांवत्सरिकः, आन्गारवैणवः आदि।

आनुशातिकम् -- अनुशतिक अण्। पूर्व पद के आदि अच् अकार एवं उत्तरपद के आदि अच् शकारोत्तरवर्ती अकार को सूत्र द्वारा वृद्धि विहित हुई। तब दोनों के स्थान पर इनका सवर्ण वृद्धिसंज्ञक वर्ण आकार का आदेश होगा -- आनु शातिक अण्। आनुशातिक सु = आनुशातिकम्।

आन्गारवैणवः -- अन्गारवेणु अण्। पूर्वपद के आदि अच् अकार को सूत्र द्वारा वृद्धि आकार एवं उत्तरपद के आदि अच् एकार को वृद्धि ऐकार होकर -- आन्गारवैणु अण् बना। अवादेश, स्वादिकार्य होकर आन्गारवैणवः सिद्ध हुआ।

अनुशतिकादि गण के शब्द(3) -- अनुशतिक अनुहोड, अनुसंवरण, अनुसंवत्सर, अङ्गारवेणु असिहत्य, वध्योग, पुष्करसत्, अनुहरत्, कुरुकत्, कुरुपन्चाल, उदकशुद्ध, इहलोक, परलोक, सर्वलोक, सर्वपुरुष,

सर्वभूमि, प्रयोग, परस्त्री, सुजनड ।
इन सभी शब्दों से ञित्, णित् या कित् तद्धित होने पर पूर्व एवं उत्तर पदों के आदि अच् को वृद्धि होगी ।

(172) 'देवताद्वन्द्वे च' (7.3.21)
देवतावाची द्वन्द्व समास में भी पूर्वपद तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को ञित् अथवा णित् अथवा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ।
उदा०-- आग्निमारुतम्,आग्निवारुणम् ।
आग्निमारुतम् -- अग्निमरुत अण् । यहाँ अग्नि एवं मरुत देवतावाची शब्दों के द्वन्द्व समास से 'सास्य देवता' अर्थ में णित् अण् प्रत्यय हुआ है अतएव आलोच्य सूत्र द्वारा समास के पूर्व एवं उत्तरपदों के आदि अचों के स्थान पर वृद्धि वर्ण के आदेश का विधान प्राप्त होता है तब अग्नि के आदि अच् अकार को वृद्धि वर्ण आकार एवं मरुत के मकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि आकार होकर -- आग्निमारुत अण् । स्वादिकार्य हो-आग्निमारुतम् ।

(173) 'प्राचां नगरान्ते' (7.3.24)
प्राच्य देश में नगर अन्त वाला जो अंग उसके पूर्वपद तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को ञित्, णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है । उदा०-- सौह्मनागरः, पौण्ड्रनागरः आदि ।
सौह्मनागरः -- सुह्मनगर अण् । यहाँ नगर शब्दान्त प्राच्य देशवाची शब्द सुह्मनगर से "तत्र भवः" अर्थ में णित् तद्धित प्रत्यय अण् हुआ है । सूत्र द्वारा अंग के पूर्वपद एवं उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि विहित की गई है । तब आन्तर्तम्यात् उकार को औकार एवं अकार को आकार आदेश होकर -- सौह्मनागर अण् > सौह्मनागरः । इसी प्रकार तत्रभवार्थक अण् परे रहते पुण्ड्रनगर के पूर्वपद एवं उत्तरपद के अचों को सवर्णवृद्धि वर्ण आदेश होगा -- पौण्ड्रनागर > पौण्ड्रनागरः ।
प्राच्य देशवाची शब्दों के लिए ही यह विधि विहित हुई है इससे उदीच्य नगरवाची मद्रनगर से तत्रभवार्थक अण् परे रहते पूर्वोत्तरपदों के आद्यचों को वृद्धि नहीं होगी जैसे -- माद्रनगरः ।

(174) 'जङ्गलधेनुवलजान्तस्य विभाषितमुत्तरम्' (7.3.25)
जङ्गल, धेनु, वलज -- ये शब्द जिस अंग के अन्त में हों उनके पूर्व पद के आदि अच् को वृद्धि होती है तथा उत्तरपद के आदि अच् को विकल्पसे वृद्धि होती है । यदि ञित्, णित् या कित्तद्धित प्रत्यय परे हो।
उदा०-- कौरुजाङ्गलम्, कौरुजङ्गलम् । वैश्वधैनवम्, वैश्वधेनवम् । सौवर्णवालजः, सौवर्णवलजः ।
कौरुजाङ्गलम् -- कुरुजंगल अण् । सूत्र द्वारा पूर्वपद कुरु के आदि अच् ककारोत्तरवर्ती उकार को वृद्धि औकार तथा उत्तरपद के आदि अच् जकारोत्तरवर्ती अकार को वैकल्पिक वृद्धि आकार प्राप्त हुआ । उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि पक्ष में -- कौरु जाङ्गल अण् > कौरुजाङ्गलम् ।

(175) 'अर्धात् परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा' (7.3.26)

अर्ध शब्द से उत्तर परिमाणवाची उत्तरपद के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है पूर्वपद को विकल्प से होती है यदि अंग के परे ञित्, णित् अथवा कित् तद्धित प्रत्यय हों तो।

उदा०-- आर्धद्रौणिकम्, अर्धद्रौणिकम्, आर्धकौडविकम् अर्धकौडविकम् आदि।

आर्धद्रौणिकम्, अर्धद्रौणिकम् -- अर्धद्रोण ठञ्। 'तेन क्रीतम्' अर्थ में अर्धद्रोण शब्द से ञित् तद्धित 'ठञ्' प्रत्यय हुआ है। द्रोण परिमाणवाची शब्द है। सूत्र में उल्लेख की गई सभी स्थितियाँ यहाँ उपस्थित हैं अतः अंग के पूर्वपद के आदि अच् को वैकल्पिक वृद्धि एवं उत्तरपद के आदि अच् को नित्य वृद्धि प्राप्त हुई। पूर्वपद के वृद्धि पक्ष में -- आर्धद्रौणिकम् अभाव पक्ष में -- अर्धद्रौणिकम् शब्द बने।

(176) 'प्रवाहणस्य ढे' (7.3.28)

प्रवाहण अंग के उत्तरपद के आदि अच् को नित्य एवं पूर्वपद को विकल्प से वृद्धि होती है यदि 'ढ' तद्धित प्रत्यय परे हो तो।

उदा०-- प्रावाहणेयः, प्रवाहणेयः।

-- प्रवाहण ढक्। यहाँ प्रवाहण शब्द से 'तस्यापत्यं' अर्थ में 'ढक्' तद्धित प्रत्यय हुआ है; तब सूत्र द्वारा प्रवाहण शब्द के उत्तरपद के आद्यच् वकारोत्तरवर्ती आकार तथा पूर्वपद के आदि अच् 'प्र' के अकार को वृद्धि प्राप्त हुई। पूर्वपद को वैकल्पिक वृद्धि विहित है अतएव वृद्धि पक्ष में प्रावाहण ढ = प्रावाहणेय एवं पूर्वपद को वृद्धि के अभाव पक्ष में प्र वाहण ढ = प्रवाहणेय दो रूप बने।

(177) 'तत्प्रत्ययस्य च' (7.3.29)

ढक् प्रत्ययान्त प्रवाहण शब्द के उत्तरपद के अचों में आदि अच् को तथा पूर्वपद के आदि अच् को विकल्प से वृद्धि होती है यदि तद्धित प्रत्यय परे हो तो।

उदा०-- प्रावाहणेयिः, प्रवाहणेयिः।

प्रावाहणेयकम्, प्रवाहणेयकम्।

प्रावाहणेयिः प्रावाहणेयिः -- प्रवाहण ढक् > प्रवाहणेय (-ढ > इय्)। ढक् प्रत्ययान्त प्रवाहण शब्द से पूर्वपद वृद्धि के अभाव पक्ष में बने 'प्रवाहणेय' शब्द से 'प्रवाहणेयस्यापत्यं' अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय हुआ। अब तद्धित इञ् परे रहते "तद्धितेष्वचामादेः" सूत्र द्वारा अंग के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त होती है तब प्रकृत सूत्र द्वारा उसका बाध होकर अंग के उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि एवं पूर्वपद के आदि अच् को विकल्प से वृद्धि का विधान किया गया और उत्तरपद को तथा पूर्वपद को वृद्धिपक्ष में प्रावाहणेय इञ् > प्रावाहणेयी; और उत्तरपद को वृद्धि और पूर्वपद को वृद्धि के अभाव पक्ष में प्रवाहणेय इञ् > प्रवाहणेयी बना।

(178) 'नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्' (7.3.30)

नञ् से उत्तर शुचि, ईश्वर, क्षेत्रज्ञ, कुशल, निपुण -- इन शब्दों के

अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है तथा पूर्वपद को विकल्प से वृद्धि होती हैं यदि ञित् णित् अथवा कित् तद्धित प्रत्यय परे हो तो।
उदा०-- आशौचम् ; अशौचम्। आनैश्वर्यम् अनैश्वर्यम्। आक्षैत्रज्ञ्यम्, अक्षैत्रज्ञ्यम्। आकौशलम्, अकौशलम्। आनैपुणम् अनैपुणम्।
आशौचम्, अशौचम् -- अशुचि अण् "नास्तिशुचिरस्य" अथवा "न शुचिः" अशुचि- इस नञ् पदघटित समास से भाव अर्थ में अथवा 'तस्य इदम्' अर्थ में 'अण्' हुआ है। इस दशा में सूत्र द्वारा पूर्वपद के आदि अच्को नित्य वृद्धि प्राप्त होती है। पूर्वपद को एवं उत्तरपद को वृद्धि पक्ष में -- आ शौचि अण् > आशौच तथा उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि तथा पूर्वपद के आदि अच् को वृद्धि के अभाव पक्ष में -- अ शौचि अण् > अशौच दो शब्द बने। स्वादिकार्य हो आशौचम्, अशौचम् दो रूप बने।
आनैश्वर्यम्, अनैश्वर्यम् -- अनीश्वर ष्यञ् पूर्वोत्तरपदों के आदि अचों को वृद्धि होने पर -- आनैश्वर्यम् तथा पूर्वपद के आदि अच् को वृद्धि के अभाव में अन ऐश्वर्यम् > अनैश्वर्यम् -- दो रूप बने। एवमेव अन्य उदाहरणों में उत्तरपद को नित्य एवं पूर्वपद को वैकल्पिक वृद्धि हो दो दो रूप बने हैं।

(179) **'यथातथयथापुरयोः पर्यायेण' (7.3.31)**

नञ् से उत्तर 'यथातथ' तथा 'यथापुर' अंगों के पूर्वपद को पर्याय से वृद्धि होती है ञित्, णित्, कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते। उदा०-- आयथातथ्यम् अयाथातथ्यम् आयथापुर्यम्, अयाथापुर्यम्।
'पर्यायेण' शब्द का अर्थ है -- कभी पूर्वपद को हो कभी उत्तर पद को।(4) अतः जब पूर्वपद को वृद्धि होगी तो उत्तर पद को नहीं और जब उत्तरपद को होगी तो पूर्वपद को नहीं।
आयथातथ्यम्, अयाथातथ्यम् -- अयथातथा ष्यञ्। पर्यायेण प्राप्त आदि अच् की वृद्धि पूर्वपद के आदि अच् को करने पर -- आ यथातथा ष्यञ् > आयथातथ्यम्। उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि होनेपर -- अ याथातथ ष्यञ् > अयाथातथ्यम्।
आयथापुर्यम् अयाथापुर्यम् -- अयथापुर ष्यञ्। सूत्रविहित वृद्धि पूर्वपद के आदि अच् के पक्ष में होनेपर -- आ यथापुर य > आयथापुर्यम्। उत्तरपद के आदि अच् के पक्ष में वृद्धि होनेपर -- अयाथापुर् य > अयाथापुर्यम्।

(180) **'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः' (7.3.44)**

प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व अकार के स्थान में इकारादेश होता है यदि 'आप्' परे हो पर वह आप् सुप् से उत्तर न हो।
उदा०-- गो-पालिका, सर्विका, कारिका आदि।
गो-पालिका-- गो पालक टाप्। यहाँ अकच् प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार है और अंग से परे आबन्त टाप् प्रत्यय है। अतः ककारपूर्ववर्ती अकार को इकारादेश हुआ -- गो-पालिका।
सर्विका -- सर्वक टाप्। प्रत्यय के अवयव ककार से पूर्ववर्ती अकार को इकारादेश हो -- सर्विक टाप् > सर्विका।

कारिका -- कारक टाप्। ककार के पूर्ववर्ती रकारपरक अकारको सूत्र द्वारा इकारादेश प्राप्त हुआ। आदेश होकर- का रि क टाप् > कारिका।

(181) **'उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः' (7.3.46)**

यकार तथा ककार पूर्व में हैं जिस आकार के उसके आकार के स्थान में, जो प्रत्ययस्थ काकारसे पूर्ववर्ती-अकार, उस अकार को इकारादेश होता है उदीच्य आचार्यों के मत में। उदा०-- आर्यका; आर्यिका। चटकका; चटकिका।

आर्यका, आर्यिका -- आर्या क > आर्य क। आर्यक टाप्। यहाँ आर्या शब्द से स्वार्थिक 'क' प्रत्यय हुआ और "केऽणः" सूत्र द्वारा ह्रस्व हो आर्य क बना। आर्यक में यकारोत्तरवर्ती अकार आकार-स्थानिक है अतः इस अकार को सूत्रविहित वैकल्पिक इत्वादेश प्राप्त हुआ। आदेश के अभाव में 'आर्यका' तथा आदेश भाव पक्ष में -- आर्यिका बना।

चटकिका, चटकका -- चटका क > चटक क टाप् > चटक क आ। चटक शब्द में ककार के बाद अकार है यह आकार स्थानिक है तथा इससे परे प्रत्यय का अवयव ककार है और चटकक अंग से परे टाप् प्रत्यय है अतएव सूत्र द्वारा प्रत्ययावयव ककार पूर्ववर्ती अकार को वैकल्पिक इत्व प्राप्त हुआ इत्वादेश पक्ष में -- चटकि क आ = चटकिका और अभाव पक्ष में -- चटक क आ = चटकका दो रूप बने।

(182) **'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' (7.3.74)**

शमादि आठ धातुओं को श्यन् परे रहते दीर्घ होता है। शमादि आठ धातुएँ इस प्रकार हैं -- (1)' शम् (2) तम् (3) दम् (4) श्रम् (5) क्षम् (6) भ्रम् (7) क्लम् (8) मद्। सूत्र विहित कार्य युक्त उदाहरण -- शाम्यति, ताम्यति, दाम्यति, भ्राम्यति, क्षाम्यति, क्लाम्यति, माद्यति।

शाम्यति -- शम् श्यन् तिप् > शम् य ति। शम् के परे श्यन् विकरण है अतएव धातु को दीर्घ प्राप्त हुआ तब धात्वस्थ अकार को दीर्घ होकर -- शाम् य ति > शाम्यति प्रयोग सिद्ध हुआ।

इसी भाँति अन्य उदाहरणों में भी धातु को दीर्घ होता है।

(183) **'ष्ठिवुक्लम्याचमां शिति' (7.3.75)**

ष्ठिव, क्लमु, चमु -- इन धातुओं को शित् प्रत्यय परे रहते दीर्घ होता है।

उदा०-- ष्ठीवति, क्लामति, आचामति।

ष्ठीवति -- ष्ठिव् शप् तिप् > ष्ठिव् अ ति = ष्ठिवति। ष्ठिव् से परे शित् शप् प्रत्यय है अतएव धातु को दीर्घ होगा -- ष्ठीवति। क्लामति -- क्लम् शप् तिप् = क्लम् अति। क्लम् को श्यन् के विकल्प से प्राप्त होने पर श्यन् के अभाव पक्ष में शप् हुआ। शप् शित् है अतः धातु को आलोच्य सूत्र द्वारा दीर्घ होगा-- क्लाम् अ ति = क्लामति।

आचामति-- आङ्. चम् शप् तिप् > आ चम् अ ति। धातु को दीर्घ करने पर आ चाम् अ ति = आचामति।

(184) 'क्रमः परस्मैपदेषु' (7.3.76)

क्रम धातु को परस्मैपदपरक शित् प्रत्यय के परे रहते दीर्घ होता है।
उदा०-- क्रामति, क्रामतः, क्रामन्ति आदि।
क्रामति -- क्रम शप् तिप् > क्रम् अ ति। तिप् परस्मैपद प्रत्यय है और धातु से परे शित् शप् है अतः सूत्रस्थ सभी लक्षण घटित होने से धातु को दीर्घ प्राप्त हुआ। दीर्घ होकर -- क्राम् अ ति = क्रामति शब्द सिद्ध हुआ। इसी प्रकार तस् एवं झि आदि परस्मैपदपरक शित् के प्रसंग में भी धातु को दीर्घ होकर अन्य प्रयोग सिद्ध होंगे।

(185) 'प्वादीनां ह्रस्वः' (7.3.80)

पूञ् इत्यादि धातुओं को शित् प्रत्यय परे रहते ह्रस्व होता है।
उदा०-- पुनाति, लुनाति, स्तृणाति।
पुनाति -- पूञ् श्ना तिप्। शित् 'श्ना' परे रहते धातु को ह्रस्व होकर -- पु ना ति = पुनाति।
लुनाति -- लूञ् श्ना ति > लू ना ति। सूत्र विहित धातुह्रस्व होने पर -- लु ना ति = लुनाति।
स्तृणाति -- स्तॄञ् श्ना ति > स्तॄ ना ति। धातु को सूत्र विहित ह्रस्व हो -- स्तृ ना ति > स्तृ णाति = स्तृणाति।

(186) 'मीनातेर्निगमे' (7.3.81)

मीञ् अंग को शित् प्रत्यय परे रहते निगम विषय में ह्रस्व हो जाता है।
उदा०-- प्रमिणन्ति व्रतानि।
प्रमिणन्ति -- प्र मीञ् श्ना झि > प्र मी ना अन्ति > प्र मी न् अन्ति = प्र मी णन्ति सूत्र द्वारा शित् श्ना परे रहते मीञ् अंग को ह्रस्व हो -- प्र मि णन्ति = प्रमिणन्ति। निगम विषय से अन्यत्र धातु दीर्घ ही रहेगी - प्रमीणन्ति।

(187) 'मिदेर्गुणः' (7.3.82)

मिद् अंग के इक् को शित् प्रत्यय परे रहते गुण हो जाता है।
उदा०-- मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति।
मेद्यति - मिद् श्यन् तिप् > मिद् य ति। शित् श्यन् विकरण परे होने से अंग के इक् इकारको गुण प्राप्त है। इकार का सवर्ण गुणसंज्ञक वर्ण एकार है अतएव इकार को एकारादेश होकर -- मेद् य ति = मेद्यति।

(188) 'जुसि च' (7.3.83)

जुस् प्रत्यय परे रहते भी इगन्त अंग को गुण होता है।
उदा०-- अजुहवुः, अबिभयुः, अबिभरुः।
अजुहवुः -- अट् हु शप् झि > अ हु झि > अ हु हु जुस् > अ जु हु उस्। जुस् परे होने से इगन्त अंग हु को गुण प्राप्त हुआ। आन्तर्तम्य होने से उकार को गुण ओकार हुआ -- अ जु हो उस्। अवादेश, रुत्व विसर्ग हो अजुहवुः सिद्ध हुआ।
अबिभयुः -- अ बि भी जुस् = अबि भी उस्। इगन्त अंग भी को गुण होकर -- अ बि भे उस्। एकार को अयादेश, सकार को

रूत्वविसर्गादि कार्य होकर -- अबिभयु: ।
अबिभरू: -- अ बि भृ उस् । इगन्त अंग भृ को सूत्रविहित गुण हो -- अबि भर् उस् = अबिभरू: ।

(189) 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' (7.3.84)

सार्वधातुक तथा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते इगन्त अंग को गुण होता है।
उदा०-- तरति, नयति, भवति -- सार्वधातुक प्रत्यय ।
कर्ता, चेता, स्तोता -- आर्धधातुक के उदाहरण ।
तरति -- तृ शप् तिप् = तृ अ ति । शप् तथा तिप् सार्वधातुक प्रत्यय हैं अतएव इनके परे रहते सूत्र द्वारा इगन्त अंग तृ को गुण हो -- तर् अ ति = तरति ।
भवति -- भू शप् तिप् = भू अ ति । सार्वधातुक तिङ् एवं शित् प्रत्यय परे होने से इगन्त अंग भू को गुण होकर - भो अ ति अवादेश होकर भवति शब्द बनता है ।
चेता -- चिञ् तृच् = चि तृ । अंग को सूत्र द्वारा विहित गुण हो -- चे तृ । प्रथमा एक वचन में चेता ।
स्तोता -- स्तु तृच् । अंग को गुण करने पर स्तो तृ = स्तोता ।

(190) 'जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु' (7.3.85)

जागृ अंग को गुण होता है वि, चिण्, णल् तथा ङित् प्रत्ययों से भिन्न सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते ।
उदा०-- जागरयति, जागरक:, जागरित:।
जागरयति -- जागृ णिच् । णिच् वि, चिण्, णल् अथवा ङित् प्रत्यय नहीं है । आर्धधातुक प्रत्यय होने से इसके परे रहते उपर्युक्त सूत्र द्वारा अंग को गुण होता है -- जाग् अर् इ > जागरि । तिप् शप् आदि होकर प्रयोग सिद्ध होगा ।
जागरक: -- जागृ ण्वुल् > जागृ अक । ण्वुल् आर्धधातुक प्रत्यय है तथा सूत्र में इसका निषेध भी नहीं हुआ है अत: इसके परे रहते जागृ को गुण होगा -- जाग् अर् अक > जागरक । स्वादि कार्य होकर -- जागरक: ।

(191) 'पुगन्तलघूपधस्य च' (7.3.86)

पुगन्त अंग के इक् को तथा जिस अंग की उपधा लघुसंज्ञक हो उस लघूपध इक् को इस सूत्र द्वारा गुण विहित किया गया यदि अंग से परे सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय हो तो ।
उदा०-- लघूपध गुण -- भेदनम्, छेदनम् आदि ।
पुगन्त गुण -- ह्रेपयति ।
भेदनम् -- भिद् ल्युट् । भिद् धातु की उपधा में ह्रस्व इकार है और अंग के परे आर्धधातुकसंज्ञक ल्युट् प्रत्यय है अत: धातु के इक् को गुण प्राप्त हुआ । इकार का सदृश गुणसंज्ञक वर्ण एकार है अत: धातु के इकार के स्थान पर एकार होकर -- भेद् ल्युट् = भेदनम् ।
ह्रेपयति -- ह्री णिच् > ह्री प् इ । णि परे रहते ह्री धातु को पुक् ।

आगम हुआ है इससे धातु पुगन्त हो गई तब धातु के इक् इकार को गुण होकर -- हे प् इ = हेपि बना। तिप्, शप् आदि होकर प्रयोग सिद्ध हुआ।

(192) **'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (7.3.89)**

उकारान्त अंग को लुक् हो जाने पर हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते वृद्धि होती है।

उदा०-- यौति, नौति, स्तौति आदि।

यौति -- यु शप् तिप् > यु तिप्। शप् को श्लु अर्थात् लुक् हो जाने पर उकारान्त अंग को वृद्धि प्राप्त होती है क्योंकि अंग से परे पित् सार्वधातुक तिप् है। उकार का सदृश वृद्धिसंज्ञक वर्ण औकार आदेश होकर-- यौ तिप् = यौति।

(193) **'ऊर्णोतेर्विभाषा' (7.3.90)**

हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते ऊर्णुञ् धातु को विकल्प से वृद्धि होती है।

उदा०-- प्रोर्णौति प्रोर्णोति। प्रोर्णौमि, प्रोर्णोमि।

प्रोर्णौति, प्रोर्णोति -- प्र ऊर्णुञ् शप् तिप् > प्र ऊर्णु ति = प्रोर्णु ति। प्र उपसर्ग पूर्वक ऊर्णु धातु से हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय 'तिप्' परे है अतएव सूत्रविहित वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है। वृद्धि पक्ष में -- प्रोर्णौ ति = प्रोर्णौति तथा वृद्धि के अभाव में गुण होकर 'प्रोर्णोति' दो प्रयोग बने। सिप् एवं मिप् भी हलादि पित् सार्वधातुक हैं अतएव इनके परे रहते भी अंग को वैकल्पिक वृद्धि होगी।

(194) **'गुणोऽपृक्ते' (7.3.91)**

ऊर्णुञ् धातु को अपृक्त हल् पित् सार्वधातुक परे रहते गुण होता है।

उदा०-- प्रोर्णोत्।

प्रोर्णोत् -- प्र ऊर्णु तिप्। प्र ऊर्णु शप् तिप् -- प्रोर्णु त्। लोट् में ङिद्वद्भाव होने से प्रत्यय के इकार का लोप हो गया। तब तिप् एकाल् प्रत्यय हो गया जिससे यह अपृक्तसंज्ञक हो गया। सूत्र में वर्णित सभी स्थितियाँ उपस्थित होने से धातु को गुण प्राप्त हुआ। तब णकार उत्तरवर्ती उकार को गुण ओकार होकर -- प्रोर्णो त् = प्रोर्णोत् बना।

(195) **'अतो दीर्घो यञि' (7.3.101)**

अकारान्त अंग को दीर्घ होता है यञादि सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो।

उदा०-- भवामि, भवावः, भवामः, पचामि आदि।

भवामि -- भू शप् मिप् > भव मि। मिप् सार्वधातुक प्रत्यय है। प्रत्यय का आदि वर्ण मकार यञ् प्रत्याहारान्तर्गत आने वाला वर्ण है अतएव यह यञादि भी है तब अकारान्त अंग को दीर्घ होकर -- भवा मि = भवामि बना। इसी प्रकार वस् एवं मस् के यञादि सार्वधातुक होने से इन प्रत्ययों के रूपों में भी सूत्रविहित दीर्घ होगा।

पचामि -- पच् शप् मिप् = पच मि। अकारान्त अंग को दीर्घ होकर -- पचामि।

(196) 'सुपि च' (7.3.102)

यञादि सुबन्त परे हों तो भी अकारान्त अंग को दीर्घ होता है।

उदा०-- वृक्षाय, प्लक्षाय, वृक्षाभ्याम्।

वृक्षाय-- वृक्ष ङे. > वृक्ष य। ङे. के स्थान पर हुआ 'य' स्थानिवद्भाव से सुप् है। यह यञादि भी है अतएव अकारान्त अंग को दीर्घ होगा-- वृक्षा य = वृक्षाय।

वृक्षाभ्याम् -- वृक्ष भ्याम्। प्रत्यय का आदि वर्ण भकार यञ् प्रत्याहार में आने वाला वर्ण है अतएव 'भ्याम्' यञादि सुप् हुआ तब अंग को सूत्रविहित दीर्घ होकर -- वृक्षा भ्याम् = वृक्षाभ्याम्।

(197) 'बहुवचने झल्येत्' (7.3.103)

झलादि बहुवचन सुप् प्रत्यय परे हों तो अकारान्त अंग को एकारादेश होता है।

उदा०-- रामेभ्यः, वृक्षेभ्यः आदि।

रामेभ्यः -- राम भ्यस्। भ्यस् झलादि विभक्ति है अतएव अकारान्त अंग को एकार अन्तादेश हो -- रामे भ्यस् = रामेभ्यः।

(198) 'ओसि च' (7.3.104)

ओस् (विभक्ति प्रत्यय) परे रहते भी अकारान्त अंग को एकारादेश होता है।

उदा०-- रामयोः।

रामयोः -- राम ओस्। सूत्र विहित एकार अन्तादेश होकर -- रामे ओस् = रामयोः।

(199) 'आङि चापः' (7.3.105)

आबन्त अंग को आङ् (टा) परे रहते तथा ओस् परे रहते एकारादेश होता है।

उदा०-- रमया, रमयोः।

रमया -- रमा टा। रमा आबन्त प्रातिपदिक है इससे परे आङ् है अतएव अंग को एकार अन्तादेश होगा -- रमे आ > रमया।

रमयोः -- रमा ओस्। आबन्त प्रातिपदिक अंग को एत्वादेश हो - रमे ओस्। अय्, रुत्व विसर्ग होकर प्रस्तुत रूप बना।

(200) 'सम्बुद्धौ च' (7.3.106)

सम्बुद्धि परे रहते भी आबन्त अंग को एकारादेश होता है।

उदा०-- हे लते!

लते! -- लता सु। सु सम्बुद्धि का प्रत्यय है अतएव आकारान्त अंग को एकार अन्तादेश होगा-- लते सु। सम्बुद्धि के 'सु' का लोप होनेपर लते! शब्द सिद्ध होगा।

(201) 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (7.3.107)

अम्बा (माता) के अर्थ वाले अंगों को तथा नदीसंज्ञक अंगों को सम्बुद्धि परे रहते ह्रस्व हो जाता है।

उदा०-- हे अम्ब, हे अक्क, हे अल्ल -- अम्बार्थक।

नदीसंज्ञक -- हे कुमारि! हे वीरबन्धु ! अम्बा, अक्का, अल्ला, कुमारी, वीरबन्धू -- इन अम्बार्थक एवं नदीसंज्ञक (दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त शब्द) शब्दों के अन्त्य अच् को सम्बुद्धि के परे रहते ह्रस्व हुआ है।

(202) 'ह्रस्वस्य गुणः' (7.3.108)

ह्रस्वान्त अंग को सम्बुद्धि परे रहते गुण होता है।

उदा०-- हे अग्ने! हे वायो! हे पटो! अग्नि वायु और पट ये सभी ह्रस्वान्त अंग हैं। सम्बोधन की प्रथमा विभक्ति परे रहते इनको गुण प्राप्त हुआ। अग्नि के ह्रस्व इकार को एकार, वायु के उकार को ओकार तथा पटु के उकार को ओकार हुआ।

(203) 'जसि च' (7.3.109)

जस् परे रहते भी ह्रस्वान्त अंग को गुण होता है।

उदा०-- अग्नयः, वायवः आदि।

अग्नयः -- अग्नि जस्। ह्रस्वान्त अंग अग्नि के इकार को गुण एकार होकर -- अग्ने अस् = अग्नयः।

वायवः -- वायु जस्। वायु के उकार को गुण होकर - वायो अस् = वायवः।

(204) 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (7.3.110)

ऋकारान्त अंग को ङि तथा सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते गुण होता है।

उदा०-- ङि परे रहते -- मातरि, भ्रातरि, कर्तरि। सर्वनामस्थान परे रहते -- कर्तारौ, कर्तारः।

मातरि -- मातृ ङि। ङि परे होने से ऋकारान्त अंग मातृ को गुण प्राप्त हुआ। ऋकार को गुण एवं रपर होकर अर् आदेश होगा -- मात् अर् ङि = मातरि।

पितरौ -- पितृ औ। गुण होकर -- पित् अर् औ = पितरौ। औट् में भी यही रूप बनता है।

पितरः -- पितृ जस्। गुण होकर -- पित् अर् अस् > पितरस् = पितरः।

(205) 'घेर्ङिति' (7.3.111)

घिसंज्ञक अंग को ङित् सुप् प्रत्यय परे रहते गुण होता है।

उदा०-- हरये, विष्णवे आदि।

हरये -- हरि ङे। ह्रस्व इकारान्त होने से हरि घिसंज्ञक हुआ इससे परे ङित् सुप् प्रत्यय 'ङे' है अतः सूत्र द्वारा अंग को गुण प्राप्त हुआ 'अलोऽन्त्यस्य' के बल से यह गुण अंग के अन्त्य अल् को होगा -- हरे ए = हरये

विष्णवे -- विष्णु ङे। गुण होकर -- विष्णो ए = विष्णवे।

(206) 'णौ चङ्युपधाया: ह्रस्वः' (7.4.1)

चङ् जिसके परे हो ऐसे णिच् के परे रहते अंग की उपधा को ह्रस्व

होता है।

उदा०-- अलीलवत्, अपीपवत्।

अलीलवत् -- अ लूञ् णिच् चङ्. तिप् > अ लू अ त्। सूत्र विहित ह्रस्व होकर -- अ लु अ त्। द्वित्व, अभ्यास के उकार को इत्व उसे दीर्घ लु के उकार को ओकार अवादेश हो 'अलीलवत्' सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अपीपवत् में पूञ् को ह्रस्व हुआ है।

(207) 'भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्यां' (7.4.3)

भ्राज्, भास्, भाष्, दीप्, जीव्, मील्, पीड् -- इन अंगों की उपधा को चङ्परक णि परे रहते विकल्प से ह्रस्व होता है।

उदा०-- अबिभ्रजत्, अबभ्राजत्। अबीभसत् अबभासत्। अदीदिपत् अदिदीपत्। अजिजीवत् अजीजिवत्। अमीमिलत् अमिमीलत्। अपिपीडत् अपीपिडत्।

अबिभ्रजत् अबभ्राजत् -- भ्राज् णि > अट् भ्राज् णि चङ्. तिप् > अ ब भ्राज् अ त्। सूत्रविहित उपधा ह्रस्व होकर -- अ ब भ्रज् अत् = अबिभ्रजत्। ह्रस्व न होने पर अ ब भ्राज् अ त् = अबभ्राजत्।

अबीभसत् अबभासत् -- अ ब भास्(णि) अ त् = अ ब भास् अ त्। उपधा ह्रस्व हो अ ब भस् अ त् = अबभसत् > अबीभसत्। ह्रस्वाभाव पक्ष में अबभासत्। अदीदिपत्, अदिदीपत् -- अ दि दीप् अ त्। अङ्. की उपधा ह्रस्व होकर -- अदि दिप् अ त् = अदिदिपत् > अदीदिपत्। उपधाह्रस्व न होने पर -- अ दि दीप् अ त् अदिदीपत्।

(208) 'लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य' (7.4.4)

पा अंग की उपधा का चङ्परक णि परे रहते लोप होता है तथा अभ्यास को ईकारादेश होता है।

उदा०-- अपीप्यत्, अपीप्यताम्, अपीप्यन्।

अपीप्यत् -- अ पा णिच् चङ्. तिप् > अ पा चङ्. तिप् > अ पा युक् चङ्. तिप् > अ पा य् अ त् > अ पा पा य त्। सूत्र द्वारा विहित अंग की उपधा का लोप तथा अभ्यास को ईत्व हो -- अ पी प् य त् अपीप्यत्।

(209) 'तिष्ठतेरित्' (7.4.5)

ष्ठा अंग की उपधा को चङ्परक णि परे रहते इकारादेश होता है।

उदा०-- अतिष्ठिपत्।

अतिष्ठिपत् -- अ ष्ठा णिच् चङ्. तिप् > अ ष्ठा पुक् णिच् चङ्. तिप् > अ ष्ठा प् अ त् > अ ति ष्ठा प त्। 'ष्ठा' की उपधा को इकारादेश हो -- अ ति ष्ठिप् अत् = अतिष्ठिपत्।

(210) 'जिघ्रतेर्वा' (7.4.6)

घ्रा अंग की उपधा को चङ्परक णि परे रहते विकल्प से इकारादेश होता है।

उदा०-- अजिघ्रिपत्, अजिघ्रपत्।

अजिघ्रिपत्, अजिघ्रपत् -- अट् घ्रा पुक् णि चङ्. तिप् > अ घ्रा प् अ त्

> अ जि घा प् अ त्। आलोच्य सूत्र द्वारा प्राप्त इत्वादेश होने पर -- अजि घिप् अत् = अजिघिपत्। इत्वादेश के अभाव में सू० "णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः" से उपधा ह्रस्व होकर -- अ जि घप् अत् = अजिघपत्।

(211) 'उर्ऋत्' (7.4.7)

चङ्परक णि परे रहते उपधा ऋवर्ण के स्थान पर विकल्प से ऋकारादेश होता है।

उदा०-- अचिकीर्त्तत्, अचीकृतत्। अववर्तत्, अवीवृतत्। अममार्जत्, अमीमृजत्।

अचिकीर्त्तत्, अचीकृतत् -- अ कृत् णिच् चङ् तिप् = अ चि कृत् अ त्। कृत् के ऋकार को "ऋत इद्धातोः" से इर् आदेश प्राप्त था जिसका इस सूत्र से बाध हुआ और ऋकार के स्थान पर ऋकार हो गया -- अ चि कृत् अत् = अचीकृतत्। सूत्रविहित कार्य के अभाव में "ऋत इद्धातोः" से इर् आदेश हो -- अचि क् इर् त् अत् > अचिकीर्त्तत्।

अववर्त्तत्, अवीवृतत् -- अ व वृत् णिच् चङ् तिप् = अव वृत् अत्। वृत् को लघूपध गुण प्राप्त है जिसे बाधकर उपर्युक्त सूत्र द्वारा वैकल्पिक ऋकारादेश विहित हुआ। ऋकार पक्ष में -- अ व वृ त् अत् > अवीवृतत् तथा ऋकार के अभाव में लघूपध गुण होकर -- अव व् अर् त् अत् > अववर्तत्।

अममार्जत्, अमीमृजत् -- अ म मृज् अत् ऋकार पक्ष में अ म मृज् अत् > अमीमृजत् अभाव पक्ष में "मृजेर्वृद्धिः" सूत्र वृद्धि हो अ म मार् ज् अत् > अममार्जत्।

(212) 'नित्यं छन्दसि' (7.4.8)

वेद विषय में चङ्परक णि परे रहते अंग की उपधा ऋकार के स्थान में नित्य ही ऋकारादेश होता है। उदा०-- अवीवृधत्पुरोडाशेन।

अवीवृधत् -- अ वृध् णिच् तिप् > अ वृध् इ चङ् त् > अ व वृध् अ त्। लघूपध गुण का उपर्युक्त सूत्र द्वारा बाध हो ऋकारादेश विहित किया गया। तब -- अ व वृध् अत् > अ वी वृधत् = अवीवृधत् रूप बना।

(213) 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' (7.4.10)

संयोग आदि में है जिसके ऐसे ऋकारान्त अंग को भी गुण होता है यदि लिट् परे हो तो।

उदा०-- सस्मरतुः, सस्मरुः। सस्वरतुः, सस्वरुः। दध्वरतुः, दध्वरुः।

सस्मरतुः -- स्मृ अतुस् > स स्मृ अतुस्। स्मृ धातु के आदि में स् एवं म् वर्णों का संयोग है। धातु ऋकारान्त है तथा इससे परे लिट् का अतुस् प्रत्यय है अतएव अंग को गुण प्राप्त हुआ। गुण होकर -- स स्म् अर् अतुस् = सस्मरतुः।

सस्मरुः -- स्मृ उस् > स स्मर् उ स् -- सूत्र विहित गुण होकर। सस्मरुः। इसी प्रकार संयोगादि ऋकारान्त स्वृ, ध्वृ आदि धातु अंगों

को भी लिट् प्रत्यय परे रहते गुण होगा।

(214) 'ऋच्छत्यृताम्' (7.4.11)

ऋच्छ, ऋ तथा ऋकारान्त अंगों को लिट् परे रहते गुण होता है।

ऋच्छ -- आनर्च्छ, आनर्च्छतुः, आनर्च्छुः।

ऋ -- आरतुः, आरुः।

ऋकारान्त -- निचकरतुः, निचकरुः। निजगरतुः, निजगरुः आदि।

आनर्च्छ -- ऋच्छ णल्। सूत्र विहित गुण हो -- अर् च्छ णल्। द्वित्व, अभ्यास कार्य, नुट् आदि कार्य होकर अभीष्ट रूप बनेगा।

आनर्च्छतुः -- ऋच्छ अतुस्। सूत्र विहित गुण होकर -- अर् च्छ अतुस्।

आरुः -- ऋ उस्। अंग को सूत्र विहित गुण होकर -- अर् उस्। द्वित्व अभ्यास कार्य अभ्यासदीर्घ हो 'आरुः' प्रयोग सिद्ध होगा।

निचकरतुः -- नि कृ अतुस्। अंग को गुण हो -- नि कर् अतुस्। द्वित्व अभ्यास कार्य होकर निचकरतुः।

निजगरुः -- नि गृ उस्। सूत्र विहित गुण हो -- नि गर् उस्। द्वित्व, अभ्यासकार्य हो कर 'निजगरुः' बना।

(215) 'शृदृप्रां ह्रस्वो वा' (7.4.12)

शृ, दृ तथा पृ अंगों को लिट् परे रहते विकल्प से ह्रस्व होता है।

उदा०-- विशश्रतुः, विशश्रुः। विशशरतुः, विशशरुः। विदद्रतुः विददरतुः। निपप्रुः, निपपरुः।

विशश्रतुः, विशशरतुः -- वि शृ अतुस्। सूत्र द्वारा प्राप्त ह्रस्व हो -- वि शृ अतुस्। यण्, द्वित्व, अभ्यासकार्य हो विशश्रतुः बना। ह्रस्व के अभाव में सू० "ऋच्छत्यृताम्" से गुण होगा -- वि श् अर् अतुस्। द्वित्व अभ्यासकार्य होकर विशशरतुः बना। इसी प्रकार दृ पृ को ह्रस्व पक्ष में यण् एवं ह्रस्व के अभाव में ऋकार को गुण हो विदद्रतुः, निपप्रुः एवं विददरतुः, निपपरुः आदि प्रयोग बनेंगे।

(216) 'केऽणः' (7.4.13)

क प्रत्यय परे रहते अण् को ह्रस्व होता है। उदा०-- ज्ञका, कुमारिका, किशोरिका। ज्ञका -- ज्ञा क टाप्। 'ज्ञा' से परे क प्रत्यय है अतएव अंग के अण् आकार को ह्रस्व हो -- ज्ञ क आ > ज्ञका।

कुमारिका -- कुमारी क टाप्। सूत्र द्वारा अंग के अण् को ह्रस्व प्राप्त हुआ। 'अलोऽन्त्यस्य' के बल से यह ह्रस्व अन्त्य अल् ईकार को होगा। ईकार अण् प्रत्याहार (अ, इ, उ) के अन्तर्गत आने वाला वर्ण है अतः सूत्र की प्रवृत्ति होती है। ह्रस्व होकर -- कुमारि क आ = कुमारिका।

(217) 'ऋदृशोऽङि गुणः' (7.4.16)

ऋवर्णान्त तथा दृशिर् अंग को अङ् परे रहते गुण होता है।

उदा०-- ऋकारान्त -- अकरत्, असरत्।

दृशि -- अदर्शत्।

अकरत् -- अट् कृ अङ्. तिप् > अ कृ अ त् । कृ ऋकारान्त अंग है अतएव इसे आलोच्य सूत्र द्वारा गुण विहित हुआ । गुण होकर -- अ क् अर् अ त् = अकरत् । इसी प्रकार सृ को गुण होकर लुङ्. के एक वचन प्रथम पुरुष में असरत् रूप बनेगा ।
अदर्शत् -- अट् दृश् अङ्. तिप् > अ दृश् अ त् । गुण होकर -- अ द् अर् श् अ त् > अदर्शत् ।

(218) 'श्वयतेरः' (7.4.18)
टुओश्वि अंग को अङ्. परे रहते अकारादेश होता है ।
उदा०-- अश्वत्, अश्वताम् आदि ।
अश्वत् -- श्वि लुङ्. > अट् श्वि अङ्. तिप् = अ श्वि अ त् । 'श्वि' को सूत्र-विहित अकार आदेश होकर -- अ श्व अ त् । वकारपरक अकार एवं अङ्. के अकार को पररूप एकादेश होकर शब्द सिद्ध हुआ ।

(219) 'शीङ.: सार्वधातुके गुणः' (7.4.21)
शीङ्. अंग को सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते गुण होता है ।
उदा०-- शेते, शयाते, शेरते ।
शेते -- शीङ्. शप् त > शीङ्. त । शीङ्. के ईकार को सवर्ण गुणसंज्ञक एकारादेश होकर -- श् ए त > शेत । आत्मनेपद में टि को एत्व हो 'शेते' शब्द बना ।
शयाते -- शीङ्. लट् > शीङ्. आताम् । शीङ्. को गुण हो -- शे आताम् । शे आताम् > शयाते ।
शेरते -- शीङ्. झ > शीङ्. अत > शीङ्. रुट् अत् > शीङ्. र् अत > शी रत । शीङ्. अंग को गुण हो -- शे रत शेरत > शेरते ।

(220) 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' (7.4.23)
उपसर्ग से उत्तर ऊह् (वितर्के) अंग को यकारादि कित् ङित् लिङ्. परे रहते ह्रस्व होता है ।
उदा०-- समुह्यते, अभ्युह्यते ।
समुह्यते -- सम् ऊह् यासुट् त > सम् ऊह् य ते । अंग को ह्रस्व होकर -- सम् उह् य ते = समुह्यते ।

(221) 'एतेर्लिङि.' (7.4.24)
उपसर्ग से उत्तर इण् गतौ अंग को यकारादि कित् ङित् लिङ्. परे रहते ह्रस्व होता है ।
उदा०-- उदियात्, समियात्, अन्वियात् ।
उदियात् -- उत् इण् यासुट् तिप् । आशीर्लिङ्. में उत् इ या त् इस दशा में :अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" से अजन्त अंग दीर्घ हुआ -- उत् ई या त् । अब प्रकृत सूत्र द्वारा अंग को ह्रस्व होगा क्योंकि आशीर्लिङ्. का यासुट् कित् होता है । तब सूत्रविहित कार्य होकर -- उत् इ या त् > उदियात् ।
समियात् -- सम् इ या त् > सम् ई या त् यकारादि कित् यासुट् परे

होने से अंग को ह्रस्व हो -- सम् इ या त् > समियात् ।

(222) 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (7.4.25)

कृत् तथा सार्वधातुक से भिन्न कित् ङित् यकार परे रहते अजन्त अंग को दीर्घ होता है ।

उदा०-- भृशायते, सुखायते, दुःखायते, चीयते, चीयात्, स्तूयात् ।

भृशायते -- भृश, क्यङ्, त । क्यङ् आर्धधातुक कित्, यकारादि प्रत्यय है अतः इसके परे रहते अजन्त अंग को आलोच्य सूत्र द्वारा दीर्घ हुआ -- भृशा य त > भृशायते ।

चीयते -- चिञ् यक् > चि य त > चि य ते । अंग को दीर्घ होकर -- ची य ते = चीयते ।

स्तूयात् -- स्तु यासुट् तिप् । आशीर्लिङ् का यासुट् कित् होता है अतएव स्तु अंग को दीर्घ होगा -- स्तूयात् ।

(223) 'च्वौ च' (7.4.26)

च्वि प्रत्यय परे रहते भी अजन्त अंग को दीर्घ होता है ।

उदा०-- शुचीकरोति, शुचीभवति, शुचीस्यात्, पटूकरोति ।

शुचीकरोति -- शुचि च्वि कृ > शुचि कृ । शुचि अजन्त अंग है अतएव सूत्र द्वारा दीर्घादेश होगा । तब अंग के अन्त्य अल् इकार को दीर्घ होकर -- शुची कृ । तिबादि होकर शुचीकरोति ।

(224) 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' (7.4.29)

ऋ तथा संयोग आदि में हो जिनके ऐसी ऋकारान्त धातुओं को यक् तथा यकारादि असार्वधातुक लिङ् परे रहते गुण होता है ।

उदा०-- अर्यते, अर्यात्, स्मर्यते आदि।

अर्यते -- ऋ यक् त > ऋ य ते । यक् परे रहते ऋ धातु को प्रकृत सूत्र से गुण प्राप्त हुआ । गुण और रपर हो -- अर् य ते = अर्यते ।

अर्यात् -- ऋ लिङ् > ऋ तिप् । ऋ यासुट् तिप् > ऋ यास् त् > ऋ या त् । यासुट् यकारादि असार्वधातुक लिङ् संबंधी विकरण है अतएव ऋ धातु को गुण होगा -- अर् या त् = अर्यात् ।

स्मर्यते -- स्मृ यक् त > स्मृ य ते । स्मृ ऋकारान्त संयोगादि धातु है, इससे परे यक् है अतः धातु को गुण होगा -- स्म् अर् य ते स्मर्यते ।

स्मर्यात् -- स्मृ यासुट् तिप् > स्मृ या त् । आशीर्लिङ् संबंधी आर्धधातुक, यकारादि विकरण यासुट् परे रहते संयोगादि ऋकारान्त धातु के अन्त्य अल् को गुण होकर --स्म् अर् या त् = स्मर्यात् ।

(225) 'यङि च' (7.4.30)

ऋ तथा संयोग आदि वाले ऋकारान्त अंग को यङ् परे रहते भी गुण होता है ।

उदा०-- अरार्यते, सास्वर्यते, दाध्वर्यते, सास्मर्यते ।

अरार्यते -- ऋ यङ् । सूत्र विहित गुण हो अर् य । त, द्वित्व, आदि हल् शेष हो, दीर्घ हो- अरार्यते प्रयोग सिद्ध हुआ ।

(226) 'ई घ्राध्मोः' (7.4.31)

घ्रा तथा ध्मा अंग को यङ्. परे रहते ईकारादेश होता है।
उदा०-- जेघ्रीयते, देध्मीयते।
जेघ्रीयते -- घ्रा यङ्. । अंग को सूत्र द्वारा विहित ईकारादेश होकर -- घ्री य। त प्रत्यय, द्वित्व, हलादि शेष, अभ्यासकार्य, टि को एत्व हो प्रयोग सिद्ध होगा।
देध्मीयते -- ध्मा यङ्. । ईकारादेश हो -- ध्मी य। लट् आत्मनेपद में त प्रत्यय-द्वित्व-अभ्यासकार्यादि होकर शब्द सिद्ध होगा।

(227) 'अस्य च्वौ' (7.4.32)

अकारान्त अंग को च्वि परे रहते ईकारादेश होता है।
उदा०-- शुक्लीभवति, शुक्लीस्यात्।
शुक्ल च्वि भू > शुक्ल भू। सूत्र द्वारा प्राप्त ईत्व हो -- शुक्ली भू। लट् प्र० पु० एकवचन में शुक्लीभवति।

(228) 'क्यचि च' (7.4.33)

क्यच् प्रत्यय परे रहते भी अवर्णान्त अंग को ईकारादेश होता है।
उदा०-- पुत्रीयति, घटीयति, मालीयति आदि।
पुत्रीयति -- पुत्र क्यच् तिप्। पुत्र अवर्णान्त अंग है अतः क्यच् परे रहते ईकार आदेश होगा। ईकार अन्तादेश हो -- पुत्री य ति = पुत्रीयति। इसी प्रकार घट के अन्त्य अकार को ईत्व हो घटीयति, माला के अन्त्य आकार को ईत्व होकर मालीयति शब्द सिद्ध हुए।

(229) 'अश्वाघस्यात्' (7.4.37)

अश्व, अघ -- इन शब्दों को वेद विषय में क्यच् परे रहते आकारादेश होता है।
उदा०-- अश्वायन्तो मघवन्। मा त्वा वृका अघायवो विदन्।
अश्वायन्तः -- अश्व क्यच्। क्यच् परे रहते अश्व शब्द को आकार अन्तादेश हो - अश्वा य। लट्, लट् को शतृ, नुम् आदि हो अश्वायन्तः बनेगा।
अश्वायन्तः -- अश्व क्यच् अश्व शब्द को आकारादेश प्राप्त होने पर "अलोऽन्त्यस्य" नियम से अन्त्य अकार को आत्व होकर -- अश्वा य। शतृ नुम् आदि हो अभीष्ट रूप बना।

(230) 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (7.4.38)

देव तथा सुम्न अंग को क्यच् परे रहते आकारादेश होता है यजुर्वेद की कठ शाखा में।
उदा०-- देवायन्तो यजमानाय। सुम्नायन्तो हवामहे।
देवायन्तः -- देव क्यच् शतृ। देव अंग को आकार अन्तादेश हो -- देवा य शतृ = देवायन्त स्वादि कार्य हो - देवायन्तः।
सुम्नायन्तः = सुम्न क्यच् शतृ। सुम्न को आकार अन्तादेश हो -- सुम्ना य शतृ = सुम्नायन्तः।

(231) 'द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति' (7.4.40)

दो, षो, मा, स्था -- इन अंगों को तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते

इकारादेश होता है।
उदा०-- दो -- निर्दितः, निर्दितवान्।
षो -- अवसितः, अवसितवान्।
मा -- मितः, मितवान्।
स्था -- स्थित, स्थितवान्।
-- निर् दो क्त। अङ्. को इकार आदेश होकर -- निर् दि त। स्वादि कार्य होकर निर्दितः बना।
निर्दितवान् -- निर् दो क्तवत् > निर् दो तवत्। अंग को इत्वादेश हो -- निर् दि तवत्। प्रथमा एकवचन में निर्दितवान्।
अवसितः -- अव सो क्त। धातु को इत्व हो -- अव सि त = अवसितः।
मितः -- मा क्त। अंग को सूत्रविहित इत्वादेश होकर मि त = मितः।
स्थितः -- स्था क्त = स्था त। धातु को इकार आदेश हो -- स्थि त = स्थितः।

(232) 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' (7.4.41)

शा, छा -- इन अंगों को विकल्प से इकारादेश होता है यदि तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो।
उदा०-- निशितम्, निशितवान्, निशातम्, निशातवान्।
छा -- अवच्छितम्, अवच्छातम्, अवच्छितवान्, अवच्छातवान्।
निशितम्, निशातम् -- नि शा क्त। इत्वादेश पक्ष में -- नि शि त। स्वादि कार्य हो- निशितम् इत्वादेश अभाव पक्ष में -- नि शा त = निशातम्।
अवच्छितवान्, अवच्छातवान् -- अव छा क्तवत्। धातु को वैकल्पिक इत्वादेश प्राप्त होने पर इत्वादेश पक्ष में -- अव छि तवत् = अवच्छितवान्।

(233) 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' (7.4.55)

आप्, ज्ञपि तथा ऋध् अंगों को अच् के स्थानमें ईकारादेश होता है, सकारादि सन् प्रत्यय परे रहते।
उदा०-- ईप्सति, ज्ञीप्सति, ईर्त्सति।
ईप्सति -- आप् सन् तिप्। सन् परे रहते अंग के अच् को ईकारादेश होकर -- ईप् स ति = ईप्सति।
ज्ञीप्सति -- ज्ञपि (ज्ञा पुक् णिच्) सन् तिप् > ज्ञप् स ति। अंग के अच् को ईत्व हो -- ज्ञीप् स ति = ज्ञीप्सति।
ईर्त्सति -- ऋध् सन् तिप् > ऋध् स ति। अंग को सूत्रविहित ईत्व, रपर होकर -- ईर्ध्स ति > ईर्त्सति।

(234) 'दम्भ इच्च' (7.4.56)

दम्भ अंग के अच् के स्थान में इकारादेश होता है तथा चकार से ईत्व भी होता है सकारादि सन् परे रहते।
उदा०-- धिप्सति, धीप्सति।

भिप्सति -- दम्भ् सन् तिप् > दम्भ् स ति > धाम स ति > ध प् स ति। सूत्र विहित इत्व हो -- धि प् स ति।
सूत्रोपात्त चकार के बल से पक्ष में ईत्वादेश भी प्राप्त है। ईत्वादेश पक्ष में -- धी प् स ति।

(235) **'मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा' (7.4.57)**
अकर्मक मुच्लृ धातु को गुण विकल्प से होता है यदि सकारादि सन् प्रत्यय परे हो।
उदा०-- मोक्षते, मुमुक्षते।
मोक्षते -- मुच् सन् त > मुच् स ते। सूत्रविहित गुण होकर -- मोच् स ते। द्वित्व, अभ्यास लोप चकार को कुत्व, स को षत्वादि कार्य हो शब्द सिद्ध हुआ।
मुमुक्षते -- मुच् सन् त। गुण के अभाव में द्वित्व, अभ्यास कार्य, कुत्व, षत्व टि को एत्वादि हो इस प्रकार का रूप बना।

(236) **'ह्रस्वः' (7.4.59)**
अंग के अभ्यास को ह्रस्व होता है।
उदा०-- बुभूषति, चिकीर्षति।
बुभूषति -- भू सन् तिप् > भू भू स ति। आलोच्य सूत्र द्वारा अभ्यास को ह्रस्व हो -- भु भू स ति। बुभूषति।
चिकीर्षति -- कृ सन् > कृ सन् > किर् स कीर् स > कीर् कीर् स > की कीर् स अभ्यास को ह्रस्व हो - कि कीर् स। कि कीर् स > चिकीर्ष, चिकीर्ष तिप् > चिकीर्षति।

(237) **'उरत्' (7.4.66)**
ऋवर्णान्त अभ्यास को अकारादेश होता है।
उदा०-- ववृते, ववृधे आदि।
ववृधे -- वृध् त > वृध् एश् > वृध् ए वृ वृध ए। अभ्यास को अकारादेश हो -- व् अर् वृध ए। वर् वृध ए। हलादि शेष हो ववृधे रूप बना।
ववृते -- वृत् ए > वृ वृत् ए। अभ्यास को अकारादेश होकर -- वर् वृते।
पुनः हलादिशेष हो ववृते शब्द बना।

(238) **'दीर्घ इणः किति' (7.4.69)**
इण् अंग के अभ्यास को कित् लिट् परे रहते दीर्घ होता है।
उदा०-- ईयतुः, ईयुः
ईयतुः -- इण् अतुस्। "असंयोगाल्लिट् कित्" सूत्र से अतुस् कित् हुआ। इकार को यण् हुआ तथा स्थानिवद्भाव से यकार को द्वित्व हुआ। अब आलोच्य सूत्र द्वारा इण् अंग के अभ्यास को दीर्घ विहित हुआ। इ य अतुस्-इस दशा में सूत्रविहित दीर्घ हो-ई य अतुस्>ईयतुः।
ईयुः -- इण् उस् > य् उस् > इ य् उस् सूत्र द्वारा विहित अभ्यासदीर्घ हो -- ई य् उस् = ईयुः।

(239) 'अत आदेः' (7.4.70)

अभ्यास के आदि अकार को लिट् परे रहते दीर्घ होता है।

उदा०-- आट, आटतुः, आटुः।

आट -- अट णल् > अ अट् अ। 'अतो गुणे' से प्राप्त पररूप को बाधकर आलोच्य सूत्र द्वारा दीर्घ हुआ -- आ अट् अ। सवर्णदीर्घ होकर आट रूप बना।

आटतुः -- अ अट् अतुस्। सूत्रविहित अभ्यासदीर्घ हो -- आ अट् अतुस् = आटतुः।

(240) 'भवतेरः' (7.4.73)

भू अंग के अभ्यास को अकारादेश लिट् परे रहते होता है।

उदा०-- बभूव, बभूवतुः, बभूवुः।

बभूव -- भू णल् > भु भूव अ। अंग के अभ्यास को अकारादेश हो -- भ भूव = बभूव।

बभूवतुः -- भू अतुस् > भु भूव् अतुस् अभ्यास को अकारादेश होकर -- भ भूव् अतुस् = बभूवतुः।

(241) 'णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ' (7.4.75)

णिजिर् आदि तीन धातुओं के अभ्यास को श्लु होने पर गुण होता है।

उदा०-- नेनेक्ति, वेवेक्ति, वेवेष्टि।

नेनेक्ति-- णिज् तिप् > निज् शप् तिप् > निज् तिप् > नि निज् तिप्। धातु के जुहोत्यादिगणीय होने से शप् को श्लु हुआ है अतएव अभ्यास को गुण प्राप्त हुआ -- विज् शप् तिप् > वि वेज् ति। अभ्यास को गुण हो -- वे वेज् ति = वेवेक्ति।

वेवेष्टि -- विष्लृ शप् तिप् > विष् ति > वि वेष् ति। अभ्यास को गुण हो -- वे वेष् ति = वेवेष्टि।

(242) 'भृञामित्' (7.4.76)

डुभृञ् आदि तीन धातुओं के अभ्यास् को इकारादेश होता है, श्लु होने पर।

उदा०-- बिभर्ति, मिमीते, जिहीते।

बिभर्ति -- भृ (डुभृञ्) शप् तिप् > ब भर् ति। अभ्यास को इकारादेश होकर -- बि भर् ति = बिभर्ति।

मिमीते -- मा (माङ्.) त। मा शप् त > म मा त > म मी ते। अभ्यास को सूत्रविहित इकारादेश होकर - मि मी ते = मिमीते।

जिहीते -- हा (ओहाङ्.) शप् त > हा त > ज ही ते। अभ्यास को सूत्रविहित इकार आदेश होने पर -- जि ही ते > जिहीते।

(243) 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (7.4.77)

ऋ तथा पृ धातुओं के अभ्यास को भी श्लु होने पर इकारादेश होता है।

उदा०-- इयर्ति, पिपर्ति।

इयर्ति -- ऋ तिप् > ऋ शप् तिप् > ऋ तिप् > ऋ ऋ ति। अभ्यास

को विहित इकारादेश रपर होकर -- इर् ऋ ति। हलादि शेष, उत्तरखण्ड के ऋ को गुण रपर हो तथा इयङ्. हो इयर्ति रूप बनेगा।
पिपर्ति -- पृ तिप् > पृ शप् तिप् > पृ ति > पृ पृ ति। अभ्यास को इकारादेश प्राप्त हुआ। यह इत्व रपर होकर प्रवृत्त होगा ("उरण् रपरः" सूत्र से) सूत्रविहित कार्य हो -- प् इर् पृ ति = पिपर्ति।

(244) **'बहुलं छन्दसि' (7.4.78)**

वेद विषय में अभ्यास को बहुल करके श्लु होने पर इकारादेश होता है।
उदा०-- पूर्णां विवष्टि। जनिमा विवक्ति वत्सं न माता सिषक्ति। जिघर्ति सोमम्।
इकारादेश का अभाव -- ददातीत्येवं ब्रूयात्। जजनमिन्द्रं माता यद्वीरं दधनन्धनिष्ठा।
विवष्टि -- वश् शप् तिप् > वश् ति। व वश् ति। इत्व हो -- वि वश् ति = विवष्टि।
विवक्ति -- वच् शप् तिप् > व वक् ति। अभ्यास को इत्वादेश हो -- वि वक् ति = विवक्ति।
सिषक्ति -- सच् शप् तिप् > स सक् ति। अभ्यास को इकारादेश हो -- सि सक् ति = सिषक्ति।
ददाति -- दा शप् ति > द दा ति। यहाँ इत्व नहीं होता।
जजनम् -- जन् लङ्. > जन् मिप् > जन् अम् > ज जन् अम् = जजनम्-अभ्यास इत्व नहीं हुआ।
दधनम् -- ध धन् अम् > दधन् अम् यहाँ भी सूत्रोपदिष्ट 'बहुलं' के बल से इत्वादेश का अभाव हुआ।

(245) **'सन्यतः' (7.4.79)**

सन् परे रहते अकारान्त अभ्यास को इत्व होता है।
उदा०-- पिपठिषति, जिगमिषति।
पिपठिषति -- पठ् सन्। प पठ् स तिप् > प पठि ष ति। अभ्यास 'प' अकारान्त है अतएव इसके अकार को इकारादेश होगा -- पि पठिषति।
जिगमिषति -- ज गम् इ ष ति। अभ्यास 'ज' अकारान्त है अतएव इसे इकारादेश हुआ -- जि गमिषति।

(246) **'ओः पुयण्ज्यपरे' (7.4.80)**

सन् परे रहते अभ्यास के अवयव उकार को इकारादेश होता है यदि ऐसा पवर्ग अथवा यण् का कोई वर्ण अथवा जकार परे हो जिसके आगे अवर्ण हो।
उदा०-- पवर्ग -- पिपविषते।
यण् -- यियविषति।
जकार परे होते -- जिजावयिषति।
पिपविषते -- पू (पूङ्.) सन् त् > पु पवि ष ते। यहाँ उकारान्त अभ्यास के परे पवर्ग का पवर्ण है। पकार के बाद अवर्ण है अतः

अभ्यास के उकार को इकार हुआ -- पि पविषते ।
यियविषति -- यु सन् तिप् > यु यव् इ स ति । अभ्यास उकारान्त है जिससे परे यण् यकार है जिसके आगे अवर्ण है अतः अभ्यास के उवर्ण को इत्वादेश होगा -- यि यविषति ।
जिजावयिषति -- जु णिच् सन् तिप् > जु जौ इ स ति > जु जाव् इ स ति > जु जाविषति । अभ्यास के उकार को इकार हो -- जि जावयिषति ।

(247) 'स्रवतिश्रृणोतिद्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा' (7.4.81)
सन् प्रत्यय परे हो तो स्रु, द्रु, श्रु, प्रुङ्, प्लुङ्, च्युङ् -- इन धातुओं के उवर्णान्त अभ्यास को विकल्प से इकारादेश होता है यदि अभ्यास से परे अवर्णपरक यण् प्रत्याहार का वर्ण हो तो ।
उदा०--
स्रु - सिस्रावयिषति, सुस्रावयिषति ।
श्रु - शिश्रावयिषति, शुश्रावयिषति ।
द्रु - दिद्रावयिषति, दुद्रावयिषति ।
प्रुङ् - पिप्रावयिषति, पुप्रावयिषति ।
प्लुङ् - पिप्लावयिषति, पुप्लावयिषति ।
च्युङ् - चिच्यावयिषति, चुच्यावयिषति ।
सिस्रावयिषति -- स्रु णिच् सन् तिप् > सु स्रावयि ष ति । अभ्यास के उकार को इकार हो -- सि स्रावयि ष ति = सिस्रावयिषति । इकारादेश के अभाव में उकार ही रह गया -- सु स्रावयिषति = सुस्रावयिषति ।
पिप्लावयिषति पुप्लावयिषति -- प्लु णिच् सन् तिप् > पु प्लावयि स ति । अभ्यास को इत्व हो --पि प्लावयि स ति = पिप्लावयिषति । इत्वादेश के अभाव में -- पु प्लावयिषति = पुप्लावयिषति ।

(248) 'गुणो यङ्लुकोः' (7.4.82)
यङ् तथा यङ्लुक् के परे रहते इगन्त अभ्यास को गुण होता है ।
उदा०-- चेचीयते, लोलूयते -- यङ् परे रहते । जोहवीति -- यङ्लुक् परे रहते ।
चेचीयते -- चि यङ् त > चि चि य ते । 'चि' इगन्त अभ्यास है तथा अंग से परे यङ् है अतः सूत्रविहित गुण प्राप्त होता है । अभ्यास को गुण हो -- च ए चि य ते = चेचीयते ।
जोहवीति -- हु यङ् तिप् > जु हु ति । जु हु इट् ति > जु हो इ ति > जु हव् इ ति > जु हवि ति > जु हवीति । इगन्त अभ्यास को यङ्लुक् परे रहते गुण हो -- जो हवीति = जोहवीति ।

(249) 'दीर्घोऽकितः' (7.4.83)
कित्भिन्न अभ्यास को दीर्घ होता है, यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते ।
उदा०-- पापच्यते । पापचीति ।
पापच्यते -- पच् यङ् त > प पच् य ते । अभ्यास अकारान्त है तथा

अंग के परे यङ्. है अतएव अभ्यास को दीर्घ होकर -- पा पच् य ते = पापच्यते ।

पापचीति -- पच् यङ्. तिप् > पच् तिप् > प पच् तिप् । यङ्लुक होने से अभ्यास का दीर्घ हुआ -- पा पच् तिप् = पापचीति ।

(250) 'उत्परस्यातः' (7.4.88)

चर तथा फल धातुओं के अभ्यास से परे जो अकार उसके स्थान में उकारादेश यङ्. तथा यङ्लुक् परे रहते होता है ।

उदा०-- चञ्चूर्यते, चञ्चूरीति । -- चर

पम्फुल्यते, पम्फुलीति । - फल

चञ्चूर्यते -- चर यङ्. त > च न् चर् य ते > चन् चर्यते । अभ्यास से परवर्ती अकार - चर् के अकार को उत्व हो -- चन् चुर् यते = चञ्चूर्यते ।

चञ्चूरीति -- चर् यङ्. तिप् > चर् तिप् > च न् चर् ईट् ति । अभ्यास से परवर्ती अकार को उत्व हो -- च ञ् चुर् ई ति = चञ्चूरीति ।

पम्फुल्यते -- फल यङ्. त > फ न् फल् यते > प म् फल्यते । अभ्यास से परवर्ती अकार को उत्व हो -- पम् फुल् य ते = पम्फुल्यते

पम्फुलीति -- फल यङ्. तिप् > फल तिप् > पम् फल्ईट्ति । अभ्यास से परे जो अकार उसे उत्वादेश हो -- पम् फुलई ति = पम्फुलीति ।

(251) 'ति च' (7.4.89)

तकारादि प्रत्यय परे रहते भी चर तथा फल अंग के आकार के स्थान में उकारादेश होता है ।

उदा०-- चूर्तिः, प्रफुल्ताः, प्रफुल्तिः।

चूर्तिः -- चर् क्तिन् > चर् ति । चर् अंग के अकार को उकारादेश होकर -- चुर् ति = चूर्तिः ।

प्रफुल्तिः -- प्र फल् क्तिन् > प्रफल् ति । फल् अंग के अकार को उकारादेश होकर -- प्र फुल् ति । स्वादिकार्य हो -- प्रफुल्तिः ।

प्रफुल्ताः -- प्र फल् क्त । अंग के अकार को सूत्र द्वारा विहित उकारादेश करने पर -- प्र फुल् त । टाप्, जस् हो शब्द सिद्ध हुआ ।

(252) 'दीर्घो लघोः' (7.4.94)

अंग के लघु अभ्यास को लघु धात्वक्षर परे रहते दीर्घ होता है चङ्परक णि परे रहते ।

उदा०-- अचीकमत्, अपीपचत् ।

अचीकमत् -- कम् णिच् लुङ्. > अ चि कम् अ (चङ्.) त् । चङ्परक णि परे रहने से अंग 'अचिकम्' के अभ्यास के लघु इकार को सूत्र द्वारा दीर्घ आदेश प्राप्त हुआ । दीर्घ हो -- अचीकमत् ।

अपीपचत् -- अ पि पच् अ त् । यहाँ पच् से परे लुप्त 'णि' है और णि से परे चङ्. है अतः अभ्यास को दीर्घ होगा-अ पी पचत्=अपीपचत् ।

(253) 'अत् स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम्' (7.4.95)

स्मृ, दृ, त्वर, प्रथ, म्रद, स्तृ, स्पश -- इन अंगों के अभ्यास को

चङ्परक णि परे रहते अकारादेश होता है।
उदा०—— असस्मरत्, अददरत्, अतत्वरत्, अपप्रथत् अमम्रदत्, अतस्तरत्, अपस्पशत्।
असस्मरत् —— अट् सि स्मर् अ त्। अभ्यास को अकारादेश होकर —— अ स स्मरत् = असस्मरत्।
अददरत् —— अ दि दर् अ त्। अभ्यास को अकारादेश हो —— अददरत्।

(254) 'विभाषा वेष्टिचेष्ट्योः' (7.4.96)

वेष्टि तथा चेष्टि अंग के अभ्यास को चङ्परक णि परे रहते विकल्प से अकारादेश होता है।
उदा०—— अववेष्टत्, अविवेष्टत् —— वेष्टि।
अचचेष्टत्, अचिचेष्टत् —— चेष्टि।
अववेष्टत् —— अ वे वेष्ट् अ त्। अभ्यास को अकारादेश पक्ष में —— अ व वेष्ट् अ त् = अववेष्टत्। अकारादेश के अभाव में "ह्रस्वः" 7.4.59 से अभ्यास को ह्रस्व प्राप्त हुआ। "एच् इग्घ्रस्वादेशे" नियम से एकार के स्थान पर इकार आदेश हो —— अ वि वेष्ट् अ त् = अविवेष्टत्।
अचचेष्टत् —— अ चे चेष्ट् अ त्। अभ्यास को अत्वादेश होकर —— अ च चेष्टत् = अचचेष्टत्। अत्वादेश के अभाव में ह्रस्व हो —— अ चि चेष्ट् अ त् = अचिचेष्टत्।

(255) 'ई च गणः' (7.4.97)

गण धातु के अभ्यास को ईकारादेश तथा चकार बल से अकारादेश भी होता है, चङ्परक णि परे रहते।
उदा०—— अजीगणत्, अजगणत्।
अजीगणत् —— अ ज गण् अ त्। सूत्र द्वारा विहित ईकारादेश होकर —— अ जी गण त्। सूत्रोपात्त चकार के बल से अभ्यास को अकार भी होगा। तब जब ईकार आदेश नहीं होगा तो अकार होकर अजगणत् —— ऐसा शब्द बनेगा।

(256) 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (8.2.76)

रेफान्त तथा वकारान्त जो धातु पद उसकी उपधा इक् को दीर्घ होता है।
उदा०—— गीः, धूः, पूः, आशीः।
गीः —— गॄ क्विप् > गिर्। गिर् सु > गिर् सु। रेफान्त धातु पद की उपधा को दीर्घ हो —— गीर् सु > गीः।
धूः —— धुर् सु। रेफान्त धातु पद की उपधा को दीर्घ हो – धूर् सु = धूः।
पूः —— पुर् सु। रेफान्त धातु (पॄ क्विप् = पुर्) पद पुर् की उपधा दीर्घ हो —— पूर् सु = पूः।
आशीः —— आ शृ क्विप् > आशिर् सु। रेफान्त धातु पद की उपधा

दीर्घ हो – आ शीर् सु > आशीः ।

(257) 'हलि च' (8.2.77)

हल् परे रहते भी रेफान्त तथा वकारान्त धातु की उपधा जो इक् उसको दीर्घ होता है ।

उदा०-- आस्तीर्णम् -- आङ्. स्तृ क्त > अ स्तिर्न । हल् नकार (क्त > त > न) परे रहते रेफान्त धातु पद की उपधा को दीर्घ हो -- आ स्तीर् न > आस्तीर्ण । आस्तीर्ण सु > आस्तीर्ण अम् = आस्तीर्णम् ।

दीव्यति -- दिव् वकारान्त धातु पद है अतः इसकी उपधा के इक् इकार को दीर्घ हो -- दीव् य ति = दीव्यति ।

(258) 'उपधायां च' (8.2.78)

हल् परे रहते धातु की उपधाभूत जो रेफ एवं वकार उनकी उपधा इक् को दीर्घ होता है ।

उदा०-- हूर्च्छिता, मूर्च्छिता, ऊर्विता, धूर्विता ।

हूर्च्छिता -- हुर्छ् कौटिल्ये लुट् > हुर्छ् डा > हुर्छ् तास् डा > हुर्छ् इट् तास् डा > हुर्छ् इ त् आ । हुर्छ् धातु की उपधा रेफ है । धातु के रेफपर्यन्त की उपधा इक् उकार है इस इक् को सूत्रविहित दीर्घ हो -- हूर्छ् इ त् आ = हूर्च्छिता ।

ऊर्विता -- उर्वी इट् तास् डा । यहाँ उर्व् धातु की उपधा में रेफ (र्) है । रेफपर्यन्त की उपधा का इक् जो उकार उसे सूत्रविहित दीर्घादेश हो -- ऊर्व् इ त् आ > ऊर्विता ।

सन्दर्भ-सूची

1. द्र० उक्त सूत्र का पतञ्जलिकृत भाष्य ।
2. द्विपर्यन्तानां त्यदादीनामत्वमिष्यते (सूत्र की काशिका व्याख्या) ।
3. काशिकावृत्तिः (सुधी प्रकाशनम् वाराणसी द्वारा प्रकाशित, स्वामी द्वारकादास शास्त्री द्वारा संपादित) षष्ठो भागः पृष्ठांक – 26 ।
4. सूत्र की बालमनोरमा टीका-"कदाचित्पूर्वपदस्य कदाचिदुत्तरपदस्येत्यर्थः" ।

'सम्प्रसारण – प्रकरण'

(1) **"ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे" (6.1.13)**

पुत्र तथा पति शब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में ष्यङ्. प्रत्ययान्त पूर्वपद को सम्प्रसारण होता है।

उदा०-- कारीषगन्धीपुत्रः, कौमुदगन्धीपुत्रः कौमुदगन्धीपतिः, कारीषगन्धीपतिः आदि।

कारीषगन्धीपुत्रः -- " कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः " इस अर्थ में ष्यङ्. प्रत्ययान्त कारीषगन्धी एवं पुत्र शब्द का समास हुआ -- कारीषगन्धि ष्यङ्. पुत्र। अब आलोच्य सूत्र द्वारा पूर्वपद को सम्प्रसारण प्राप्त हुआ। आदेश ष्यङ्. प्रत्ययान्त को प्राप्त है अतः पूर्वपद का अन्त्य अल् – प्रत्यय के यकार को सम्प्रसारण होकर -- कारीषगन्धि इ अ पुत्र सु ऐसी स्थिति हुई। अब इ एवं अ को पूर्वरूप हो इकार तथा 'गन्धि' के इकार एवं पूर्वरूप से प्राप्त इकार दोनों को सवर्णदीर्घ, स्वादिकार्य हो कारीषगन्धीपुत्रः शब्द सिद्ध हुआ।

कौमुदगन्धीपतिः -- कौमुदगन्धि ष्यङ्. पति सु। ष्यङ्. को सम्प्रसारण होकर -- कौमुदगन्धि इ अ पति सु= कौमुदगन्धीपतिः।

(2) **"बन्धुनि बहुव्रीहौ" (6.1.14)**

बन्धु शब्द उत्तरपद में हो तो बहुव्रीहि समास में ष्यङ्. को सम्प्रसारण होता है।

उदा०-- कारीषगन्धीबन्धुः।

कारीषगन्धि ष्यङ्. बन्धु सु। ष्यङ्. को सम्प्रसारण होकर -- कारीषगन्धि इ अ बन्धु सु = कारीषगन्धीबन्धुः।

(3) **"वचिस्वपियजादीनां किति" (6.1.15)**

वच्, ञिष्वप् और यजादि धातुओं को कित् प्रत्यय के परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है1।

जैसे -- उक्तः, सुप्तः, इष्टः।

उक्तः -- वच् क्त। सम्प्रसारण होकर -- उ अच् त। पूर्वरूप, च को क हो तथा विभक्त्यादि – कार्य होकर उक्तः शब्द सिद्ध हुआ।

सुप्तः -- स्वप् क्त। सम्प्रसारण होकर स् उ अप् त। सुप्तः।

इष्टः -- यज् क्त। सम्प्रसारण हो -- इ अ ज् त > इष्टः।

(4) **"ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति" (6.1.16)**

ग्रह, ज्या, वय, व्यध, वश, व्यच, ओव्रश्चू, प्रच्छ, भ्रस्ज -- इन धातुओं को सम्प्रसारण होता है ङित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते।

उदा०--

ग्रह -- गृहीतः, गृह्णाति।

ज्या -- जीनः, जिनाति।

वय -- ऊयतुः, ऊयुः।

व्यध -- विद्धः, विध्यति।

व्यच -- विचितः, विचति ।
व्रश्च -- वृक्णः, वृश्चति ।
प्रच्छ -- पृष्टः, पृच्छति ।
भ्रस्ज -- भृष्टः, भृज्जति ।
गृहीतः -- ग्रह् क्त । ग्रह् इट् त ।
सम्प्रसारण हो ग् ऋ ह् इ त । > गृह् ई त = गृहीत सु > गृहीतः ।
गृह्णाति -- ग्रह् श्ना तिप् । सम्प्रसारण होकर- ग् ऋ ह्ना ति > गृह्णाति । इसी प्रकार ज्या को सम्प्रसारण हो जी, वय को ऊय, व्यध को विद्ध, व्यच को विच, व्रश्च को वृश्च, प्रच्छ को पृच्छ, भ्रस्ज को भृस्ज हो जायगा तथा अन्य प्राप्त कार्य सम्पन्न हो उपर्युक्त उदाहृत शब्द सिद्ध होंगे ।

(5) **"लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्"** (6.1.17)

वचि, स्वपि, यजादि और ग्रहिज्या० सूत्र में वर्णित शब्दों के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है ।
उदा०-- उवाच, सुष्वाप, इयाज, उवाप, जिज्यौ, उवाय, विव्याध, उवाश, विव्याच आदि ।
उवाच -- वच् वच् णल् > व वच् अ > व वाच । अभ्यास को सम्प्रसारण होकर -- उ अ वाच । पूर्वरूप हो उवाच सिद्ध हुआ ।
जिज्यौ -- ज्या णल् > ज्या ज्या णल् > ज्या ज्या औ । अभ्यास को सम्प्रसारण हो -- ज् इ आ ज्या औ = जि ज्यौ ।

(6) **"स्वापेश्चङि."** (6.1.18)

णिजन्त स्वप् अर्थात् स्वापि को चङ्. परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ।
उदा०-- असूषुपत् ।
असूषुपत् -- अट् स्वप् इ (णिच्) अ (चङ्.) तिप् > अ स्वपि अ त् ।
स्वापि को सम्प्रसारण हो -- अ स् उ अ प् अत् > अ सुप् अ त् ।
द्वित्व अभ्यासकार्य हो अ सू सुपत् = असूषुपत् ।

(7) **"स्वपिस्यमिव्येञा यङि."** (6.1.19)

स्वप्, स्यम्, व्येञ् -- इन धातुओं को यङ्. परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ।
उदा०-- सोषुप्यते, सोसिम्यते, वेवीयते ।
सोषुप्यते -- सुवप्यङ्. > स्वप् य । सूत्रविहित सम्प्रसारण हो -- स् उ अ प् य = सुप् य हुआ । द्वित्व अभ्यासकार्य हो लट् एकवचन में सोषुप्यते बना ।
सेसिम्यते -- स्यम् यङ्. त > स्यम् य ते । सम्प्रसारण हो स् इ अम् य ते सिम्य ते । द्वित्व , अभ्यासकार्यादि होकर सेसिम्यते बना ।
वेवीयते -- व्येञ् यङ्. ते । सूत्रविहित सम्प्रसारण हो -- व् इ ए य ते = वि य ते । द्वित्व, अभ्यासकार्यादि हो वे वी य ते = वेवीयते ।

(8) **"स्त्यः प्रपूर्वस्य"** (6.1.23)

प्र उपसर्गपूर्वक स्त्या धातु को सम्प्रसारण हो जाता है यदि निष्ठा परे

हो तो ।

उदा०-- प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् अथवा प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् ।

प्रस्तीतः, प्रस्तीमः -- प्र स्त्या क्त । सूत्रविहित सम्प्रसारण हो -- प्र स्त् इ आ त = प्रस्ति त > प्रस्तीत बना । निष्ठा को सू० प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् से वैकल्पिक मकारादेश विहित होने से मकारपक्ष में प्रस्तीमः एवं मकारादेश के अभाव पक्ष में प्रस्तीतः बना ।

प्रस्तीमवान्, प्रस्तीतवान् -- प्र स्त्या क्तवत् । सम्प्रसारण हो प्र स्त् इ आ तवत् = प्रस्तीतवत् अथवा प्रस्तीमवत् प्रथमा एकवचन में 'सु' हो रूप द्वय सिद्ध हुए ।

(9) "द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः" (6.1.24)

तरल पदार्थ की मूर्ति - कठिनता, के अर्थ में वर्तमान तथा स्पर्श अर्थ में वर्तमान जो श्यैङ्. धातु उसे निष्ठा परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ।

उदा०-- शीनं घृतम्, शीना वसा, शीतं वर्तते, शीतो वायुः ।

शीनं, शीतं -- श्यैङ्. क्त > श्यै त । सूत्र द्वारा विहित सम्प्रसारण होकर -- श् इ ऐ त । पूर्वरूप तथा निष्ठा को वैकल्पिक नत्व हो शीनं, शीतं दोनों शब्द सिद्ध हुए ।

(10) "प्रतेश्च" (6.1.25)

प्रति से उत्तर श्यैङ्. होने पर भी धातु को सम्प्रसारण हो जाता है, यदि अंग से उत्तर निष्ठा प्रत्यय हो ।

उदा०-- प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान् ।

प्रतिशीनः -- प्रति श्यैङ्. क्त > प्रति श्यै त । सम्प्रसारण हो प्रति श् इ ऐ त = प्रति शि त । दीर्घ निष्ठानत्व हो प्रतिशीन बना ।

प्रतिशीनवान् -- प्रति श्यै क्तवत् > प्रति श्यै तवत् । सम्प्रसारण होकर प्रति श् इ ऐ तवत् = प्रतिशितवत् । प्रथमा एकवचन में प्रतिशीनवान् ।

(11) "विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य" (6.1.26)

अभिपूर्वक तथा अवपूर्वक श्या धातु को निष्ठा परे रहते विकल्प से सम्प्रसारण हो जाता है । यथा -- अवशीनम् अवश्यानम् वा । अभिशीनम् अभिश्यानम् वा । अभिशीनम्, अभिश्यानम् -- अभि श्यैङ्. क्त । सम्प्रसारण होकर- अभि श् इ ऐ त = अभिशीत = अभिशीन । स्वादि हो अभिशीनम् । सम्प्रसारण के अभाव में- अभि श्यै त > अभि श्या त > अभि श्या न सु = अभिश्यानम् ।

इसी प्रकार अवपूर्वक श्यैङ्. को सम्प्रसारण पक्ष में अव शि त > अवशीनम् और सम्प्रसारण के अभाव में अव श्यात = अवश्यानम् दो रूप बनेंगे ।

(12) "विभाषा श्वेः" (6.1.30)

लिट् या यङ्. परे हो तो श्वि धातु को विकल्प से सम्प्रसारण होता है ।

उदा०-- शुशाव शिश्वाय वा, शोशूयते शेश्वीयते वा ।

शुशाव, शिश्वाय -- श्वि णल् । सम्प्रसारण होकर -- श् उ इ अ =

शु अ। द्वित्व अभ्यासकार्य होकर शु शाव् अ = शुशाव बनेगा। सम्प्रसारण न होने पर श्वि श्वि अ > शि श्वि अ > शि श्वै अ > शि श्व् आय् अ = शिश्वाय।

शोशूयते, शेश्वीयते -- श्वि यङ्. > श्वि य त। सूत्र-विहित-सम्प्रसारण हो -- श् उ इ य त। द्वित्व, हलादिशेष, अभ्यास को गुण, अंग को दीर्घ, टि को एत्व हो शोशूयते शब्द बना। सम्प्रसारण के अभाव में शि श्वि य ते > शे श्वी यते = शेश्वीयते।

(13) **"णौ च संश्चङोः" (6.1.31)**

सन् परे हो या चङ्. परे हो जिस णिच् के ऐसे णि के परे रहते भी टुओश्वि धातु को विकल्प से सम्प्रसारण हो जाता है।

उदा०-- अशूशवत्, अशिश्वयत्।

अशूशवत् -- अट् श्वि णिच् चङ्. तिप् > अ श्वि अ त्। श्वि को सम्प्रसारण हो -- अ श् उ इ अत् = अ शु अत्। द्वित्व-अभ्यासकार्य आदि होकर अशूशवत् सिद्ध हुआ।

अशिश्वयत् -- अ श्वि (णि) अ त्। सम्प्रसारण के अभाव में द्वित्वादि हो -- अ श्वि श्वि अ त् > अ शि श्वे अ त् = अशिश्वयत्।

(14) **"ह्वः सम्प्रसारणम्" (6.1.32)**

सन्परक या चङ्परक णि परे हो तो ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण हो जाता है।

उदा०-- अजूहवत्, जुहावयिषति।

अजूहवत् -- ह्वेञ् णिच् तिप् > लुङ्. में -- अ ह्वे (णि) चङ्. त्। सूत्र द्वारा प्राप्त सम्प्रसारण कार्य हो -- अ ह् उ ए चङ्. त् = अ हु अ त्। द्वित्व अभ्यास कार्य हो अजूहवत्। जुहावयिषति- ह्वेञ् णिच् इट् सन् तिप्। सूत्र द्वारा विहित सम्प्रसारण हो -- ह् उ ए इ इ स ति = हु इ इ स ति। द्वित्व, अभ्यास के ह को चुत्व झकार, झकार को जश् जकार, अंग के उकार को वृद्धि-आवादेश, णि को गुण अयादेश, सन् को षत्व हो जुहावयिषति शब्द सिद्ध हुआ।

(15) **"अभ्यस्तस्य च" (6.1.32)**

अभ्यस्त का कारण जो ह्वेञ् धातु उसे सम्प्रसारण हो।

उदा०-- जुहाव, जुहूयते, जुहूषति।

जुहाव -- ह्वेञ् णल् > ह्वा अ। लिट् में अनभ्यस्त धातु को द्वित्व होता है। यहाँ ह्वेञ् धातु अभ्यस्त होनेवाली है अतः सूत्र द्वारा सम्प्रसारण प्राप्त हुआ। सम्प्रसारण होकर -- ह् उ आ अ = हु अ। द्वित्व अभ्यासकार्य, उकार को वृद्धि आवादेश हो 'जुहाव' सिद्ध होगा।

जुहूयते -- ह्वे यङ्.। सम्प्रसारण हो कर- ह् उ ए य = हु य। लट् प्रथम पु० एक वचन में जुहूयते शब्द सिद्ध हुआ।

जुहूषति -- ह्वे सन् तिप्। सम्प्रसारण हो-ह् उ ए सति > हु सति = जुहूषति।

'ह्वः सम्प्रसारणम् अभ्यस्तस्य' इस प्रकार के एक सूत्र का योगविभाग

किया गया। इससे प्रथम योग द्वारा णिपरक सन् और चङ्. परे होते ह्वेञ् को सम्प्रसारण विहित हुआ तथा द्वितीय योग द्वारा अभ्यस्त होनेवाली ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण विहित हुआ। सन् यङ्. तथा लिट् प्रत्यय परे रहते अंग की धातु को द्वित्व एवं अभ्यस्तसंज्ञा होती है अतः इनके उदाहरण दिए गए हैं। इससे 'जिह्वायकीयिषति' के ह्वेञ् को सम्प्रसारण नहीं हुआ।

ह्वायकमिच्छति, ह्वायकीयति – ह्वेञ् ण्वुल् = ह्वायक क्यच् = ह्वायकीयति, ह्वायकीय सन् = जिह्वायकीयिषति। ण्वुल् प्रत्ययान्त ह्वेञ् को क्यच् हुआ और इससे निष्पन्न शब्द को सन् हुआ। ह्वेञ् से परे होने वाले ण्वुल् और क्यच् प्रत्यय द्वित्व कार्य के निमित्त नहीं हैं अतः इनसे व्यवहित होने से द्वित्वनिमित्तक सन् परे रहते भी सम्प्रसारण नहीं हुआ। इस प्रकार ह्वेञ् को तभी सम्प्रसारण होगा जब (1) णिपरक सन् या चङ्. इससे परे हो और (2) अंग भावी-अभ्यस्तसंज्ञक हो अर्थात् द्वित्व निमित्तक सन्, यङ्. या लिट् प्रत्यय इसके परे हों। तथा द्वित्वनिमित्तक से भिन्न प्रत्यय का (सूत्र में उल्लिखित णि, चङ्. को छोड़कर) व्यवधान होने पर अभ्यस्तभावी धातु को सम्प्रसारण नहीं होगा (ऐसा ज्ञापित हुआ)।

(16) **"बहुलं छन्दसि" (6.1.33)**

वेद विषय में ह्वेञ् धातु को बाहुलकात् सम्प्रसारण होता है।

उदा०-- इन्द्राग्नी हुवे। ह्वयामि मरुतः।

हुवे -- ह्वेञ् शप् इट् > ह्वे इट् सूत्र-विहित सम्प्रसारण हो -- ह् उ ए इट् = हु इट्। हु को उवङ्., टि को एत्वादि कार्य हो हुवे शब्द बना।

ह्वयामि -- ह्वेञ् मिप् > ह्वे शप् मिप् > ह्वे अ मि > ह्व् अय मि = ह्वयमि > ह्वयामि -- सम्प्रसारण कार्य न होने पर इस प्रकार का रूप बना।

(17) **"वसोः संप्रसारणम्" (6.4.131)**

वसु अन्त वाले भसंज्ञक अंग को सम्प्रसारण होता है।

उदा०-- विदुषः, पेचुषः, पपुषः।

वस्वन्त का अर्थ है वसु, क्वसु प्रत्ययान्त शब्द।

विदुषः -- विद् वसु शस् > विद्वस् अस्। वस् को सम्प्रसारण हो -- विद् उ अस् अस् > विद् उस् अस्। रुत्व-विसर्ग, षत्व हो 'विदुषः'।

पेचुषः- पच् लिट् > पच् क्वसु > पच् पच् वस् > पेच् वस्। पेच् वस् शस्। सम्प्रसारण हो -- पेच् उ अस् शस्। उ एवं अ को पररूप उकार, शस् के सकार को रुत्व-विसर्ग, वस् के सकार को षत्व हो पेचुषः शब्द सिद्ध हुआ।

पपुषः -- पा लिट् > पा क्वसु > प पा वस् > प प् वस्। शस् हो प प् वस् शस्। सूत्र-विहित सम्प्रसारण हो प प् उ अस् शस्। उकार एवं अकार के स्थान पर पररूप उकार वस् के स् को ष्, शस् के स् को रुत्व

– विसर्ग होकर प प् उष् अः = पपुषः बना।

(18) "वाह ऊठ्" (6.4.132)

वाह् अन्त में हो जिस भसंज्ञक अंग के, उसको सम्प्रसारणसंज्ञक ऊठ् आदेश होता है।

उदा० -- विश्वौहः।

विश्ववाह् शस्। विश्ववाह् शब्द के अन्त में वाह् है तथा विश्ववाह अंग भसंज्ञक भी है अतः अंग को सम्प्रसारणरूप ऊठ् आदेश होकर -- विश्व ऊ आह् अस्। ऊ एवं आ को पूर्वरूप ऊकार, अकार परवर्ती ऊकार को वृद्धि एकादेश, अस् के स को रूत्व विसर्जनीय होकर -- विश्वौह् अः = विश्वौहः।

(19) "श्वयुवमघोनामतद्धिते" (6.4.133)

श्वन्, युवन्, मघवन् -- इन भसंज्ञक अंगों को तद्धितभिन्न प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होता है।

उदा०-- शुनः, यूनः, मघोनः।

शुनः -- श्वन् शस् > श्वन् अस्। शस् तद्धित प्रत्यय नहीं है अतः श्वन् को सम्प्रसारण हो -- श् उ अन् अस् > शु अन् अस्। उकार अकार को पूर्वरूप उकार, स् को रूत्व विसर्ग हो शुनः बना।

इसी प्रकार युवन्, मघवन् के वकार का शस् (अस्) परे रहते सम्प्रसारण हो उकारादेश हो यूनः, मघोनः शब्द सिद्ध होंगे।

(20) "द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्" (7.4.67)

द्युति एवं स्वापि अंग के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है।

उदा०-- दिद्युते, सुष्वापयिषति।

दिद्युते -- द्युत् लिट् > द्युत् त। द्युत् द्युत् त। अभ्यास को सम्प्रसारण होकर -- द् इ उत् द्युत् त। पूर्वरूप हलादिशेष हो दि द्युत् त हुआ त को एश् हो दि द्युत् ए = दिद्युते।

सुष्वापयिषति -- स्वप् णिच् सन् तिप्। स्वप् स्वापि इट् स ति। सम्प्रसारण हो -- स् उ अ प् स्वापि इ स ति। पूर्वरूप, हलादिशेष हो सु स्वापि इ स ति। गुण, अयादेश, षत्व हो सुष्वापयिषति।

(21) "व्यथो लिटि" (7.4.68)

व्यथ अंग के अभ्यास को लिट् परे रहते सम्प्रसारण होता है।

उदा०-- विव्यथे, विव्यथाते, विव्यथिरे।

विव्यथे -- व्यथ त > व्यथ व्यथ एश्। सम्प्रसारण हो -- वि अ थ् व्यथ् ए। > वि व्यथे।

तृतीय अध्याय
हल्–वर्णादेश

(1) " हनस्त च " (3.1.108)

ऐसा सुबन्त उपपद जो उपसर्ग न हो 'हन्' से पूर्व हो, तो भाव में क्यप् प्रत्यय तथा हन् के तकार को नकार अन्तादेश होता है। उदा. – ब्रह्महत्या।

ब्रह्महत्या – ब्रह्म हन् >हत् क्यप् = ब्रह्महत्या । टाप् हो शब्द सिद्ध हुआ।

(2) " दुहः कब् घश्च " (3.2.70)

सुबन्त उपपद हो तो दुह् धातु से कप् प्रत्यय तथा दुह् के हकार को घकार अन्तादेश होगा।

उदा.– कामदुघा, धर्मदुघा।

कामदुघा– काम दुह् > दुघ् कप् = कामदुघ। टाप् प्रत्यय (स्त्रीलिंग की विवक्षा में) होकर कामदुघा शब्द बना।

धर्म दुह् >दुघ् कप् टाप् = धर्मदुघा।

(3) " वनो र च " (4.1.7)

वन्नन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय तथा प्रातिपदिक को रेफ अन्तादेश होता है।

वनिप्, ङ्वनिप्, क्वनिप् प्रत्ययान्त शब्द 'वन्नन्त' पद हैं अतः वन संभक्तौ, वनु याचने आदि धातुओं को उपर्युक्त कार्य नहीं होंगे ।

उदा. धीवरी, पीवरी, शर्वरी।,

धीवरी – धीवन् > धीवर् ङीप्– प्रातिपदिक वन्नन्त है अतः स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय एवं रेफ अन्तादेश हुआ।

पीवरी – पीवन् > पीवर् ङीप् ।

शर्वरी – शर्वन् > शर्वर् ङीप् ।

(4) " पत्युर्नो यज्ञसंयोगे " (4.1.33)

स्त्रीलिंग की विवक्षा में पति शब्द को नकार अन्तादेश होता है यज्ञसंयोग गम्यमान हो तो।

यज्ञसंयोग का अर्थ है– "यज्ञ के संबंध में "। त्रैवर्णिक पुरुष अपनी पत्नी के बिना यज्ञ का निष्पादन नहीं कर सकते । यज्ञ के फल में भी दम्पति का सहभागी होना प्रसिद्ध है। इस तरह स्त्री का यज्ञ से क्रियाकारकत्व एवं फलभोक्तृत्व संबंध स्पष्ट हुआ। अतएव पति शब्द वाच्य अर्थ की स्त्रीलिंग में विवक्षा होने पर शब्द को नकार अन्तादेश एवं नान्तत्वात् ङीप् प्रत्यय होगा।

पत्नी–पति ङीप्। सूत्र द्वारा विहित नकार अन्तादेश हो–पत् न् ङीप्=पत्नी।

(5) " विभाषा सपूर्वस्य " (4.1.34)

विद्यमानपूर्व (जिस पति शब्द के पूर्व कोई शब्द विद्यमान हो) पतिशब्दान्त अनुपसर्जन भूत प्रातिपदिक को स्त्रीलिंग की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय तथा पति शब्द को नकार अन्तादेश होता है।

उदा. – वृद्धपत्नी । (वृद्धः पतिरस्या) पक्ष में–वृद्धपतिः । स्थूलपत्नी, स्थूलपतिः वा । वृद्धपत्नी वृद्धपतिर्वा ।
वृद्धपत्नी–वृद्ध पति ङीप् > वृद्ध पत् न् ङीप् > वृद्धपत्नी सूत्रविहित कार्य के वैकल्पिक होने से ङीप् प्रत्यय एवं नकारादेश के अभाव में "वृद्धपतिः" शब्द सिद्ध होगा । इसी प्रकार ङीप् और नकारादेश पक्ष में स्थूलपत्नी, वृद्धपत्नी तथा अभाव पक्ष में स्थूलपतिः, वृद्धपतिः सिद्ध होंगे ।

(6) " नित्यं सपत्न्यादिषु " (4.1.35)
सपत्नी आदि शब्दों में पति के अन्त्य इकार के स्थान पर नित्य नकारादेश होता है ।
उदा. – समानः पतिरस्याः– सपत्नी, एकपत्नी, वीरपत्नी आदि ।
सपत्नी– स पति । नकारादेश हो स पत् न् । ङीप् हो–सपत्नी ।
एकपत्नी – एक पति > एक पत् न् ङीप् > एकपत्नी ।
वीरपत्नी – वीर पत् न् ङीप् = वीरपत्नी ।

(7) " वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः " (4.1.39)
वर्णवाची अनुदात्तान्त तकार उपधा वाले प्रातिपदिकों से विकल्प से ङीप् प्रत्यय तथा तकार को नकारादेश होता है ।
उदा.– एनी, एता; श्येनी, श्येता; हरिणी, हरिता आदि ।
एनी, एता – एत > एन ङीप् । एन के अन्त्य अकार का लोप हो 'एनी' शब्द सिद्ध हुआ ।
सूत्रविहित ङीप् एवं तकारादेश के अभाव पक्ष में एत टाप् > एता बना ।
श्येनी, श्येता – श्येत > श्येन ङीप् = श्येनी – नकारादेश एवं ङीप् होकर । श्येत टाप् > श्येता – नत्वादेश एवं ङीप् प्रत्यय के अभाव में टाप् होकर ।
हरिणी, हरिता – हरित शब्द को सूत्र विहित कार्य के भाव पक्ष में–– हरिन ङीप् = हरिणी ।
हरिता – तकारोपध हरित शब्द को सूत्रविहित कार्य के अभाव पक्ष में शब्द से टाप् हो – हरित टाप् = हरिता ।

(8) " राज्ञः क च " (4.2.139)
राजन् शब्द से शैषिक 'छ' प्रत्यय तथा प्रातिपदिक को ककार अन्तादेश होता है ।
उदा. – राजकीयम् ।
राजकीयम् – राजन् शब्द से 'छ' प्रत्यय तथा शब्द को ककार अन्तादेश होकर – राजक् छ > राजकीय सु > राजकीयम् ।

(9) " किमिदम्भ्यां वो घः "(5.2.40)
किम्, इदम् प्रातिपदिकों से परे जो वतुप् उसके 'व' को 'घ' आदेश हो ।
उदा. – कियान्, इयान् ।
कियान –किम् वतुप्>किम् वत्>कि घत्– 'व' को 'घ' आदेश होकर 'घ' को 'इय' तथा प्रथमा एकवचन की विभक्ति हो कियान रूप बना ।

इयान् – इदम् वतुप् सु। सूत्र विहित आदेश हो – इदम् घत्। इ घत् >
इयत् सु = इयान् ।

(10) " कस्य च दः "(5.3.72)

ककारान्त अव्यय को अकच् प्रत्यय और दकार अन्तादेश भी होता है।
उदा. – हिरकुत्, पृथकत्, धकित्।
धकित् = धिक् को दकार अन्तादेश तथा अव्यय से अकच् प्रत्यय होकर –
ध अकच् इद् > धकिद् = धकित्।
हिरकुत् – हिरुक् से सूत्रविहित कार्य हो – हिर् अक उद् > हिरकुद् =
हिरकुत्।
पृथकत् – पृथ् अकच् अद् – पृथक् से सूत्र द्वारा विहित कार्य होकर।
पृथकद् = पृथकत्।

(11) " वश्चास्यान्यतरस्यां किति "(6.1.39)

इसको – अर्थात् वय के यकार को कित् लिट् परे रहते वकारादेश विकल्प
से होगा ।
उदा. – ऊवतुः, ऊवुः, उवयिथ । वकारादेश के अभाव में
ऊयतुः, ऊयुः आदि होंगे।
ऊवतुः – वय् अतुस्। यकार को वकार होने पर – वव् अतुस् >ऊवतु।
वकार के अभाव में यकार ही रहा और संप्रसारण पूर्वरूप होने पर –
ऊय् अतुस् = ऊयतुः

(12) " धात्वादेः षः सः " (6.1.62)

धातु के आदि के षकार के स्थान में सकार आदेश होता है।
उदा. – षह– सहते। षिच – सिञ्चति। षह धातु षोपदेश है इस धातु
से जब प्रत्यय इत्यादि लाए जाएँगे धातु के षकार को सत्व हो जायगा।
षह से प्रत्यय करने पर ऐसी अवस्था होगी ____सह त > सहते ।
षिच से लट् एक वचन प्रथम पुरुष में तिप् प्रत्यय करते समय धातु को
सत्वादेश करके प्रत्यय लाया जायगा – सिच् तिप् > सिञ्चति।

(13) "णो नः " (6.1.63)

धातु के आदि णकार को नकार हो जाता है उपदेश अवस्था में ।
उदा. – णद् > नद्, णू> नू, ष्णिह् > स्निह्, ष्णुह् > स्नुह्।
उपदेशावस्था में इन धातुओं का णकार प्रत्यय लाने पर नकार हो जाता
है।

(14) " इकोयणचि "(6.1.74)

इक् (इ, उ, ऋ, लृ) को यण्(क्रमशः य्, व्, र्, ल्) आदेश होंगे यदि अच्
(अ, आ, इ, ई, ऊ, उ, ए, ऐ, ओ, औ) का कोई वर्ण परे हो तो संहिता
के विषय में।
उदा.: ____यकार – प्रति+अर्पण = प्रत्यर्पण।
गौरी+आगच्छति = गौर्यागच्छति।
वकार – मधु+ अरिः = मध्वरि।
वधू + आगच्छति = वध्वागच्छति।

लवर्ण – लृ + आकृति = लाकृति।
रकार – मातृ+आज्ञा = मात्राज्ञा।

(15) **" तस्माच्छसो नः पुंसि "(6.1.99)**

उस (अर्थात् "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" 6.1.98 से किए हुए पूर्वसवर्णदीर्घ) से उत्तर शस् के अवयव सकार को नकारादेश होता है पुल्लिंग में।
उदा. – रामान्, मुनीन् साधून् पितृन् आदि।
रामान्–राम शस् > रामास्। शस् के सकार को नकारादेश हो–रामान्।
मुनीन्–मुनि शस् > मुनीस्। नकार आदेश हो– मुनीन्।
साधून्–साधु शस् > साधूस्। नत्वादेश हो–साधून्।
पितृन् – पितृ शस् > पितृस्। पूर्वसवर्ण दीर्घ हुए शस् के सकार को नकार आदेश होकर –पितृन्।

(16) **" एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य " (6.4.82)**

धातु का अवयव जो संयोग – वह जिस इवर्ण के पूर्व में न हो, ऐसे इवर्णान्त अनेकाच् अङ्ग को अच् परे रहते यणादेश होता है।
उदा. कुमार्यौ, कुमार्यः, प्रध्यौ, प्रध्यः आदि।
कुमार्यौ – कुमारी औ। यण् होकर – कुमार् य् औ कुमार्यौ।
कुमार्यः – कुमारी अस्। यण् हो – कुमार् य् अस् = कुमार्यः।

(17) **" ओः सुपि " (6.4.83)**

धात्ववयव जो संयोग वह जिस उवर्ण के पूर्व में नहीं है ऐसे उवर्णान्त अनेकाच् अंग को अजादि सुप् परे रहते यणादेश होता है।
उदा.– खलप्वौ, खलप्वः, शतस्वौ शतस्वः, सकृल्ल्वौ, सकृल्ल्वः।
खलप्वौ औ। यण् होकर – खलप् व् औ = खलप्वौ।
शतस्वः – शतसू औ। यण् होकर – शतस् व् औ = शतस्वौ।
सकृल्ल्वः – सकृल्लू अस् (शस् या जस्) यण् होकर – सकृल्ल् व् अस्= सकृल्ल्वः।

(18) **" वर्षाभ्वश्च "(6.4.84)**

'वर्षाभू' अंग को अजादि सुप् परे रहते यणादेश होता है।
उदा. वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः आदि।
वर्षाभ्वौ – वर्षाभू औ। यण् हो – वर्षाभ् व् औ = वर्षाभ्वौ।
वर्षाभ्वः– वर्षाभू अस्। यण् हो – वर्षाभ् व् अस् = वर्षाभ्वः।

(19) **'हुश्नुवोः सार्वधातुके (6.4.87)**

हु तथा श्नु–प्रत्ययान्त संयोग पूर्व में न हो जिसके ऐसे अंग के अन्त्य–अवयव को यणादेश होता है यदि अजादि सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो।
उदा.– जुह्वति, जुह्वतु, सुन्वन्ति, सुन्वन्तु।
जुह्वति – हु झि > हु शप् झि > हु झि > जु हु झि > जु हु अत् इ > जु हु अति। झि सार्वधातुक प्रत्यय है अतः उसके स्थान पर हुआ आदेश भी सार्वधातुक प्रत्यय है। अजादि सार्वधातुक परे रहते असंयोगपूर्व

ह्ु को यण् व् हो – जुह् व् अति = जुह्वति ।
सुन्वन्ति – सु श्नु भि > सु नु अन्ति श्नुप्रत्ययान्त असंयोग-पूर्व सुनुअंग को यण् व् हो – सु न् व् अन्ति=सुन्वन्ति ।

(20) " अर्वणस्त्रसावनञः "(6.4.127)
अर्वन् अंग को तृ आदेश होता है यदि वह अंग नञ् से परे तथा सु से पूर्व न हो ।
उदा. अर्वन्तौ, अर्वन्तः । अर्वन्तम्, अर्वन्तौ, अर्वतः । अर्वता, अर्वद्भ्याम् आदि । अर्वन्तौ – अर्वन् औ । अर्वन् अंग को तृ आदेश हो – अर्वत् औ > अर्व नुम् तृ औ > अर्वन्तौ । असौ एवं अनञः प्रतिषेध कथन होने से अर्वन् सु = अर्वा, नञ् अर्वन् औ = अनर्वाणौ । इत्यादि शब्द बने । इनमें अंग को तृ आदेश नहीं हुआ ।

(21) " मघवा बहुलम् " (6.4.128)
मघवन् अंग को बहुल करके तृ आदेश होता है ।
उदा. मघवान्, मघवन्तौ, मघवतः । पक्ष में– मघवा, मघवानौ, मघवानः ।
मघवान्, मघवा – मघवन् सु । मघवन् को तृ अन्तादेश हो – मघवतृ सु > मघवत् सु = मघवान् तथा तृ अनादेश में – मघवन् सु > मघवा शब्द सिद्ध होते हैं ।

(22) " र ऋतो हलादेर्लघोः " (6.4.161)
भसंज्ञक हलादि अंग के लघु ऋकार के स्थान में र आदेश होता है यदि इष्ठन्, इमनिच् या ईयसुन् परे हो तो ।
उदा.– प्रथिष्ठः, प्रथिमा, प्रथीयान् । म्रदिष्ठः, म्रदिमा, म्रदीयान् । आदि । प्रथिष्ठः– पृथु इष्ठन् । ऋकार को र आदेश हो – प् र थु इष्ठन् = प्रथिष्ठ । स्वादिकार्य हो प्रथिष्ठः ।
प्रथिमा – पृथु इमनिच् । 'र' आदेश हो – प्रथु इमनिच् > प्रथिमा ।
प्रथीयान् पृथु ईयसुन् । 'ऋ' को 'र' आदेश होकर – प् र थु ईयसुन् = प्रथीयान् ।

(23) " शसो न " (7.1.29)
युष्मद् अस्मद् अंग से उत्तर शस् के स्थान में नकारादेश होता है ।
उदा. युष्मान्, अस्मान् । युष्मान् – युष्मद् शस्> युष्मद् अस् । शस् को नकारादेश हो (आदेः परस्य' नियम् से पर के आदि को होकर)– युष्मद् न् स् । युष्मद् न् स् >युष्मद् न् > युष्म अ न् > युष्मान् > युष्मान् ।
अस्मान् – अस्मद् शस् > अस्मद् अस्, । शस् को नकारादेश हो – अस्मद् न् स् > अस्म अ न् > अस्मान् ।

(24) " योऽचि "(7.2.89)
ऐसी अजादि विभक्ति जिसे कोई आदेश नहीं हुआ है परे हो तो अस्मद् और युष्मद् अंग को यकारादेश होता है ।
उदा. – त्वया, मया, त्वयि, मयि, युवयोः, आवयोः आदि । त्वया – युष्मद् टा > अद् आ > त्वद् आ । सूत्रविहित यत्वादेश (अंग के

अन्त्य अल् दकार को > हो – त्वय् आ = त्वया । मया– अस्मद् आ > मद् आ । अंग को यकार अन्तादेश होकर – मय् आ = मया ।

(25) **"अचि र ऋत:" (7.2.100)**

इस सूत्र द्वारा तिसृ एवं चतसृ अंगो के ऋकार के स्थान में अजादि विभक्ति परे रहते रेफ आदेश विहित होता है ।

उदा. तिसृ जस् > तिसृ अस् अब सूत्र द्वारा विहित रेफादेश होने पर–तिस् र् अस् >तिस्र: हुआ । इसी प्रकार चतसृ जस् > चतसृ अस् > चतस् र् अस् > चतस्र: । तिसृ शस्, चतसृ शस् सूत्र विहित आदेश होकर तिस् र् अस्, चतस् र् अस् > तिस्र:, चतस्र: ।

(26) **" तदो: स: सावनन्त्ययो: " (7.2.106)**

त्यदादि अंगों के अनन्त्य तकार तथा दकार के स्थान में सु विभक्ति परे रहते सकारादेश होता है । यथा– त्यद् सु । आदेश होने पर स् यद् सु > स्य: ।

तद् सु > स् अद् सु > स: ।

एतद् सु > ए स् अद् सु >एष: ।

अदस् सु > अ स् अस् सु >असौ ।

(27) **" इदमो म: " (7.2.108)**

इदम् को सु विभक्ति परे रहते मकार अन्तादेश होगा ।

यथा– इदम् सु > इय् अम् सु (स्त्रीलिंग में इद् भाग को इय् आदेश होकर) अब प्रकृत सूत्र से इयम् के अन्त्य मकार को मकारादेश होकर इयम् सु > इयम् पुलिंग में इदम् सु > अय् अम् सु > अयम् सु > अयम् । प्रकृत सूत्र द्वारा 'त्यदादीनाम:' सूत्र द्वारा प्राप्त अकारादेश का निवारण होकर मकार के स्थान पर मकारादेश ही होता है ।

(28) **"दश्च" (7.2.109)**

इदम् के दकार के स्थान में भी मकार आदेश होगा विभक्ति प्रत्यय परे रहते । उदा.– इदम् औ > इद् अ औ > इद औ । अब उपर्युक्त सूत्र द्वारा विहित आदेश प्रवृत्त होकर इम औ > इमौ । इसी प्रकार इदम् जस् इद शी । आदेश होकर इम शी > इमे ।

इमम् – इदम् अम् > इद अम् > इम अम् > इमम् ।

इमौ – इदम् औट् । इद औ > इम औ > इमौ ।

इमान् – इदम् शस् । इद शस् > इम शस् > इमान् ।

इमा: – इदम् जस् । इम अस् > इमा: ।

इमानि – इदम् जस् > इद जस् > इम जस् । इम जस् = इमानि (नपुंसक लिंग में)

(29) **" य: सौ " (7.2.110)**

सु विभक्ति परे हो तो इदम् के दकार के स्थान में यकारादेश होता है । उदाहरणार्थ – इयम्–इदम् सु > इद सु । अब प्रकृत सूत्र द्वारा दकार को यकारादेश होकर इय सु> इयम् ।

विशेष – प्रकृत सूत्र द्वारा विहित कार्य स्त्रीलिंग में ही होगा ।

उत्तरसूत्र- 'इचोऽडय् पुंसि' में 'पुंसि' का ग्रहण इस का ज्ञापक है।

(30) " हनस्तोऽचिण्णलोः " (7.3.32)

चिण् तथा णल् प्रत्ययों को छोड़कर, ञित, णित् प्रत्यय परे रहते हन् अंग को तकार अन्तादेश होगा । जैसे- घातयति, घातक, घाती, घातः आदि।

घातयति - हन् णिच् > घन् इ; अब प्रकृत सूत्र द्वारा न् को तकारादेश होकर - घत् इ । अब आदि वृद्धि, तिप्, शप्, आदि होकर 'घातयति' बनता है।

घातः - हन् घञ् > घान् घञ्। तकार अन्तादेश होकर - घात् अ = घात। घात सु = घातः।

(31) " स्फायो व "(7.3.41)

स्फायी अंग को णि परे रहते वकारादेश होता है।

उदा.- स्फावयति । स्फाय णि तिप् > स्फा व इ तिप-सूत्रविहित वकारादेश होने पर।

(32) "शदेरगतौ तः" (7.3.42)

शद्लृ (शातने) धातु यदि गत्यर्थक न हो तो णि परे रहते धातु को तकारादेश होगा ।

उदा.- शातयति, पुष्णाति आदि - शद् णि तिप्। सूत्र द्वारा प्राप्त आदेश करने पर शत् इ तिप् > शातयति ।

(33) " रुहः पोऽन्यतरस्याम्" (7.3.43)

रुह् अंग को विकल्प से णि परे रहते पकारादेश होता है।

जैसे- रोपयति, रोहयति।

रोपयति- रुह् णि तिप्। पकारादेश होकर रुप् णि तिप्> रोपयति। सूत्रविहित आदेश के अभाव पक्ष में रुह् णि तिप्; इस दशा में तिबादि कार्य होकर रोहयति शब्द बनेगा।

(34) " चजोः कु घिण्ण्यतोः " (7.3.52)

घित् तथा ण्यत् प्रत्यय परे हो तो चकार तथा जकार के स्थान में कवर्ग आदेश होता है । उदाहरण-

घित् - पाकः, त्यागः, रागः आदि।

ण्यत् - पाक्यम्, वाक्यम्, रेक्यम् आदि।

पाकः - पच् घञ्, इस दशा में सूत्र द्वारा चकार को कवर्गादेश प्राप्त हुआ। तब चकार का सवर्ण ककार होकर पक् अ>पाक सु > पाकः।

त्यागः - त्यज् घञ्। आदेश होकर त्यग् घञ् > त्यागः।

रागः- रन्ज् घञ्। सूत्र द्वारा जकार को कवर्गादेश प्राप्त होने से वर्ग का तृतीयाक्षर गकरादेश हो रन्ग् घञ् बना।

पाक्यम् - पच् ण्यत्। कवर्गादेश होने पर-पक् ण्यत्।

वाक्यम् - वच् ण्यत्। चकार का सवर्ग कवर्गाक्षर 'क' आदेश होने पर वक् ण्यत् > वाक्य । वाक्य सु = वाक्यम् ।

रेक्यम् - रिच् ण्यत् (रिचिर् विरेचने)। ककारादेश होकर-रिक् ण्यत्।

(35) " न्यङ्क्वादीनाम् च" (7.3.53)

"न्यङ्क्वादिगण में पठित शब्दों के चकार एवं जकार को भी कवर्गादेश होता है।"

उदा.– न्यङ्कुः, मद्गुः, भृगुः, दूरेपाकः, फलेपाकः आदि।

न्यङ्क्वादिगण में पठित शब्द निम्न हैं।–

न्यङ्कु, मद्गु, भृगुः, दूरेपाक, फलेपाक, क्षणपाक, दूरेपाका, फलेपाका, दूरेपाकु, फलपाकु, तक्र (तत्र) वक्र (चक्र), व्यतिषंग, अनुषंग, अवसर्ग, उपसर्ग, श्वपाक, मांसपाक (मासपाक) मूलपाक, कपोतपाक, उलूकपाक। संज्ञा अर्थ में विद्यमान – मेघ, ऋवदाघ, निदाघ, अर्घ। न्यग्रोध वीरूरत्।

न्यङ्कुः – नि अन्च् उ। अन्च् के चकार को उपर्युक्त सूत्र से ककरादेश होगा– नि अन्क् उ।

मद्गुः – मस्ज् उ। कवर्ग गकारादेश होकर मस्ग् उ। भृगुः– भ्रस्ज् उ। गकारादेश हो – भ्रस् ग उ।

दूरेपाकः, फलेपाकः आदि में पच् के चकार को ककारादेश हुआ।

व्यतिषंगः – व्यतिषन्ज् अच्। जकार को गकारादेश–व्यतिषन् ग् अ।

अवसर्गः – अव सृज् अच्। जकार को गकारादेश अव सृग् अ।

उपसर्गः – उप सृज् अच् > उप सृग् अ।

श्वपाकः, मांसपाकः आदि शब्दों में पच् के चकार को प्रकृत सूत्र द्वारा ककारादेश होता है।

(36) " हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु " (7.3.54)

हन् धातु के हकार के स्थान में कवर्गादेश होता है, ञित्, णित् तथा नकार परे रहते। यथा– ञित् परे रहते – घातः।

णित् परे रहते – जघान।

नकार परे रहते – वृत्रघ्नः।

घातः – हन् घञ् > हन् अ। सूत्र द्वारा कवर्गादेश प्राप्त होने पर 'ह' के स्थान पर सवर्ण घकारादेश होकर घन् अ।

जघान – हन् णल् > ह हन् अ > ज हान् अ। अब प्रकृत सूत्र द्वारा कवर्ग – घकारादेश होकर जघान् अ = जघान बना।

वृत्रघ्नः – वृत्र हन् शस् > वृत्रहन् अस् > वृत्रह्न् अस्। सूत्र द्वारा कवर्गादेश होकर वृत्र घ् न् अस् > वृत्रघ्नः।

(37) " अभ्यासाच्च " (7.3.55)

अभ्यास से उत्तर भी हन् धातु के हकार को कवर्गादेश होता है।

उदा.– जिघांसति।

जिघांसति– हन् सन् > हान् हान् सन् > ह हान् स > जि हान् स।

सूत्र द्वारा हकार को कवर्गादेश विहित हुआ है तब हकार का सवर्ण घकारादेश हो–जि घान् स तिप् इस प्रकार जिघांसति बना।

(38) " हेरचङि " (7.3.56)

अभ्यास से उत्तर हि धातु के हकार को कवर्गादेश होता है यदि चङ्

परे न रहे तो ।

उदा.– जिघाय – हि णल् > जि हि अ । अब प्रकृत सूत्र द्वारा धातु के । हकार के कवर्गीय घकारादेश हो जि घि अ हुआ ।

(39) " सन्लिटोर्जेः " (7.3.57)

अभ्यास से उत्तर जि अंग को सन् तथा लिट् परे रहते कवर्गादेश होता है ।

उदा.– जिगाय।

जिगाय– जि णल् > जि जि अ । अब प्रकृत सूत्र द्वारा कवर्गादेश होकर जकार का सवर्ण गकार धात्ववयव ज के स्थान पर आदिष्ट होगा । जि गि अ > जिगाय ।

(40) " विभाषा चेः " (7.3.58)

अभ्यास से उत्तर चि अंग को विकल्प से कवर्गादेश होता है, सन् तथा लिट् परे रहते । उदा.–

सन् – चिचीषति । अभाव पक्ष में – चिचीषति ।

लिट् – चिकाय । अभाव पक्ष में – चिचाय ।

चिकीषति – चि सन् तिप् । चि चि स ति । अब उपर्युक्त सूत्र द्वारा वैकल्पिक कवर्गादेश प्राप्त हुआ तब अंग के चकार को ककारादेश हो चि कि स ति > चिकीषति बना । जब आदेश नहीं होगा तब चि चि स ति > चिकीषति होगा ।

चिकाय – चि लिट् > चि चि णल् >च चि णल् > चि चै णल् > चि चाय् अ । अब सूत्र विहित कवर्गादेश करने पर चि क् आय् अ > चिकाय । आदेशाभाव पक्ष में चकार ही रह जायगा और – चि चाय् अ > चिचाय, ऐसा रूप सिद्ध होगा ।

(41) " इषुगमियमां छः " (7.3.77)

इषु, गमि (गम्लृ) तथा यम् धातुओं को शित् प्रत्यय परे रहते छकारादेश होता है । जैसे – इच्छति, गच्छति, यच्छति आदि प्रयोगों में ।

इच्छति – इष् श तिप् । अब शित् विकरण (प्रत्यय) परे होने से आलोच्यमान सूत्र द्वारा 'ष' के स्थान पर छकारादेश होता है और इछ् अ ति > इच्छति बना ।

गच्छति– गम् शप् तिप् । सूत्र द्वारा मकार के स्थान पर छकारादेश हो ग छ् अ ति । तुक्, श्चुत्व वर्णमेल आदि होकर गच्छति बना ।

यच्छति– यम् शप् तिप् । यम् के अन्त्य अवयव मकार के स्थान पर सूत्र द्वारा छकारादेश हुआ – य छ् = यच्छति ∴ बना ।

(42) " अच उपसर्गात्तः " (7.4.47)

अजन्त उपसर्ग से उत्तर घुसंज्ञक 'दा' अंग को तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते तकारादेश होताहैं । उदा.–प्रत्तम्, अवत्तम्, नीत्तम्, परीत्तम् आदि ।

प्रत्तम् – प्र दा क्त > प्र द् त् त> प्र त् त् त>प्र त्त> प्रत्त सु> प्रत्तम् ।

(43) ". अपो भि " (7.4.48)

अप् अङ्ग को भकारादि प्रत्यय परे रहते तकारादेश होता है ।

उदा.- अद्भिः, अद्भ्यः आदि।

अद्भिः - अप् भिस्। सूत्र-विहित तकारादेश होकर - अत् भिस्। तकार को जश् दकार एवं सकार को रुत्व - विसर्जनीयादि कार्य होकर 'अद्भिः' ऐसा शब्द रूप बना।

अद्भ्यः - अप् भ्यस्। तकारादेश होकर-अत् भ्यस्।

(44) " सः स्यार्धधातुके " (7.4.49)

सकारान्त अङ्ग को सकारादि आर्धधातुक परे रहते तकारादेश होता है।

उदा.- वत्स्यति, अवत्स्यत्, विवत्सति, जिघत्सति आदि।

वत्स्यति-वस् स्य तिप्। 'स्य' विकरण सकारादि एवं आर्धधातुक संज्ञक है अतएव सकारान्त अङ्ग वस् को तकार अन्तादेश होकर - वत् स्य ति = वत्स्यति बना।

अवत्स्यत् - अट् वस् स्य तिप्> अ वस् स्य त्। सूत्र विहित तकारादेश होने पर अ वत् स्य त्= अवत्स्यत बना।

(45) " ह एति " (7.4.52)

तास् एवं अस् के सकार को हकारादेश होता है यदि उनके परे एकार हो तो। उदा.- एधिताहे, व्यतिहे।

एधिताहे- एध् इट् तास् इट्> एधि तास् ए (टि को एत्व होकर)। अब तास् के परे एकार होने से आलोच्य सूत्र द्वारा हकारादेश होकर-एधि ता ह् ए = एधिताहे।

व्यतिहे - व्यति (वि+अति> अस् इट्। टि को एत्व - व्यति अस् ए। व्यति स् ए (श्नसोरल्लोपः)। अब एकार परे होने से अस् के सकार को हकारादेश होकर- व्यति ह् ए = व्यतिहे।

(46) " कुहोश्चुः " (7.4.62)

अभ्यास के कवर्ग एवं हकार को चवर्ग आदेश होता है। उदा.- चकार, चखान, जघान, जगाम, जहार आदि।

चकार - कृ लिट् > कृ णल् > क कार् अ क कार। कवर्ग को चवर्ग आदेश प्राप्त होने पर क को च आदेश कर - चकार शब्द बना।

चखान - खन् णल् > ख खान् अ > ख खान अब प्रकृत सूत्र द्वारा अभ्यास के ख को चवर्गादेश करने पर छ खान बना। छकार को चर्त्व चकार होकर शब्द सिद्ध हुआ।

जघान - हन् णल् > ह घान। हकार को सवर्ण चवर्गीय झकार हो झ घान। झकार को जश्त्व हो रूप बना।

जगाम - गम् णल् > ग गाम। गकार को सूत्रविहित कवर्गादेश हो - ज गाम = जगाम बना।

(47) " मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः " (8.2.9)

मकारान्त एवं अवर्णान्त तथा मकार एवं अवर्ण उपधा वाले प्रातिपदिक से उत्तर मतुप् को वकारादेश होता है किन्तु यवादि शब्दों से उत्तर मतुप् को व् नहीं होता। उदा.-

मकारान्त - किंवान्

अवर्णान्त – वृक्षवान्, मालावान् ।
मकारोपध – शमीवान् ।
अवर्णोपध – पयस्वान्, भास्वान् ।
किवान् – किम् मतुप् > किम् मत् ।
वत्वादेश हो – किम् वत् = किंवत् सु = किवान् ।
वृक्षवान् – वृक्ष मत् । वकारादेश हो–वृक्ष वत् । प्रथमा एकवचन में वृक्षवान् ।
मालावान् – माला मत् । वत्व हो – माला वत् । प्रथमा एकवचन में मालावान् ।
शमीवान् – शमी मतुप् > शमी मत् ।
वत्व होकर – शमी वत् ।
स्वादिकार्य होकर शमीवान् बना ।
यशस्वान् – यशस् मत् ।
वत्वादेश हो – यशस्वत् ।
प्रथमा एकवचन में यशस्वान् बना ।
भास्वान् – भास् मत् । वत्वादेश होकर – भास् वत् ।
यवादि गण के शब्द–यव (अकारान्त), दल्मि (मकारोपध), उर्मि (मकारोपध), भूमि (मकारोपध), कृमि (मकारोपध), क्रुंच (अकारान्त), वशा (आकारान्त) द्राक्षा (आकारान्त) इत्यादि, से परे मतुप् के मकार को होने वाला वत्व सूत्र के 'अयवादिभ्यः' पद द्वारा प्रतिषिद्ध हो गया ।

(48) " झयः " (8.2.10)

झयन्त से उत्तर मतुप् के मकार को वकारादेश होता है ।
उदा.– कुमुद्वान्, नड्वान, मरुत्वान् आदि ।
कुमुद्वान् – कुमुद ड्मतुप् > कुमुद मत् > कुमुद् मत् । दकार झय् है अतः मकार को वत्व हो – कुमुद् वत् बना । स्वादि होकर कुमुद्वान् बना ।
नड्वान् – नड मत् > नड् मत् । वत्व हो नड्वत् । नड्वत् सु > नड्वान् ।

(49) " संज्ञायाम् " (8.2.11)

संज्ञा विषय में मतुप् को वकारादेश होता है ।
उदा.– अहीवती, कपीवती, आदि ।
अहीवती – अहि मतुप् > अही मत् । प्रकृत सूत्र द्वारा वकारादेश होकर – अहीवत् । स्त्रीलिंग में अहीवती ।
अहीवती, कपीवती, शरावती आदि शब्द संज्ञा शब्द हैं अतएव इनमें उपर्युक्त सूत्र द्वारा वत्वादेश हुआ है ।

(50) " छन्दसीरः " (8.2.15)

इवर्णान्त तथा रेफान्त से उत्तर वेद विषय में मतुप् को वत्व होता है ।
उदा.– त्रिवती, गीर्वान्, आशीर्वान् आदि ।
त्रिवती – त्रि मत् । त्रि इकारान्त है अतएव मकार को वत्व हो – त्रिवत् स्त्रीलिंग मे त्रिवती बना ।
गीर्वान् – गृ मत् । गीर् मत् – इस शब्द में रेफान्त से परे मतुप् है तब

मतुप् के म को वत्व हो – गीर् वत् = गीर्वत् बना। प्रथमा एकवचन में 'गीर्वान्' बना।

(51) " कृपो रो लः " (8.2.18)

कृप् धातु के रेफ को लकारादेश होता है।

उदा.– कल्प्ता, क्लृप्तः, क्लृप्तवान् आदि।

कल्प्ता – कृप् तास् डा >। सूत्र विहित आदेश होने पर –

क् लृ प्ता > कल्प्ता।

क्लृप्तः – कृप् क्त सु। कृप् त सु । ऋकार के रेफ को लत्व होने पर – क् लृ प् त सु > क्लृप्तः।

क्लृप्तवान् – कृप् क्तवतु सु। रेफ को लत्वादेश करने पर क् लृ प् तवत् सु > क्लृप्तवान्।

(52) " उपसर्गस्यायतौ " (8.2.19)

अय धातु के परे रहते उपसर्ग का जो रेफ उसको लकारादेश होता है। प्लायते, पलायते, पल्ययते आदि प्रयोगों के लकारादेश इसके उदाहरण हैं।

प्लायते – प्र अय त > प्ल अय त > प्लायत > प्लायते ।

पलायते – परा अय त > पला अय त > पलायत > पलायते ।

प्लत्ययते – प्रति अय त > प्लति अय त > प्लत्य् अयत > प्लत्ययते।

(53) " ग्रो यङि " (8.2.20)

गृ धातु के रेफ को यङ् परे रहते लत्वादेश होता है।

उदा.– जेगिल्यते, जेगिल्येते, जेगिल्यन्ते आदि।

जेगिल्यते – गृ यङ् त > जे गिर् य त। अब यङ् परे रहते गृ के रेफ को लत्व प्राप्त होता है और इस प्रकार जे गिल् य त > जेगिल्यते शब्द सिद्ध होता है।

(54) " अचि विभाषा " (8.2.21)

अजादि प्रत्यय परे रहते गृ धातु के रेफ को विकल्प से लत्वादेश हो।

उदा.– गिलति, गिरति। जगाल, जगार। जगलिथ, जगरिथ आदि।

गिलति, गिरति – गृ श तिप् > गिर् अ ति। अब सूत्र द्वारा वैकल्पिक लत्वादेश प्राप्त हुआ आदेश के भाव पक्ष में गिल् अ ति > गिलति और अभाव पक्ष में गिर् अ ति > गिरति शब्द सिद्ध हुए।

जगाल् जगार – गृ णल् > गार् अ > ग गार् अ > ज गार् अ। लत्वादेश होने पर – ज गाल् अ > जगाल और आदेश के अभाव में जगार् अ > जगार बने।

जगलिथ, जगरिथ – गृ थल् > गर् थ > गर् थ > ग गर् इट् थ > ज गर् इ थ । लत्वादेश हो जगलिथ। आदेशाभाव पक्ष में जगरिथ।

(55) " परेश्च घाङ्कयोः " (8.2.22)

परि के रेफ को घ तथा अंक परे रहते विकल्प से लत्व होता है ।

उदा.– पलिघः, परिघः। पर्यंकः, पल्यंकः।

पलिघः, परिघः – परि हन् अप् > परि घ् अ (हन् की टिलोप एवं

हकार को घत्व करने पर >> परि घ। अब 'घ' वर्ण परे रहते परि के रेफ को वैकल्पिक लत्व होकर पलिघ>पलिघः । लत्वादेश के अभाव में परिघः ।

पल्यङ्कः, पर्यङ्कः – परि अङ्क। परि के रेफ को लत्व हो पलि अङ्क > पल्यङ्कः। लत्वादेश के अभाव में परि अङ्क > पर्यङ्कः ।

विशेष – सूत्रोपदिष्ट 'घ' का आशय घ वर्ण है अतः घसंज्ञक तरप्–तमप् प्रत्ययों का ग्रहण नहीं होगा। परि शब्दपूर्वक 'योग' शब्द होने पर भी परि के रेफ को विकल्प से लत्व होगा। पलियोगः, परियोगः ।

(56) **" चोः कुः " (8.2.30)**

चवर्ग के स्थान में कवर्ग आदेश होता है, ल् परे रहते या पदान्त में।
उदा.– झल् परे रहते – वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् आदि। पदान्त में – वाक्।

वक्तुम् – वच् तुमुन्। झल् तकार परे होने से चकार को ककारादेश होने पर – वक् तुम् > वक्तुम्।

वाक्– वच् क्विप् > वच् > वाच्। अब चकार के पदान्त में होने से उसे कवर्गादेश होगा और 'वाक्' शब्द सिद्ध होगा ।

(57) **" हो ढः " (8.2.31)**

हकार के स्थान में ढकारादेश होता हैं ल् परे रहते या पदान्त में।
यथा– झल् परे रहते – सोढा, वोढा आदि। पदान्त में – प्रष्ठवाट्।

सोढा – सह तृच्। तृच् प्रत्यय झलादि है अतः हकार को ढत्वादेश हुआ– सढ तृ > सोढृ > सोढा।

प्रष्ठवाट् – प्रष्ठ वह् ण्वि > प्रष्ठ वह् > प्रष्ठ वाह्। हकार को ढत्वादेश होकर प्रष्ठवाढ् > प्रष्ठवाट् (ढ् को जश् डत्व, ड को चर् टकार)

(58) **" दादेर्धातोर्घः " (8.2.32)**

दकारादि धातुओं के हकार के स्थान में घकारादेश होता है – ल् परे हो अथवा पदान्त में। यथा–
झल् परे रहते – दग्धा, दग्धुम्, दग्धव्यम्। पदान्त में – काष्ठधक्।

दग्धा – दह् तृच् > दह् तृ। तकार झल् है अतः हकार को घकारादेश होगा। दघ् तृ > दग्धा अथवा दह् तास् डा > दह् ता। झल् तकार परे रहते हकार को घत्व हो दघ् ता > दग् ता > दग्धा।

काष्ठधक्– काष्ठ दह् क्विप् > काष्ठदह् अब हकार के पदान्त में होने से काष्ठदघ् बना। दकार को भष् धकार एवं घकार को जश् गकार उसे चर् ककार होकर काष्ठधक् बना।

(57) **" वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् " (8.2.33)**

द्रुह, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह्– इन धातुओं के हकार को विकल्प से घकारादेश होगा यदि झल् परे हो अथवा वह हकार पदान्त में हो।

उदाहरण – झल् परे रहते – द्रोग्धा, मोग्धा, स्नोग्धा, स्नेग्धा आदि ।
पदान्त में – ध्रुक्, मुक्, स्नुक्, स्निक् आदि ।
घत्वादेश के अभाव पक्ष में द्रोढा, मोढा, स्नोढा, स्नेढा तथा ध्रुट्, मुट्, स्नुट्, स्निट् आदि शब्द बनेंगे ।
द्रोग्धा – द्रुह् तास् डा > द्रुह् ता । अब झल् तकार परे रहते हकार को घकारादेश होकर द्रुघ् ता बना । घकार को जश् गकार, तकार को धकार तथा उकार को गुण ओकार होकर द्रोग्धा बना ।
ध्रुक्– द्रुह् सु > द्रुह् स् > द्रुह् अब हकार के पदान्त में अवस्थित होने से प्रकृत सूत्र द्वारा घत्व होगा – द्रुघ् । पश्चात् दकार को भष् धकार और घकार को जश् गकार उसे चर् ककार हो ध्रुक् शब्द सिद्ध हुआ ।
मुक् – मुह् सु > मुह् । पदान्त हकार को घत्व – मुघ् > मुक् ।
स्नुक् – स्नुह् सु > स्नुह् । हकार को घत्व – स्नुघ् > स्नुक् ।
स्निक् – स्निह् सु > स्निह् । हकार को घत्व स्निघ् > स्निक् ।
द्रोढा – द्रुह् तास् डा > द्रुह् ता । घकारादेश के अभाव पक्ष में 'हो ढः' सूत्र से हकार को ढत्व होगा द्रुढ् के ढकार का सूत्र "ढो ढे लोपः" से लोप तथा उकार को गुण होकर 'द्रोढा' शब्द सिद्ध हुआ ।
मोढा, स्नोढा, स्नेढा–इन प्रयोगों की सिद्धि भी द्रोढा के समान होगी ।
ध्रुट् – द्रुह् सु > द्रुह् स् > द्रुह् । घत्वादेश के अभाव में हकार को ढत्व, ढकार को डकार पुनः डकार को ष्टुत्व होकर ध्रुट् बनेगा ।
मुट्, नुट्, निट् आदि प्रयोगों में भी पदान्त हकार को घत्वादेश के अभाव में ढकार पुनःढकार को जश् डकार उसे टकार हो रूप सिद्ध होंगें ।

(60) " नहो धः " (8.2.34)

णह् (बन्धने) के हकार को धकारादेश होता है, झल् परे रहते या पदान्त में । उदाहरणार्थ – नद्धम्, उपानत् ।
नद्धम् – नह् तास् डा > नह् ता । तास् झलादि है अतः हकार को उपर्युक्त सूत्र द्वारा धकारादेश प्राप्त होता है– नध् ता । तकार को धकार तथा नध के धकार को जश् दकार हो रूप सिद्ध होगा ।
उपानत् – उपानह् सु > उपानह् स् > उपानह् । उपानह् का हकार पदान्त में है अतएव सूत्र द्वारा धत्व होगा – उपानध् । पश्चात् धकार को जश् दकार और दकार को चर् तकार होकर 'उपानत्' शब्द सिद्ध हुआ ।

(61) " आहस्थः " (8.2.35)

आह् के हकार को थकारादेश होगा यदि झलादि प्रत्यय परे हों ।
उदा.– आत्थ ।
आत्थ–ब्रूम् सिप्>आह् थल् । अब थल् के झलादि होने से हकार को थकार हो आथ् थ बना । फिर इस थकार को चर् तकार हो आत्थ बना ।

(62) " एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः " (8.2.37)

धातु के झषन्त एकाच् अवयव के बश् के स्थान में भष् आदेश हो यदि सकार और ध्व परे हों अथवा पदान्त में।

उदा.— धुक्षु, अधुग्ध्वम्, गोधुक्।

धुक्षु — दुह् सुप् > दुघ् सु। अब दुघ् के परे सकारादि प्रत्यय हैं तथा दुघ् झषन्त है तब इसके बश् दकार के स्थान पर भष् धकारादेश होगा। दुघ् सु > धुघ् सु। घकार को जश् गकार फिर उसे चर् ककार और सकार को षत्व हो क् ष् के संयोग से 'क्ष' बनकर अभीष्ट सिद्धि हुई।

अधुग्ध्वम् — अट् दुह् ध्वम् > अ दुघ् ध्वम्। ध्वम्; परे होते झषन्त एकाच् दुघ् जो व्यपदेशिवद्भाव से दुघ् का अवयव हैं; के बश् दकार को भष् धकार होगा अधुघ् ध्वम् > अधुग्ध्वम्।

गोधुक्— गो दुह् सु > गो दुह् स् > गो दुह्>गो दुघ् । सु का लोप होने से झषन्त दुघ् पदान्त में है अतः दकार को भष् भाव हुआ — गोधुग् > गोधुक्।

(63) " दधस्तथोश्च " (8.2.38)

झषन्त दध धातु के बश् के स्थान में भष् आदेश होता है तकार तथा थकार और सकार तथा ध्व परे रहते भी।

उदा.— धत्तः, धत्थः, धत्से, धत्स्व, धध्वम्।

धत्तः— धा तस् > धा शप् तस् > धा तस् > धा धा तस् > ध धा तस् > द धा तस् > द ध् तस् > दध् तस् । अब प्रकृत सूत्र से दध् के बश् दकार को भष् धत्वादेश हो धध् तस् होता है। उत्तरवर्ती धकार को चर् तकार हो रूप सिद्ध होगा।

धत्थः — धा थस् > धा शप् थस् >धा थस् > धा धा थस् > ध धा थस्> दधा थस्। > दध् थस् । अब थकार परे होने से दध् के बश् दकार को भष् भाव होगा धध् थस्> धत्थः।

धत्से — धा थास्> दध् से। सकार परे रहते दकार को प्रकृत सूत्र से भष् धकार धध् से > धत्से।

धत्स्व — धा थास् > दधा से > दध् से > दध् स्व। अब दध् के दकार को भष् धकार आदेश होगा—धध्स्व हुआ। धत्स्व।

धद्ध्वम् — धा ध्वम्> द ध् ध्वे। अब आलोच्य सूत्र द्वारा दकार को भष् भाव हो ध ध् ध्वे बना। अब धात्ववयव धकार को जश् दकार तथा एकार को अमादेश हो धद्ध्वम् रूप बना।

विशेष— सूत्रस्य 'दधः' शब्द कृतद्वित्व 'धा' (डुधाञ् धारणपोषणयोः) धातु का निर्देश करता है। 'धा' धातु जुहोत्यादिगण की धातु है अतः शप् को श्लु होता है और "श्लौ (6.1.10)" से द्वित्व हो, अभ्यास को ह्रस्व तथा अभ्यास के धकार को जश् दकार तथा 'धा' के आकार का लोप (श्नाभ्यस्तयोरातः से) हो दध् बनता है। धा का कृतद्वित्व स्वरूप लट्, लोट्, लङ्., विधिलिङ्. में ही प्राप्य है; अतएव यह भष् भाव इन्हीं लकारों के तकारादि, थकारादि, सकारादि अथवा ध्व प्रत्यय परे रहते होगा।

(64) " झलां जशोऽन्ते " (8.2.39)

पदान्त में वर्तमान झलों को जश् आदेश होता है।

उदा.- श्वलिड्।

श्वलिह् - श्वलिह् सु > श्वलिह् स् > श्वलिह् > श्वलिढ। ढकार झल् है तथा अपृक्त सकार का लोप होने से यह पदान्त में स्थित है अतः इसे जशत्व होकर- श्वलिड्, रूप बना। ढकार टवर्ग का व्यन्जन है अतः इसे जश्त्व होने पर टवर्गीय डकार आदेश होगा।

(65) " झषस्तथोर्धोऽधः " (8.2.40)

झष् से परे तकार और थकार को धकार हो किन्तु झषन्त 'धा' धातु से परे जो तकार थकार हो उसे धकारादेश न हो।

उदा.- अलब्ध, लब्धा, उवोढ आदि।

अलब्ध - अट् लभ् सिच् थ > अ लभ् स् त > अ लभ् त। अब लभ् झषन्त है तथा इससे परे तकार है अतएव उपर्युक्त सूत्र द्वारा इसे धकारादेश होता है- अ लभ् ध। भ् को जश् बकार हो अलब्ध सिद्ध हुआ।

उवोढ - वह् थल् > उ वढ् थल्। ढकार झष् है अतएव इससे परे थल् के थकार को धत्वादेश होगा- उ वढ् ध। अब धकार को ष्टुत्व ढकार, धातु के ढकार का लोप तथा धातु के अकार को ओत्व हो 'उवोढ' शब्द बनेगा।

(66) " षढोः कः सि " (8.2.41)

सकार परे हो तो षकार तथा ढकार को ककारादेश होता है।

उदा.- पेक्ष्यति, लेक्ष्यति।

पेक्ष्यति - पिष्लृ स्य तिप् > पेष् स्य ति। यहाँ षकार से सकार परे है अतः सूत्र की प्राप्ति हुई और षकार को ककार आदेश हो पेक् स्य ति बना। पश्चात् सकार को षत्व हो तथा क् एवं ष का संयोग हो पेक्ष्यति बना।

लेक्ष्यति - लिह् स्य तिप् > लेह् स्य ति। हकार को ढकार ('हो ढः' से) लेढ् स्य ति। अब उपर्युक्त सूत्र से ढकार को ककारादेश हो लेक् स्य ति। षत्व-संयोगादि कार्य हो 'लेक्ष्यति' बना।

(67) " रदाभ्याम् निष्ठा तो नः पूर्वस्य च दः " (8.2.42)

रेफ और दकार से परे होने पर निष्ठा के तकार को नकारादेश हो तथा निष्ठा तकार से पूर्व धातु का जो दकार उसे भी नकार हो।

यह सूत्र दो आदेशों विहित करता है।

(1) रेफ एवं दकार से परे निष्ठा के तकार को नकारादेश।

(2) निष्ठा के तकार से पूर्व धातु का जो दकार उसे नकारादेश।

"क्तक्तवतु निष्ठा" सू. द्वारा ज्ञात होता है कि क्त एवं क्तवतु प्रत्यय की 'निष्ठा' संज्ञा है। ककार इत्संज्ञक है अतः त एवं तवतु के तकार को नकारादेश होगा। तवतु के आदि तकार को ही नकार होगा क्योंकि रेफ एवं दकार से परे यही तकार है। अन्त्य तकार के और दकार या

रेफ के मध्य 'तव' का व्यवधान है।
उदा.- भिन्नः-भिन्नवान्, शीर्णः ।
भिन्न - भिद् क्त > भिद् त। अब आलोच्य सूत्र द्वारा तकार को नकार एवं धातु के दकार को नकारादेश होकर भिन् न > भिन्न बना। प्रथमा एकवचन में सु हो भिन्नः सिद्ध होता है।
भिन्नवान् - भिद् क्तवतु> भिद् तवत् । दकार से अव्यवहित परवर्ती तकार को नकारादेश तथा दकार को भी नकारादेश होकर भिन् नवत् > भिन्नवत् बना। प्रथमा एकवचन में 'सु' विभक्ति होने पर भिन्नवान्।
शीर्ण :- शृ क्त > श् इर् त > शीर् त रकार् से परे होने से तकार को नकार आदेश - शीर् न । णत्व, सु विभक्ति होकर शीर्णः बना।

(68) " संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः " (8.2.43)

संयोगादि, आकारान्त और यण् वाली धातु से पर निष्ठा तकार को नकार हो।
उदा.-द्राणः ग्लानः ।
द्राणः- द्रा क्त। द्रा धातु संयोगादि, आकारान्त और रेफ के कारण यण्युक्त भी है अतः निष्ठा के 'त' को 'न' होकर द्राण बना। सु हो द्राणः बना।
ग्लानः- ग्लै क्त > ग्लै त > ग्ला त। अब ग्ला संयोगादि, आकारान्त तथा लकार के कारण यण्युक्त भी है तब उपर्युक्त सूत्र द्वारा निष्ठा तकार को नकारादेश होकर ग्ला न > ग्लान शब्द बना। विभक्त्यादि कार्य होकर ग्लानः बना।

(69) " ल्वादिभ्यः " (8.2.44)

लूञ् आदि धातुओं से पर निष्ठा के तकार को नकार हो।
लूञ् धातु क्र्यादिगण की धातु है। लूञ् से लेकर प्ली तक इक्कीस धातुओं के परे निष्ठा के त को न आदेश होगा। ये निम्न हैं ----
लूञ्, स्तृञ्, कृञ्, वृञ्, धूञ्, शृ, पृ, वृ, भृ, दृ, जृ, नृ, कृ, ऋ, गृ, ज्या, री, ली, ब्ली, प्ली।
उदा.- लूनः, स्तीर्णः, कीर्णः, धूनः, शीर्णः, जीर्णः, गीर्णः, जीनः, लीनः, आदि।
लूनः - लूञ् क्त > लू त। तकार को नकार होकर - लून सु=लूनः।
स्तृञ् - स्तृञ् क्त> स्तीर् त । नकारादेश होकर - स्तीर् न स्तीर्णः।

(80) " ओदितश्च " (8.2.45)

जिनका ओकार इत्संज्ञक है ऐसी धातुओं से परे रहते निष्ठा तकार को नकारादेश होता है।
उदा.- उद्विग्नः, उद्विग्नवान्।
उद्विग्न - उत् विज् (ओविजी) त (क्त)> उद् विग् त। अब विज् के ओदित् होने से निष्ठा तकार को नत्वादेश हो गया----
उद् विग् न > उद्विग्नः।
उद्विग्नवान् - उत् विज् क्तवतु > उद् विग् तवत्। निष्ठा नत्व होकर -

उद् विग् नवत् > उद्विग्नवत् । प्रथमा एकवचन में उद्विग्नवान् ।

(81) " क्षियो दीर्घात् " (8.2.46)

दीर्घ क्षि धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है।
उदा.-- क्षीणः ।
क्षीणः- क्षि क्त > क्षि त > क्षी त (सू. 'निष्ठायामण्यदर्थे' से)।
अब क्षि धातु दीर्घ इकारान्त हो गई। दीर्घ होने से निष्ठा तकार को नत्व - क्षीन। णत्व, स्वादिकार्य होकर क्षीणः ।

(82) " श्योऽस्पर्शे " (8.2.47)

श्यैङ्. धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है। स्पर्श अर्थ में निष्ठा नत्व नहीं होता।
उदा.- शीनं मेदः, शीना वसा आदि।
यहाँ श्यै धातु द्रव-काठिन्य अर्थ प्रकट करती है अतः नत्व हुआ पर 'शीतं वर्तते', 'शीतो वायुः' आदि वाक्यों में धातु स्पर्श अर्थ में हैं अतएव नत्व नहीं हुआ।
शीनं - श्यै क्त > श् इ ऐ त > शि ऐ त > शि त > शी त आलोच्य सूत्र द्वारा नत्वादेश होकर शी न। नपुं. एक व. में शीनं।
शीना- शीन से स्त्रीलिंग में टाप् हो शीना।

(83) " अञ्चोऽनपादाने " (8.2.48)

अञ्चु धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकार होता है, यदि अञ्चु के विषय में अपादान का प्रयोग न हो रहा हो तो।
यथा - समक्नः (समक्नौ शकुनेः पादौ।) न्यक्नः (तस्माच्छवो न्यक्नाः।) अपादान के प्रयोग में नत्व नहीं होता जैसे - उदक्तं- "उदक्तं उदक्तमुदकं कूपात्।"
समक्नः - सम् अंचु क्त > सम् अञ्च् त > सम् अन् त > सम् अक् त। अब उपर्युक्त सूत्र द्वारा निष्ठानत्व हो - सम् अक् न > समक्न। स्वादिकार्य हो समक्नः ।
न्यक्नः - नि अञ्चु क्त > नि अञ्च् त > नि अच् त > नि अक् त। निष्ठानत्व होकर नि अक् न । यण्, स्वादिकार्य हो न्यक्नः ।
उदक्तम् - उत् अञ्चु क्त > उद् अक् त। अपादान का प्रयोग होने से निष्ठानत्व नहीं होगा।सु, सु को अम् उदक्तम् सिद्ध हुआ।

(84) " दिवोऽविजिगीषायाम् " (8.2.49)

दिव् धातु से उत्तर अविजिगीषा अर्थ में निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है।
उदा.- आद्यूनः, परिद्यूनः ।
विजिगीषा अर्थ अभिव्यक्त होने पर नत्व नहीं होगा। जैसे:- द्यूतं वर्तते। द्यूत क्रीड़ा में विजय की इच्छा होने से नत्व प्रतिषिद्ध हो जाता है।
आद्यूनः - आ दिव् क्त > आ दि उ त > आ द् य् उ त > आद्यू त। निष्ठा नत्व होकर आद्यून > आद्यूनः ।
परिद्यूनः - परि दिव् क्त > परि दि उ त > परि द् य् उ त >

परिद्यू त । तकार को नत्व हो परिद्यू न सु > परिद्यूनः ।
द्यूतं – दिव् क्त > ् त > दि ऊ त > द् य् ऊ त > द्यू त ।
"अविजिगीषायाम्" का प्रतिषेध लगने से यहाँ निष्ठा नत्व नहीं हुआ ।
सु, सु को अम् हो – द्यूतं ।

(85) " शुषः कः " (8.2.51)

शुष् शोषणे धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को ककारादेश होता है ।
उदाहरण – शुष्कः, शुष्कवान् ।
शुष्कः – शुष् क्त > शुक् त > शुष् क– निष्ठा तकार को ककार होकर । स्वादिकार्य होने पर शुष्कः ।
शुष्कवान्– शुष् क्तवतु > शुष् तवत् । अब सूत्र विहित ककार होकर शुष् कवत् > शुष्क वत् । प्रथमा एकवचन में शुष्कवान् ।

(86) " पचो वः " (8.2.52)

डुपचष् (पाके) धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को वकारादेश होता है ।
जैसे – पक्वः, पक्ववान् ।
पक्वः – पच् क्त > पच् त । पक् त । अब आलोच्य सूत्र द्वारा विहित वकार होकर – पक् व बना । स्वादिकार्य करने पर पक्वः ।
पक्ववान् – पच् क्तवत् > पक् तवत् । निष्ठा तकार को वकार हो पक् ववत् > पक्ववत् सु > पक्ववान् ।

(87) " क्षायो मः " (8.2.53)

क्षै धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को मकारादेश होता है । यथा– क्षामः, क्षामवान् ।
क्षामः क्षै क्त > क्षै त । क्षा त । (आदेच उपदेशेऽशिति से आत्व हो) अब निष्ठा तकार को मकार होने पर क्षा म । प्रथमा एकवचन मे क्षामः ।
क्षामवान् – क्षै क्तवतु > क्षै तवत् > क्षा तवत् । निष्ठा तकार को मकार होकर क्षा मवत् > क्षामवत् सु > क्षामवान् ।

(88) " प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् " (8.2.54)

प्र–पूर्वक स्त्यै धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को विकल्प से मकारादेश होगा । जैसे– आदेश पक्ष में – प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् । आदेश के अभाव में – प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् ।
प्रस्तीमः– प्र स्त्यै क्त > प्र स्त्यै त > प्र स्त्या त > प्र स्त् इ आ त > प्र स्त् इ त > प्रस्त् ई त = प्रस्ती त । अब सूत्रविहित मकार होकर – प्रस्तीम । प्रथमा एकवचन में प्रस्तीमः ।
प्रस्तीमवान् – प्र स्त्यै क्तवतु > प्र स्त्या तवत् > प्र स्त् इ आ तवत् > प्र स्त् इ तवत् > प्रस्ती तवत् । मकारादेश होकर प्रस्तीमवत् । प्रथमा एकवचन में प्रस्तीमवान् ।
प्रस्तीतः – प्र स्त्यै क्त > प्र स्त्या त > प्र स्त् इ आ त > प्रस्ति त > प्रस्तीत । आदेश के अभाव पक्ष में तकार ही रहेगा और स्वादिकार्य होकर प्रस्तीतः शब्द सिद्ध होगा ।

प्रस्तीतवान् – प्र स्त्यै क्तवतु > प्रस्तीतवत् । आदेशाभाव पक्ष में प्रथमा एकवचन में 'प्रस्तीतवान्' शब्द बना ।

(89) " नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् " (8.2.56)

नुद, विद, उन्दी, त्रा, घ्रा, ह्री – इनसे परे होते निष्ठा के तकार को नकार आदेश विकल्प से होता है।

उदा.– आदेश पक्ष में – नुन्न:, विन्न:, समुन्न:, त्राण:, घ्राण:, ह्रीण:, आदि ।

आदेशाभाव पक्ष में – नुत्त:, वित्त:, समुत्त:, त्रात:, घ्रात:, ह्रीत: । नुन्न: – नुद् क्त > नुद् त । आदेश पक्ष में तकार को नकार एवं दकार को नकार (सू. "रदाभ्यां निष्ठातोन: पूर्वस्य च द: ।") होकर नुन् न > नुन्न सु > नुन्न: बना ।

त्राण: – त्राक्त > त्रा त । आलोच्य सूत्र द्वारा नत्वादेश होकर त्रान बना । नकार को णत्वादेश होकर तथा स्वादिकार्य होकर त्राण: बना ।

नुत्त:– नुद् क्त > नुद् त > नुत् त > नुत्त सु > नुत्त: ।

आदेशाभाव पक्ष में ऐसा रूप सिद्ध हुआ ।

विशेष – नुद् आदि दकारान्त शब्दों को सू. "रदाभ्यां निष्ठातोन: पूर्वस्य चद:" से ही निष्ठानत्व एवं निष्ठा से पूर्व दकार को नत्व प्राप्त था पुन: इससूत्र में इन शब्दों का समावेश वैकल्पिक नत्वादेश विहित करने हेतु किया गया । अन्यथा वित्त:, नुत्त:, समुत्त: आदि प्रयोग सिद्ध न हो पाते ।

(90) " क्विन्प्रत्ययस्य कु: " (8.2.62)

क्विन् – प्रत्यय जिस धातु से हुआ हो उस पद के अन्त्य अल् को कवर्गादेश हो ।

उदा.– युङ्., प्राङ्., प्रत्यङ्., उदङ्. आदि ।

युङ्.– युज् क्विन् > युज् सु > युज् स् यु न् (उम्) ज् स् > यु न् ज् > यु न् । अब क्विन् प्रत्ययान्त पद के अन्त्य अल् न् को प्रकृत सूत्र द्वारा कवर्गादेश होकर युङ्. बना ।

प्राङ्. – प्र अञ्चु क्विन् > प्र अञ्च् > प्रांच् सु > प्राञ्च् स् > प्राञ्च् > प्रान् । क्विन् प्रत्ययान्त पद के अन्तावयव 'न' के स्थान पर समस्थानिक कवर्गीय व्यंजन् ङकार आदेश करने पर – प्राङ्. शब्द सिद्ध हुआ ।

(91) " नशेर्वा " (8.2.63)

नश् पद को विकल्प से कवर्गादेश होता है।

उदा.– जीवनक् । आदेश के अभाव पक्ष में – जीवनट् ।

जीवनक् – जीव नश् क्विप् > जीव नश् सु जीवनश् स् > जीवनश् । कवर्गादेश होकर – जीवनक् ।

जीवनट् – जीवनश् क्विप् > जीवनश् > जीवनश् सु > जीवनश् स् > जीवनश् । कुत्वाभाव पक्ष में षत्व, षकार को जश् डकार, डकार को चर् टकार होकर जीवनट् शब्द सिद्ध हुआ ।

(92) **" मो नो धातोः " (8.2.64)**

मकारान्त धातु पद को नकारादेश होता है। उदा.- प्रशान्, प्रतान्, प्रदान् आदि।

प्रशान् - प्र शम् क्विप् > प्र शम् सु > प्र शाम् सु > प्र शाम् स् > प्र शाम्। प्रशाम्। क्विप् कृत् प्रत्यय है इससे प्रशाम् की पद संज्ञा हुई (सू.-कृत्तद्धितसमासाश्च से) मकार को नकार अन्तादेश होकर- प्रशान् शब्द बना।

प्रतान्- प्र तम् क्विप सु > प्र तम् सु > प्र तम् स् > प्र ताम् > प्रतान् - मकार को सूत्र विहित नत्वादेश होकर।

(93) **" म्वोश्च " (8.2.65)**

मकार तथा वकार परे रहते भी मकारान्त धातु को नकारादेश होता है।

उदा. अगन्व, अगन्म।

अगन्व- गम् लङ्.> अट् गम् वस् > अ गम् शप् वस् > अ गम् वस् ('बहुलं छन्दसि' से शप् लुक्) अ गम् व ("स उत्तमस्य" से सकार लोप)। अब मकारान्त धातु के परे वकार होने से धातु के अन्त्य अवयव को नत्वादेश प्राप्त हुआ- अ गन् व = अगन्व।

अगन्म - अट् गम् शप् मस् > अ गम् मस् > अ गम् म। धातु के मकार को नत्वादेश - अ गन् म > अगन्म।

(94) **" रोऽसुपि " (8.2.68)**

अहन् को रेफ आदेश होता है सुप् परे न हो तो। जैसे- अहर्ददाति, अहर्भुङ्क्ते. आदि।

अहर्ददाति- अहन् ददाति। नकार को आलोच्य सूत्र द्वारा रेफादेश होकर- अहर् ददाति > अहर्ददाति।

अहर्भुङ्क्ते - अहन् भुङ्क्ते। अहन् के नकार को रेफ हो - अहर् भुङ्क्ते > अहर्भुङ्क्ते।

(95) **" वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः " (8.2.72)**

सकारान्त वस्वन्त पद, स्रंसु, ध्वंसु, एवं अनडुह्- इन्हें दकारादेश होता है। उदा. वस्वन्त - विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भिः।

स्रंसु - उखास्रद्भ्याम्, उखास्रद्भिः।

ध्वंसु - पर्णध्वद्भ्याम्, पर्णध्वद्भिः।

अनडुह् - अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः।

विद्वद्भ्याम् - विद्वस् भ्याम्। विद्वस् सकारान्त वस्वन्त पद है अतः सूत्र द्वारा दकार अन्तादेश होकर - विद्वद् भ्याम् = विद्वद्भ्याम्।

उखास्रद्भ्याम् - उखास्रस् भ्याम्। सूत्र द्वारा सकार को दकारादेश हो उखास्रद्भ्याम्।

पर्णध्वद्भ्याम् - पर्णध्वंस् क्विप् > पर्णध्वंस् > पर्ण ध्वस् भ्याम्। सकार को दकारादेश हो - पर्णध्वद् भ्याम् = पर्णध्वद्भ्याम्।

अनडुद्भ्याम् - अनडुह् भ्याम। दकारादेश होकर - अनडुद्भ्याम्।

(96) " तिप्यनस्तेः " (8.2.73)

अस् धातु को छोड़कर जो सकारान्त पद उसको तिप् परे रहते दकारादेश होता है।

उदा. अचकाद्, अन्वशाद्।

अचकाद् – चकास् लङ्. > अट् चकास् शप् तिप् > अ चकास् ति > अ चकास् त्>अ चकास्। सकारान्त चकास् को उपर्युक्त सूत्र द्वारा दकार अन्तादेश होकर – अचकाद्।

अन्वशाद् – अनु अट् शास् शप् तिप् > अनु अशास्। दकारादेश हो – अनु अशाद् > अन्वशाद्।

(97) " अदसोऽसेर्दादु दो मः " (8.2.80)

असकारान्त अदस् शब्द के दकारोत्तरवर्ती वर्ण को उकार तथा शब्द के दकार को मकार आदेश होता है।

उदा. अमू, अमुम्, अमू, अमून्, अमुना, अमूभ्याम्., अमुष्मै, अमुष्मात् अमुष्य, अमुयोः, अमुष्मिन् आदि।

अमू – अदस् औ अथवा औट्। अद औ ("त्यदादीनामः"से अत्व) > अदौ। प्रकृत सूत्र से असकारान्त अदस् शब्द के दकार को मकार एवं दकारोत्तरवर्ती औकार को ऊकार होकर – अमू शब्द सिद्ध हुआ।

अमुम् – अदस् अम् > अद अम् > अदम्। अब दकार को मकार एवं दकारोत्तरवर्ती अकार को उकार हो – अमुम् शब्द बना।

(98) " एत ईद् बहुवचने " (8.2.81)

असकारान्त अदस् शब्द के दकार से उत्तर एकार के स्थान में ईकार तथा दकार को मकार आदेश होंगे बहुवचन में।

उदा. अमी, अमीभिः, अमीभ्यः, अमीषाम्, अमीषु।

अमी – अदस् जस् > अद शी > अद ई > अदे। प्रकृत सूत्र द्वारा एकार को ईकार तथा दकार को मकार आदेश हो – अमी।

अमीषु – अदस् सुप् > अद सु > अदे सु। एकार को ईकार दकार को मकार आदेश होकर अमी सु > अमीषु बना।

(99) " तयोर्य्वावचि संहितायाम् " (8.2.108)

(8.2.107) क्रम के सूत्र "एचोऽप्रगृह्यस्यादूराध्दूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ" सूत्र से जो दूर से बुलाने के प्रसंग में न हो ऐसे एच् के उत्तरार्ध को इकार एवं उकार आदेश विहित हुए हैं, प्रकृत सूत्र से उन दोनों आदेशों के स्थान में क्रमशः य् और व् आदेश हो जाते हैं यदि संहिता का विषय हो और इन इकार उकार के परे अच् हो तो। जैसे – अग्ना 3 याशा, पटा 3 वाशा, अग्ना 3 यिन्द्रम्, पटा 3 वुदकम्।

अग्ना 3 याशा – अग्ने आशा > अग्ना 3 इ आशा (एचोऽप्रगृह्यस्या. से एच् एकार के पूर्वार्द्ध को आ एवं उत्तरार्ध को इकार हो गया)। अब प्रकृत सूत्र से पूर्वसूत्रकृत इकार के स्थान पर य् होकर – अग्ना 3 य् आशा > अग्ना 3 याशा बना।

पटा 3 वाशा – पटौ आशा > पटा 3 उ आशा। आलोच्य सूत्र द्वारा व् होकर पटा 3 व् आशा = पटा 3 वाशा। अग्ना 3 यिन्द्रम् – अग्ने इन्द्रम् > अग्ना 3 इ इन्द्रम्। इकार को य् होकर – अग्ना 3 य् इन्द्रम् = अग्ना 3 यिन्द्रम्।

पटा 3 वुदकम् – पटौ उदकम् > पटा 3 उ उदकम् व् आदेश होने पर – पटा 3 व् उदकम् > पटा : वुदकम्।

(100) " भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि " (8.3.17)

भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व में है जिस रु के उस रु के रेफ को यकार आदेश होता है अश् परे रहते।

उदा. भो अत्र, भगो अत्र, अघो अत्र, भो ददाति, भगो ददाति, अघो ददाति। अवर्ण पूर्व में हो – क आस्ते, कय् आस्ते।

भो अत्र – भो स् अत्र > भो रु अत्र > भो र् अत्र रेफ को यकार आदेश होकर– भो य् अत्र। यकार लोप हो (ओतो गार्ग्यस्य, सू से) भो अत्र।

भो ददाति – भोस् ददाति > भो रु ददाति > भो र् ददाति > भो य् ददाति – प्रकृत सूत्र द्वारा रु के रेफ को यकार होकर। भो ददाति (" हलि सर्वेषाम्" से यकार का लोप होकर)।

क आस्ते, कय् आस्ते – क रु आस्ते > क र् आस्ते। रेफ से पूर्व अवर्ण है अतएव रेफ को यकारादेश होकर – क य् आस्ते बना। शाकल्य के मत में लोप होकर "क आस्ते" एवं लोप के अभाव में "कयास्ते" सिद्ध हुआ।

(101) " मो राजि समः क्वौ " (8.3.25)

सम् के मकार को मकारादेश होगा यदि क्विप् प्रत्ययान्त राज् धातु परे हो तो।

उदा. सम्राट्, साम्राज्यम् आदि।

"मोऽनुस्वारः" 8.3.23 से प्राप्त मकार को अनुस्वार आदेश के निवृत्यर्थ प्रकृत सूत्र द्वारा मकार को मकारादेश विहित हुआ।

सम्राट् – सम् राज् क्विप् > सम् राज्। मकार को अनुस्वार आदेश प्रतिषिद्ध होकर मकार को प्रकृत सूत्र से मकार हुआ और सम्राज् शब्द बना। प्रथमा एकवचन में सम्राट्।

साम्राज्यम् – सम् राज् क्विप् > सम्राट् ष्यञ् सु > साम्राज् य अम् > साम्राज्यम्।

(102) " हे मपरे वा " (8.3.26)

जिससे मकार परे हो ऐसे हकार के परे रहते पदान्त मकार को विकल्प से मकार आदेश हो।

उदा. किम् ह्मलयति, किं ह्मलयति।

किम् ह्मलयति–यहाँ किम् के मकार से परे हकार है जो मकारपूर्ववर्ती भी है अतः किम् के मकार को प्रकृत सूत्र द्वारा मकार होकर–किम् ह्मलयति बना। मकारादेश के अभाव में अनुस्वार होकर – किं ह्मलयति बनेगा।

वार्तिक– "यवलपरे यवला वा"-----

यकार, वकार और लकार परक हकार परे होने पर मकार के स्थान में क्रमशः यकार, वकार और लकार होते हैं। ये आदेश वैकल्पिक होते हैं। उदा.--

किम् ह्यः = किय्ँ ह्यः

किम् ह्वलयति = किव्ँ ह्वलयति।

किम् ह्लादयति = किल्ँ ह्लादयति।

(103) " नपरे न : " (8.3.27)

नकारपरक हकार परे रहते पदान्त मकार को विकल्प से नकारादेश होता है।

उदा. किन् ह्नुते, किं ह्नुते।

किन् ह्नुते – किम् ह्नुते । यहाँ किम् के मकार से परे हकार है जिससे परे नकार है अतएव सूत्र में वर्णित सभी प्रसंग उपस्थित होने से मकार को वैकल्पिक नकार प्राप्त हुआ। नकार आदेश होकर – किन् ह्नुते > किं ह्नुते,– नकारादेश के अभाव में अनुस्वार होकर किं ह्नुते।

(104) " मय उञो वो वा " (8.3.33)

मय् से उत्तर उञ् अव्यय को अच् परे रहते विकल्प करके वकारादेश होता है।

उदा. किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्।

किम्वुक्तम् – किम् उ उक्तम्। यहाँ मकार जो मय् प्रत्याहार का वर्ण है – से परे उञ् अव्यय है तथा इससे परे अच् उकार है तब प्रकृत सूत्र द्वारा वैकल्पिक वकार आदेश प्राप्त हुआ। आदेश पक्ष में ------ किम् व् उक्तम् > किम्वुक्तम् बना।

आदेश के अभाव में एकाच्त्वेन प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव हुआ – किम् उ उक्तम् = किमु उक्तम्।

(105) " स्तोः श्चुना श्चुः " (8.4.39)

शकार एवं चवर्ग के योग में सकार एवं तवर्ग के स्थान में शकार और चवर्ग आदेश होते हैं।

उदा. रामश्शेते, रामश्चिनोति, सच्चित्, शार्ङ्गिञ्जयः आदि।

रामश्शेते – रामस्+शेते – स को श आदेश।

रामश्चिनोति – रामस्+चिनोति – स को श आदेश।

सच्चित् – सत्+चित् – त को च आदेश। शार्ङ्गिञ्जयः – शार्ङ्गिन्+जयः– न को ञ् आदेश ।

(106) " ष्टुना ष्टुः " (8.4.40)

षकार एवं टवर्ग के योग में सकार एवं तवर्ग के स्थान में षकार एवं टवर्ग हो जाते हैं।

उदा. रामष्षष्ठः, रामष्टीकते पेष्टा, तट्टीका, चक्रिण्ढौकसे आदि।

रामष्षष्ठः – रामस् षष्ठः– स को ष आदेश हो रामष् षष्ठः = रामष्षष्ठः।

रामष्टीकते – रामस् टीकते ।

पेष्टा – पेष् ता –तकार को टकार आदेश ।

तट्टीका – तत् टीका – तकार को टकार ।

चक्रिण्ढौकसे – चक्रिन् ढौकसे – नकार को णकार ।

(107) " यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा " (8.4.44)

पदान्त यर् को अनुनासिक परे रहते विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है ।

उदा. एतन्मुरारिः एतद्मुरारिः । षण्मासाः षड्मासाः । धिङ्. मूर्खम् धिग् मूर्खम् । सन्मार्गः सद्मार्गः । मद् नीतिः, मन्नीतिः ।

एतद्मुरारिः, एतन्मुरारिः – एतद्+मुरारि । विग्रह में दकार यर् है जिससे परे अनुनासिक मकार है तब दकार को अनुनासिक होने पर – एतन् मुरारिः = एतन्मुरारिः बना । अनुनासिक न होने पर एतद्मुरारिः ही रहेगा ।

षण्मासाः, षड्मासाः – षड्+मासाः । डकार को अनुनासिक आदेश प्राप्त होने पर सवर्ण होने से वर्ग का पंचमाक्षर णकार हो – षण्मासाः बना । आदेश के अभाव में षड्मासाः ही रहेगा ।

धिङ्. मूर्खम्, धिग् मूर्खम्, – धिग्+मूर्खम् । गकार को अनुनासिक आदेश हो धिङ्मूर्खम् । आदेश अभाव पक्ष में-धिग् मूर्खम् ।

(108) " झलां जश् झशि " (8.4.52)

झलों के स्थान में झश् परे रहते जश् आदेश होता है ।

झल् अर्थात् वर्ग के प्रथम, द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ वर्ण तथा श, ष, स, ह वर्ण । जश् अर्थात् वर्ग का तृतीय वर्ण । झश् में वर्ग के तृतीय एवं चतुर्थ वर्ण आते हैं । जिन प्रयोगों में सूत्र विहित कार्य होता है ऐसे कुछ शब्द प्रयोग इस प्रकार हैं--- लब्धा, बोद्धा, दोग्धा आदि ।

लब्धा – लभ् तृच् > लभ् तृ > लभ् धृ । प्रकृत् सूत्र द्वारा झश् धकार परे होते झल् भकार को जश् बकार आदेश होगा । – ल ब् धृ > लब्धृ । प्रथमा एकवचन में रूप बनेगा – लब्धा ।

(109) " अभ्यासे चर् च " (8.4.53)

अभ्यास में वर्तमान झलों को चर् आदेश होता है । सूत्रस्थ चकार के बल से जश् आदेश भी होता है ।

झलों में वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं श, ष, स, ह वर्ण हैं । चर् प्रत्याहार में वर्ग के प्रथम श, ष, स, ह वर्ण हैं तथा जश् में वर्ग के तृतीय वर्ण हैं । इनमें स्थानी एवं आदेश का निर्णय इस प्रकार किया गया– "प्रकृति–जशां प्रकृति जशः । प्रकृति–चरां प्रकृतिचरो ।" (काशिका) अर्थात् जश् स्थानी को जश्, चर् स्थानी को चर् आदेश होंगे । अतः प्रथम वर्ण को प्रथम वर्ण तृतीय वर्ण को तृतीय वर्ण आदेश तथा श, ष, स, ह को श, ष, स, ह आदेश अपने स्थान में अपने आप होंगे ।

शेष वर्णों में वर्ग के द्वितीय को वर्ग का प्रथम वर्ण तथा वर्ग के चतुर्थ को

तृतीय वर्ण आदेश होगा।

चर्त्व एवं जश्त्व के उदाहरण - बभूव, चिखनिषति, जिघत्सति, चिचीषति, पिपठिषति, बुबुधे, ददौ आदि।

बभूव - भू णल् > भ भूव इस दशा में अभ्यास के झल् भकार को जश् बकार हो ब भूव शब्द बना। यहाँ वर्ग के चतुर्थ वर्ण को वर्ग का तृतीय वर्ण हुआ है।

चिखनिषति - खन् सन् तिप् >ख खनि स ति। अब झल् ख को चर् चकार आदेश हो - च खनि स ति। इत्व, षत्व आदि हो- चिखनिषति। यहाँ वर्ग के द्वितीय वर्ण को वर्ग का प्रथम वर्ण आदेश होता है।

चिचीषति- चिञ् सन् तिप् > चि ची ष ति। यहाँ चर् प्रकृति को चर् आदेश नियम से अभ्यास को चर्त्व हो चकार आदेश हुआ।

(110) " खरि च " (8.4.54)

खर् परे होने की दशा में भी झलों को चर् आदेश होंगे।

उदा. - भेत्ता, युयुत्सते आदि।

भेत्ता - भिद् तृच् > भेद् त। तृच का तकार खर् है अतएव झल् दकार को प्रकृत सूत्र से चर् आदेश होगा। आन्तर्तम्यात् दकार के स्थान पर उसी वर्ग का तकार आदेश होगा - भेत् तृ। भेत्तृ से प्रथमा एकवचन में - भेत्ता।

(111) " वावसाने " (8.4.55)

अवसान में वर्तमान झलों को विकल्प करके चर् आदेश होता है।

उदा. वाक्, वाग्; त्वक्, त्वग्; श्वलिट् श्वलिड् आदि।

वाक्, वाग् - वाच् सु > वाच् स् > वाच् > वाज् (झलां जशोऽन्ते) > वा ग् (चोः कुः)। वाग् का गकार झल् है एवं अवसान में है अतएव आलोच्य सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व प्राप्त हुआ। चर्त्व के भाव पक्ष में गकार के स्थान पर आन्तर्तम्यात् ककार आदेश हुआ ---- वाक्। अभाव पक्ष में गकार ही रह गया---- वाग्।

श्वलिट्, श्वलिड् - श्वलिह् सु > श्वलिह् स् > श्वलिह् > श्वलिढ् > श्वलिड्। अवसान में अवस्थित डकार को वैकल्पिक चर्त्व प्राप्त हुआ। चर्त्व पक्ष में डकार का सवर्ण टकार होकर 'श्वलिट्' बना। अभाव पक्ष में 'श्वलिड्' बना।

(112) " अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः " (8.4.56)

अवसान में वर्तमान प्रगृह्यसंज्ञक से भिन्न अण् को विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है।

उदा. दधिँ दधि; मधुँ, मधु आदि।

दधि, दधि - दधि सु > दधि। 'सु' का लोप हो जाने से दधि का इकार अवसान में वर्तमान है यह प्रगृह्यसंज्ञक भी नहीं है अतएव सूत्र द्वारा वैकल्पिक अनुस्वार आदेश प्राप्त हुआ। आदेश पक्ष में 'दधिँ' शब्द बना। आदेशाभाव पक्ष में 'दधि' ही रहा। इसी प्रकार द्वितीया

एकवचन में अम् का लोप होकर अनुनासिक आदेश युक्त रूप बनेगा।

(113) " अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः " (8.4.57)

अनुस्वार को यय् परे रहते परसवर्ण आदेश होता है।

उदा. शान्तः, अङ्कितः, अञ्चितः, गुन्जति, कुण्ठितः, कान्तः, गुम्फितः आदि।

शान्तः – शमु क्त > शम् त > शाम् त > शां त। क्त का तकार यय् है अतः उसका सवर्ण अनुनासिक नकार होकर ---- शान् त > शान्त। प्रथमा एकवचन में शान्तः।

अङ्कितः ----- अं कित। परसवर्ण अनुनासिक ङकार होकर – अङ्. कित > अङ्कित सु > अङ्कितः

अञ्चितः ---- अं चित > अञ् चित सु > अञ्चितः।

गुन्जति ----- गुं ज ति > गुन् ज ति > गुन्जति

कुण्ठितः ---- कुं ठि त > कुण् ठित > कुण्ठित सु = कुण्ठितः।

गुम्फितः ----- गुं फि त > गु म् फित > गुम्फित सु > गुम्फितः।

(114) " वा पदान्तस्य " (8.4.58)

पदान्त के अनुस्वार को यय् परे रहते विकल्प से परसवर्णादेश होता है। यह आदेश पदान्त अनुस्वार के विषय में है। पूर्व सूत्र का आदेश अपदान्त अनुस्वार के विषय में था। दोनों सूत्रों के पर्यालोचन से ज्ञात हुआ कि अपदान्त अनुस्वार को होने वाला परसवर्ण नित्य एवं पदान्त अनुस्वार को होने वाला परसवर्ण वैकल्पिक होता है।

उदा.– त्वंकरोषि त्वङ् करोषि। नवीन्तरति, नवीं तरति।

त्वङ्करोषि, त्वं करोषि ---- त्वं (त्वम्) युष्मद् का प्रथमा एकवचन का रूप है अतएव इसका अनुस्वार (जो पहले मकार था और "मोऽनुस्वारः" से अनुस्वार हो गया) पदान्त में वर्तमान है। तब उपर्युक्त सूत्र द्वारा वैकल्पिक परसवर्णादेश पक्ष में ककार का सवर्ण अनुनासिक ङकार होकर "त्वङ्. करोषि" बना। परसवर्णादेश के अभाव में 'त्वं करोषि' ही रहा।

(115) " तोर्लि " (8.4.59)

तवर्ण के स्थान में लकार परे रहते परसवर्ण आदेश होता है।

उदा. – तल्लयः, अग्निचिल्लुनाति, सोमसुल्लुनाति, भवाँल्लुनाति।

तल्लयः –'तद्+लयः। यहाँ तवर्ग–दकार, के परे लय का लकार है अतएव इस सूत्र द्वारा परसवर्ण (लकारादेश) हुआ – तल् लयः= तल्लयः।

अग्निचिल्लुनाति – अग्निचित्+लुनाति। तवर्ग तकार से परे लकार होने से परसवर्ण आदेश होकर – अग्निचिल् लुनाति = अग्निचिल्लुनाति।

भवाँल्लुनाति – भवान्+लुनाति। यहाँ तवर्ग नकार से परे लकार है तब अनुनासिक नकार के स्थान में प्रकृत सूत्र द्वारा सानुनासिक लकार प्राप्त हुआ – भवाँल् लुनाति = भवाँल्लुनाति।

(116) " उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य " (8.4.60)

उद् उपसर्ग से उत्तर स्था तथा स्तम्भ धातुओं के स्थान में पूर्वसवर्ण आदेश हो।

उदा. – उत्थानम्, उत्तम्भनम्।

उत्थानम् – उद् स्थानम्। स्थानम् के सकार को पूर्व वर्ण दकार का सवर्ण आदेश प्राप्त हुआ। इससे सकार के तुल्य स्थान एवं प्रयत्न वाला थकार आदेश होकर – उद् थ् थानम् बना। उद् के दकार को चर् तकार ("खरि च" से) तथा थकार का लोप ("झरो झरि सवर्णे" से वैकल्पिक लोप) हो उत् थानम् > उत्थानम् बना।

उत्तम्भनम् – उद् स्तम्भनम् – स्तम्भनम् के सकार को पूर्वसवर्ण थकार होकर – उद् थ् तम्भनम् बना। दकार को तकार एवं थकार का लोप हो उत् तम्भनम् = उत्तम्भनम् बना।

(117) " झयो होऽन्यतरस्याम् " (8.4.61)

झय् से उत्तर हकार को विकल्प से पूर्वसवर्ण आदेश होता है।

उदा. वाग्घरिः वाग्हरिः। अज्झलौ, अज्हलौ। सम्पद्धर्षः सम्पद्हर्षः इत्यादि।

वाग्घरिः, वाग्हरिः – वाग् + हरिः। गकार झय् है तथा इससे परे हकार है तब हकार को सूत्रविहित पूर्वसवर्ण आदेश पक्ष में घकार होकर वाग् घरिः = वाग्घरिः बना।

आदेश के अभाव में वाग्हरिः ही रहा।

अज्झलौ, अज्हलौ – अच् – हलौ > अज् हलौ अब प्रकृत सूत्र द्वारा वैकल्पिक पूर्वसवर्णादेश के भाव पक्ष में जकार का सवर्ण झकार हो – अज् झलौ > अज्झलौ बना। आदेश के अभाव मे 'अज्हलौ' ही रहा।

सम्पद्धर्षः, सम्पद्हर्षः – सम्पद् हर्षः। सूत्रविहित पूर्वसवर्णादेश करने पर सम्पद्धर्षः। आदेशाभाव पक्ष में – सम्पद्हर्षः।

(118) " शश्छोऽटि " (8.4.62)

झय् से उत्तर शकार के स्थान में अट् परे रहते विकल्प से छकार आदेश होता है।

उदा. – तच्छिवः, तच् शिवः; वाक्छूरः, वाक् शूरः; विश्वसृट्छेते विश्वसृट् शेते; जगच्छान्तिः, जगच्शान्तिः आदि।

तच्छिवः, तच् शिवः – तद् शिवः > तज् शिवः > तच् शिवः। यहाँ 'च' वर्ण झय् प्रत्याहार का वर्ण है तथा इससे परे शकार है। शकार से परे अट् इकार है अतः उपर्युक्त सूत्र की प्रवृत्ति हुई और शकार को वैकल्पिक छकार प्राप्त हुआ। छकारादेश पक्ष में तच् छिवः = तच्छिवः, तथा अभाव पक्ष में तच्शिवः प्रयोग सिद्ध हुए।

वाक्छूरः, वाक्शूरः – वाक् शूरः। छत्व हो वाक् छूरः = वाक्छूरः। छत्वाभाव में वाक्शूरः।

रुत्व-प्रकरण

(1) " ससजुषो रुः " (8.2.66)

सकारान्त पद तथा सजुष् को रु आदेश होता है।

उदा.-वायुरत्र, अग्निरत्र। सजूर्ऋषिभिः, सजूर्देवेभिः आदि।

वायुरत्र - वायु स् अत्र । सकार को रुत्व हो - वायु रु अत्र । रु के उकार का इत्संज्ञक लोप तथा वर्णमेल हो वायु र् अत्र = वायुरत्र शब्द बना।

अग्निरत्र - अग्नि स् अत्र। सकार को रुत्व हो -अग्नि रु अत्र। अग्नि र् अत्र = अग्निरत्र।

सजूर्ऋषिभिः - सजुष् ऋषिभिः। सजुष् पद को रुत्वादेश प्राप्त होने पर आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' के नियम से सजुष् के अन्त्य अल् षकार को होकर - सजु रु ऋषिभिः। उकार का इत्संज्ञक लोप तथा सजुर् के उकार को दीर्घ हो सजूर् ऋषिभिः 'सजूर्ऋषिभिः' शब्द सिद्ध होता है।

सजूर्देवेभिः - सह जुषतः इति सजुष् (सह जुष् क्विप् > स जुष्)। सजुष् देवेभिः - इस स्थिति में सजुष् के सकार को रुत्व हो - सजुरु देवेभिः। सजु रु देवेभिः > सजु र् देवेभिः = सजूर्देवेभिः।

(2) " अहन् " (8.2.68)

अहन् पद को रु आदेश होता है।

उदा. - अहोभ्याम् , अहोभिः।

अहोभ्याम् - अहन् भ्याम् । आलोच्य सूत्र से अहन् पद को रु आदेश प्राप्त हुआ। यह आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' नियम से स्थानी के अन्तावयव को हो अह रु भ्याम्-यह स्थिति हुई। रु को 'हशि च' से उकारादेश, पूर्वपर के स्थान पर गुण एकादेश (सू. आद्गुणः से) हो अहोभ्याम् शब्द सिद्ध हुआ।

अहोभिः - अहन् भिस्। रुत्वादेश हो - अह रु भिस्। अहोभिः।

(3) " अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि " (8.2.70)

अम्नस्, ऊधस्, अवस् - इन्हें वेद विषय में उभयथा स्थिति होती है अर्थात् सकार को रुत्व ('ससजुषो रु' से विहित) तथा रेफ ('रोऽसुपि' से विहित) दोनों ही होता है।

उदा. रेफ पक्ष में - अम्नरेव, ऊधरेव, अवरेव।

रुत्व पक्ष में - अम्न एव, ऊध एव, अव एव।

अम्नरेव - अम्नस् एव। स को रेफ हो अम्न र् एव = अम्नरेव।

इसी प्रकार ऊध र् एव, अव र् एव हो ऊधरेव, अवरेव शब्द बने।

अम्न एव - अम्नस् एव। रुत्व हो अम्न रु एव। रु को "भो भगोअघोअपूर्वस्य" से यकार, यकार का लोप ('लोपः शाकल्यस्य' से) हो 'अम्न एव' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार ऊध रु एव, अव रु एव > ऊध य् एव; अव य् एव > ऊध एव तथा 'अव एव' आदि प्रयोग बनेंगे।

(4) " भुवश्च महाव्याहृतेः " (8.2.72)

भुवस् शब्द को महाव्याहृति अर्थ में उभय आदेश-रु, रेफ वेद विषय में प्राप्त होते हैं। उदा.- भुवरित्यन्तरिक्षम्, भुव इत्यन्तरिक्षम्।

भुवरिति - भुवस् इति। रेफ पक्ष में स् को रेफ हो - भुव र् इति = भुवरिति। भुव इति - भुवस् इति। रुत्व पक्ष में-भुव रु इति। भुव रु इति > भुव य् इति > भुव इति।

महाव्याहृति भुवस् शब्द का अर्थ है - अन्तरिक्षवाचक भुवस् शब्द।[1] तीन महाव्याहृतियाँ हैं- पृथिवी अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग की वाचक।[2] इनमें भुवस् अन्तरिक्षवाची महाव्याहृति है।

सूत्र की 'न्यास' टीका के अनुसार - अन्तरिक्षं हि महत्, तस्य व्याहृतिः = उक्तिर्यस्मात्ः तस्मात् महाव्याहृतिर्भवति। इस प्रकार महत् की व्याहृति होने से अर्थात् अन्तरिक्ष की उक्ति होने से 'भुवस् महाव्याहृति' है।

भुवः अव्यय अन्तरिक्षवाची महाव्याहृति है अतः "भुवो विश्वस्य भुवनेषु यज्ञियः"- यहाँ सूत्र प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि वाक्य का भुवस् शब्द अन्तरिवाची महाव्याहृति नहीं है अपितु भू शब्द का षष्ठ्यन्त अथवा पंचम्यन्त रूप है। (भूशब्दस्य षष्ठ्यन्तस्य पन्चम्यन्तस्य वा प्रयोगः।)[3] अथवा भू धातु का तिङन्त रूप है। (तिङन्तमेतत्। भवतेः 'छन्दसि लुङ्लङ्‌लिटः' 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इत्यड्भावः।)[5]

(5) " सिपि धातो रुर्वा " (8.2.74)

सिप् परे हो तो सकारान्त धातु पद को विकल्प से रु आदेश होता है। उदा. अचकास्त्वम्, अचकात्वम्। अचकास् अचकात् - अट् चकास् सिप् > अ चकास् स् > अ चकास् । चकास् सकारान्त धातु पद है अतः सकार को वैकल्पिक रुत्व प्राप्त होता है। रुत्व पक्ष में - अ चका रु ऐसी स्थिति बनी रुत्व को विसर्जनीय तथा विसर्जनीय को पुनः सकार हो अचकास् शब्द बना। रुत्व के अभाव में दकारादेश हो - अ चकाद् > अचकाद् > अचकात् शब्द बना।

(6) " दश्च " (8.2.75)

दकारान्त पद जो धातु उसको भी सिप् परे रहते विकल्प से रु होता है। सूत्रस्थ चकार बल से पक्ष में दकार भी होता है। उदा.- अभिनद्, अभिनस्, अच्छिनद् अच्छिनस्।

अभिनद् अभिनस् - अट् भिद् सिप् > अ भिद् सिप् > अ भि श्नम् द् सिप् > अ भिनद्। दकार को सूत्र द्वारा प्राप्त रु हो - अ भिन रु = अभिनस्=अभिनस्। रुत्वादेश के अभाव में दकार हो अभिनद् शब्द बनेगा। अच्छिनस् अच्छिनसद् - अट् छिद् सिप्> अ छि श्नम् द् सिप् > अच्छिनद्। रुत्व हो - अच्छिन रु > अच्छिनस् । रुत्व के अभाव में "अच्छिनद् " बनता है।

(7) " मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि " (8.3.1)

मत्वन्त तथा वस्वन्त पद को संहिता में सम्बुद्धि परे रहते वेद विषय में रु

आदेश होता है।

मतुप् प्रत्ययान्त – इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमम् । हरिवो मेदिनं त्वा।

वस्वन्त – मीढ्वस्तोकाय तनयाय इन्द्र साह्वः।

मरुत्व–मरुत् मतुप् > मरुत् वत् >मरुत् व न् त् > मरुत्वन् सु > मरुत्वन् स् > मरुत्वन्। मत्वन्त 'मरुत्वन् शब्द को आलोच्य सूत्र द्वारा 'रु' आदेश प्राप्त हुआ। 'अलोऽन्त्यस्य' नियम से यह आदेश अन्त्य नकार को प्रापत होता है। आदेश हो – मरुत्व रु; रु को यकार, यकार का लोप होकर मरुत्व शब्द बनता है।

हरिवो – हरि मतुप् सु > हरि वत् स् > हरि व न् त् > हरि वन् । वत्वन्त होने से रु अन्तादेश होकर – हरि व रु। रु को उत्व, वकारपरक अकार एवं उकार के स्थान पर गुण एकादेश – ओकार होकर 'हरिवो' शब्द बनता है।

मीढ्वस् – मिह् क्वसु सु > मीढ् वस्। वस्वन्त होने से सूत्र द्वारा रु अन्तादेश प्राप्त होता है। रु अन्तादेश होकर – मीढ्व रु । रु को विसर्जनीय, विसर्जनीय को सकारादेश होकर 'मीढ्वस्' शब्द बनेगा।

(8) " समः सुटि " (8.3.5)

सम् को रु होता है सुट् परे रहते संहिता विषय में।

सँस्कर्ता संस्कर्ता, सँस्सकर्ता संस्स्कर्ता। सँस्कर्तुम्, संस्स्कर्तुम्। सँस्कर्तव्यम् संस्स्कर्तव्यम्।

सँस्कर्ता, संस्स्कर्ता–– सम् सुट् कर्ता (कृ तृच) > सम् स् कर्ता। यहाँ सम् से परे सुट् का सकार है और उसे सूत्र द्वारा रु आदेश प्राप्त होता है। अतः आदेश होकर – स रु स् कर्ता – ऐसी दशा होती है। इसके पश्चात् रु से पूर्ववर्ती वर्ण को विकल्प से अनुनासिक प्राप्त होता है तब अनुनासिक पक्ष में रु को विसर्ग, विसर्ग को सकारादेश हो सँस् स्कर्ता = सँस्स्कर्ता तथा अनुनासिक के अभाव पक्ष में अनुस्वार आगम हो सं स् स्कर्ता = संस्स्कर्ता शब्द सिद्ध होता है। "समो वा लोपमेके – भाष्यवचन द्वारा सम् के मकार का विकल्प से लोप प्राप्त होता है। तब मकार लोप पक्ष में सं स् कर्ता तथा सँ स् कर्ता = संसकर्ता और सँस्कर्ता आदि रूप बनते हैं।

(9) " पुमः खय्यम्परे " (8.3.6)

अम् प्रत्याहार परे है जिससे ऐसे खय् प्रत्याहार के परे रहते पुम् को रु होता है संहिता विषय में।

उदा. पुँस्कोकिलः पुंस्कोकिलः । पुँस्पुत्रः पुंस्पुत्रः । पुँश्चरित्रम् पुंश्चरित्रम्। पुँस्कोकिलः पुंस्कोकिलः – पुम् – कोकिलः। यहाँ पुम् से परे खय् प्रत्याहार का वर्ण 'क्' है और उससे परे अम् प्रत्याहार का वर्ण ओकार है अतएव अम्परक खय् परे होने से पुम् को सूत्र द्वारा 'रु' आदेश प्राप्त हुआ। सूत्र में पुम् शब्द षष्ठ्यन्त निर्दिष्ट हुआ है अतः 'अलोऽन्त्यस्य" परिभाषा के बल से रु आदेश अन्त्य अल् मकार को ही होगा। अब आदेश हो – पु रु कोकिलः; ऐसी स्थिति हुई।

पश्चात् रु को विसर्ग, विसर्ग को सकार तथा पुं को वैकल्पिक अनुनासिक एवं पक्ष में अनुस्वार आदेश हो पुँ स् कोकिलः तथा पुं स् कोकिलः = पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः -- द्विविध रूप बने।
इसी भाँति चरित्रम् एवं पुत्रः शब्दों के अम्परक खय् प्रत्याहाराद्विवर्णवान् होने से पुम् के मकार को रुत्व होगा। रुत्व को विसर्ग, विसर्ग को सकार हो पु को अनुनासिक एवं अनुस्वार हो दो दो रूप बनेंगे।

(10) " नश्छव्यप्रशान् " (8.3.7)

प्रशान् को छोड़कर जो नकारान्त पद उसको अम् परक छव् परे रहते रु होता है, संहिता विषय में।
उदा. भवाँश्छादयति भवांश्छादयति। भवाँश्चिनोति भवांश्चिनोति।
बुद्धिमाँश्छात्रः,
बुद्धिमांश्छात्रः। भवाँश्छादयति, भवांश्छादयति--भवान् छादयति। छादयति का आदि - वर्ण छकार छव् प्रत्याहार का वर्ण है जिससे परे अम् आकार है अतः नकारान्त पद को रु अन्तादेश हो - भवा रु छादयति = भवाँश्छादयति, भवांश्छादयति - ये दो रूप बने।
प्रशान् को रुत्वादेश का प्रतिषेध होने से 'प्रशान्तनोति' - इस प्रयोग में रुत्व नहीं हुआ।

(11) " उभयथर्क्षु " (8.3.8)

अम्परक छव् परे हो तो नकारान्त पद को दोनों ही होता है अर्थात् या तो रु होता है अथवा नकार; यदि पद ऋचाओं का हो तो।
उदा. - तस्मिंस्त्वा दधाति अथवा तस्मिन्त्वा दधाति। तस्मिंस्त्वा अथवा तस्मिंत्वा --- तस्मिन्+त्वा ऋचा के इस पद को अम् (वकार) परक छव् तकार परे रहते रु अन्तादेश हो - तस्मि रु त्वा > तस्मिं स् त्वा = तस्मिंस्त्वा प्रयोग सिद्ध होता है और तस्मिंन्त्वा - तस्मिन् त्वा > तस्मिंन् त्वा = तस्मिंन्त्वा, इस प्रकार नकार को नकार पक्ष में प्रयोग सिद्ध होता है।

(12) " दीर्घादटि समानपादे " (8.3.9)

दीर्घ से उत्तर नकारान्त पद को अट् परे रहते पादबद्ध मन्त्रों में रु होता है, यदि निमित्त तथा निमित्ति दोनों एक ही पाद में हों तो।
उदा.- परिधीं इति। देवां अच्छादीव्यत्। महाँ इन्द्रो य ओजसा।
परिधीं - यहाँ परिधीन्+इति इस शब्द में दीर्घ इकार से परे नकार है, यह नकारान्त पद है और पद के परे अट् इकार है अतः नकार को रु होकर ---- परिधी रु इति ऐसी दशा हुई। रु को यकार, यकार का लोप एवं रु से पूर्व को अनुस्वार हो' परिधीं' शब्द बना। महाँ इन्द्रो, देवां अच्छादीव्यत् - इन प्रयोगों में भी दीर्घ से पर एवं अट् से पूर्व नकार को रुत्व हुआ है।

(13) " नॄन्पे " (8.3.10)

नॄन् - इस शब्द के नकार को रु होता है, 'प' परे रहते।
उदा. --- नॄंः पाहि। नॄँः पाहि। नॄँः प्रीणीहि। नॄंः प्रीणीहि।

नृंः पाहि। – नृन् पाहि। पाहि शब्द पकारादि है अतः पकार परे रहते नृन् के नकार को रुत्व हो – नृ रु पाहि ऐसी दशा हुई। रु को विसर्ग, नृ को अनुनासिक हो 'नॄँः पाहि' प्रयोग सिद्ध हुआ।
नृंः पाहि---- नृन् के नकार को पकार परे होने से सूत्र द्वारा रु आदेश हुआ----नृ रु पाहि। रु को विसर्जनीय एवं नृ को अनुस्वार आगम हो प्रयोग सिद्ध होता है।

(14) " स्वतवान्पायौ " (8.3.11)

'स्वतवान्' – इस शब्द के नकार को रु आदेश होता है, पायु शब्द परे हो तो।
उदा.– स्वतवाँः पायुरग्ने।
स्वतवाँः पायुः– स्वतवान्+पायुः। सूत्र विहित रु आदेश हो---
स्वतवा रु पायुः > स्वतवाँः पायुः शब्द बनता है।

(15) " कानाम्रेडिते " (8.3.12)

कान् शब्द के नकार को रु होता है, आम्रेडित परे रहते। उदा. कांस्कानामन्त्रयते। कांस्कान्भोजयति।
कांस्कान् – कान् कान् (किम् शस्> क अस् > कास् > कान्, वीप्सा अर्थ में द्वित्व); यहाँ 'तस्यपरमाम्रेडितं' से द्वितीय कान् की आम्रेडित संज्ञा होती है। अब आम्रेडित परे होने से (पूर्ववर्ती) कान् के नकार को सूत्र द्वारा रुत्वादेश विहित होता है। रुत्व हो---- का रु कान् > कां स् कान् = कांस्कान् शब्द सिद्ध होता है।

सन्दर्भ–सूची

(1) "भुवः इत्येतदव्ययमन्तरिक्षवाचि महाव्याहृतिः"– सूत्र की काशिका वृत्तिः।
(2) द्र. काशिका की पदमंजरी टीका। (तिस्रो महाव्याहृतयः)
(3) सूत्र की न्यास टीका।
(4) सूत्र की पदमंजरी टीका।

संत्व-प्रकरण

(1) " विसर्जनीयस्य सः " (8.3.34)

खर् परे रहते विसर्जनीय को सकार आदेश होता है।
उदा.- वृक्षश्छादयति। प्लक्षश्छादयति। वृक्षष्ठकारः।
वृक्षश्छादयति - वृक्षः छादयति। यहाँ विसर्ग से परे खर् छकार है अतएव सूत्र द्वारा इसे सकारादेश प्राप्त होता है।सकारादेश हो - वृक्ष स् छादयतिः ऐसी स्थिति हुई। अब स् को श्चुत्व शकार हो "वृक्षश्छादयति" शब्द बना।

(2) " सोऽपदादौ " (8.3.38)

अपदादि कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को सकारादेश होता है।
उदा. - पयस्पाशम्, यशस्कल्पम्, पयस्कम् यशस्काम्यति आदि।
पयस्पाशम् - पयः पाशप् सु > पयः पाश अम्। पयः के विसर्ग को सूत्र के द्वारा सकारादेश प्राप्त होता है क्योंकि इससे परे पकार है। विसर्ग को स्त्व हो - पय स् पाशम् = पयस्पाशम् शब्द सिद्ध होता है।
यशस्कल्पम् - यशः कल्पप् सु > यशः कल्पम्। विसर्ग को सकार हो - यशस्कल्पम्।
यशस्काम्यति - यशः काम्यच् । सकार हो यशस्काम्य। तिप् प्रत्यय हो यशस्काम्यति।

(3) " नमस्पुरसोर्गत्योः " (8.3.40)

नमस् तथा पुरस् गतिसंज्ञक शब्दों के विसर्जनीय को सकारादेश होता है, कवर्ग, पवर्ग परे रहते।
उदा.-नमस्कर्ता; नमस्कर्तुम्, नमस्कर्तव्यम् नमस्कर्ता - नमः कर्ता (कृ तृच > कर्तृ सु = कर्ता) नमस् के विसर्ग को सूत्रविहित सकार होगा क्योंकि इससे परे ककार है - नम स् कर्ता = नमस्कर्ता।

(4) " तिरसोऽन्यतरस्याम् " (8.3.42)

तिरस् के विसर्जनीय को विकल्प से सकारादेश होता है; कवर्ग, पवर्ग परे रहते।
उदा.- तिरः कर्ता, तिरस्कर्ता। तिरः कर्तव्यम् तिरस्कर्तव्यम्।
तिरः कर्ता, तिरस्कर्ता -- तिरस् कर्ता > तिरः कर्ता। विसर्ग को सकार होकर - तिरस्कर्ता । आदेश - विधान वैकल्पिक है अतः आदेश के अभाव में 'तिरः कर्ता' रूप ही रहेगा।

(5) " अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य " (8.3.46)

अकार से उत्तर समास में जो अनुत्तरपदस्थ अनव्यय का विसर्जनीय उसको (नित्य ही) सकारादेश होता है- कृ, कमि, कंस, कुम्भ पात्र, कुशा, कर्णी, इन शब्दों के परे रहते। उदाहरण-
कृ --- अयस्कारः।
कमि - अयस्कामः।
कंस -- अयस्कंसः।

कुम्भ -- पयस्कुम्भः।
पात्र -- पयस्पात्रम्।
कुशा -- अयस्कुशा।
कर्णी -- पयस्कर्णी।

अयस्कारः -- अयः कार (अयः कृ अण्)। विसर्ग कोसकार आदेश होकर - अय स् कार अयस्कार, अयस्कार सु = अयस्कारः।

पयस्कुम्भः - पयः कुम्भ सु'। पयः के विसर्ग को आलोच्य सूत्र द्वारा सकारादेश होगा क्योंकि पयः के विसर्ग के पूर्व अवर्ण है तथा शब्द से परे 'कुम्भ' शब्द है। आदेश हो- पय स् कुम्भ सु = पयस्कुम्भः शब्द बनता है।

(6) **" अधः शिरसी पदे " (8.3.47)**

समास में अनुत्तरपदस्थ अधस् तथा शिरस् के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है, पद शब्द परे रहते।

उदा. -अधस्पदम्, शिरस्पदम्।

अधस्पदम्-- अधः और पद इन दोनों का समास होने पर विभक्ति लोप हो 'अधः पद' ऐसी दशा हुई। अब उपर्युक्त सूत्र द्वारा अधः के विसर्ग को सकारादेश प्राप्त हुआ। सकारादेश हो - अध स् पद > अधस्पद शब्द बना। स्वादिकार्य हो 'अधस्पदम्' रूप बना।

शिरस्पदम् - शिर पद। विसर्ग को सकार हो - शिर स् पद = शिरस्पद सुः शिरस्पदम् शब्द बना।

(7) **" छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः " (8.3.49)**

प्र तथा आम्रेडित को छोड़कर कवर्ग तथा पवर्ग परे हो तो वेद विषय में विसर्जनीय को विकल्प से सकारादेश होता है।

उदा. अयः पात्रम्, अयस्पात्रम्। विश्वतः पात्रम् - विश्वतस्पात्रम्। उरुणः कारः, उरुणस्कारः।

अयः पात्रम्, अयस्पात्रम् - अयः पात्रम् यहाँ विसर्ग से परे पवर्ग का पकार है अतः वैदिक संस्कृत में शब्द के विसर्ग को विकल्प से सकारादेश प्राप्त होता है। सकार आदेश पक्ष में - अय स् पात्रम् = अयस्पात्रम् तथा आदेश के अभाव पक्ष में विसर्ग को विसर्ग होकर अयःपात्रम् ये दो रूप बनते हैं। उरुणःकारः उरुणस्कारः - उरु अस्मद् कारः (कृ अण् = कार) > उरु नस् कार > उरु णस् कार > उरुणः कार। यहाँ नः (नस्) के विसर्ग को, कवर्ग का वर्ण ककार परे होने से सूत्र द्वारा वैकल्पिक सकारादेश प्राप्त हुआ। आदेश पक्ष में - उरु णस् कार > उरुणसकार सु = उरुणस्कारः तथा अभाव में उरुणः कार सु = उरुणः कारः - शब्दद्वय सिद्ध हुए।

(8) **" कः करत्करति कृधिकृतेष्वनदितेः " (8.3.50)**

कः, करत्, करति, कृधि, कृत - इनके परे रहते अदिति को छोड़कर जो विसर्जनीय उसको सकारादेश होता है वेद विषय में। उदा. -

कः - विश्वतस्कः।

करत – विश्वतस्करत् ।
करति – पयस्करति ।
कृधि – उरुणस्कृधि ।
कृत – सदस्कृतम् ।
विश्वतस्कः – विश्वतः कः (कृम् लङ्.) कः परे होने से विश्वतः के विसर्ग को सकार आदेश होकर – विश्वत स् कः = विश्तस्कः ।
विश्वतस्करत् – विश्वतः करत् (कृत लङ्.) ।
विसर्ग को सकारादेश हो – विश्वत स् करत् = विश्वतस्करत् ।
पयस्करति – पयः करति (कृ लट्) > पय स् करति = पयस्करति ।
उरुणस्कृधि – उरु णः (अस्मद् > नस् > णस् > णः) कृधि । उरुणः के विसर्ग को कृधि परे रहने से विसर्ग होकर उरु णस् कृधि = उरुणस्कृधि ।
सदस्कृतम् – सदः कृतम् (कृ क्त > कृत स् =कृतम्) । कृत परे रहते सदः के विसर्ग को सकारादेश प्राप्त होता है । आदेश होकर– सद स् कृतम् = सदस्कृतम् शब्द सिद्ध होता है ।
यदि इन शब्दों से पूर्व अदितिः शब्द होगा तो विसर्ग को सकारादेश नहीं होगा । यथा – यथा नो अदितिः करत् ।

(9) " पञ्चम्याः परावध्यर्थे " (8.3.51)
पंचमी के विसर्ग को वेद विषय में सकारादेश होता है यदिवह अधि उपसर्ग के अर्थ में वर्तमान परि उपसर्ग से परे हो तो ।
उदा.– दिवस्परि प्रथमं जज्ञे । अग्निर्हिमवतस्परि ।
दिवस्परि – दिव् (द्यु ङ.सि) परि । यहाँ परि 'अधि' के अर्थ में हुआ है । 'अधि' अर्थात् 'उपरि' । अतएव अधि (उपरि)– इस अर्थ में विद्यमान परि से पूर्व जो विसर्ग उसे सकार होकर – दिव स् परि = दिवस्परि शब्द बना ।
हिमवतस्परि – हिमवतः परि । यहाँ 'हिमवतः उपरि' अर्थ में 'अधि' के अर्थ में परि उपसर्ग का प्रयोग हुआ है इससे सूत्र द्वारा परि पूर्ववर्ती विसर्ग को सकारादेश हो–हिमवत स् परि=हिमवतस्परि शब्द बनता है ।

(10) " पातौ च बहुलम् " (8.3.52)
पा धातु के प्रयोग परे हों तो भी पंचमी के विसर्जनीय को बहुल करके सकारादेश होता है, वेद विषय में ।
उदा. दिवस्पातु, राज्ञस्पातु ।
दिवस्पातु – दिवः (द्यु ङ.सि) पातु (पा लोट् > पा तिप् > पा शप् तिप् > पाति >) । दिवः के विसर्ग को सकारादेश होकर– दिव स् पातु = दिवस्पातु ।
राज्ञस्पातु – राज्ञः (राजन् ङ.सि) पातु । विसर्ग को सकारादेश हो – राज्ञ स् पातु = राज्ञस्पातु ।

(11) " षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु " (8.3.53)
षष्ठी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है पति, पुत्र, पृष्ठ, पार,

पद, पयस्, पोष - इन शब्दों के परे रहते वेद विषय में।

उदा. पति- वाचस्पतिं। वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये।

पुत्र- दिवस्पुत्राय। दिवस्पुत्राय सूर्याय।

पृष्ठ- दिवस्पृष्ठे। दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णम्।

पार- तमसस्पारम्। अगन्म तमसस्पारम्।

पद- इडस्पदे। इडस्पदे समिध्यसे।

पयस- चक्षुर्दिवस्पयः। सूर्यं चक्षुर्दिवस्पयः।

पोष- रायस्पोषम्। रायस्पोषम् यजमानेषु धतम्।

वाचस्पतिम्- वाचः (वाक् ङ.स्) पतिम्। विसर्ग को सकार हो- वाच स् पतिम्= वाचस्पतिं।

दिवस्पयः- दिवः पयः। दिवः षष्ठ्यन्त पद है इसके विसर्ग को सकारादेश हो 'दिवस्पयः' बना।

(12) " इडाया वा " (8.3.54)

इडा शब्द के षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को विकल्प से सकार आदेश होता है पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् पोष शब्दों के परे रहते वेद के विषय में।

उदा.- इडायास्पतिः, इडायाः पतिः। इडायाः पुत्रः, इडायास्पुत्रः। इडायास्पृष्ठम्, इडायाः पृष्ठम्। इडायास्पारम्, इडायाः पारम्। इडायास्पदम्, इडायाः पदम्। इडायास्पयः, इडायाः पयः। इडायास्पोषम्, इडायाः पोषम्।

इडायास्पतिः - इडायाः पतिः। 'इडायाः' इस षष्ठ्यन्त पद के विसर्जनीय को प्रकृत सूत्र से सकारादेश प्राप्त हुआ। आदेश होकर - इडाया स् पतिः= इडायास्पतिः।

" षत्व एवं मूर्धन्यादेश प्रकरण "

(1) **" व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः " (8.2.36)**

ओव्रश्चू, भ्रस्ज, सृज, मृजूष, यज, राजृ, टुभ्राजृ – इन धातुओं को तथा छकारान्त एवं शकारान्त धातुओं को भी झल् परे रहते एवं पदान्त में षकारादेश होता है। उदा.–

व्रश्च– व्रष्टा, व्रष्टुम्, व्रष्टव्यम्।

भ्रस्ज– भ्रष्टा, भ्रष्टुम्, भ्रष्टव्यम्।

सृज्– स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम्।

मृज्– मार्ष्टा, मार्ष्टुम्, मार्ष्टव्यम्।

यज्– यष्टा, यष्टुम्, यष्टव्यम्।

राज्– सम्राट्, स्वराट्, विराट्।

व्रष्टा– व्रश्च् तृच् > व्रस्च् तृ > व्रच् तृ। च् को षकार आदेश हो – व्रष् तृ। प्रथमा एकवचन में व्रष्टा शब्द बना।

अथवा: – व्रश्च् लुट् > व्रश्च् तिप् > व्रश्च् डा > व्रश्च् तास् डा > व्रश्च् ता > व्रच ता > चकार को उपर्युक्त सू. से षकार हो – व्रष् ता = व्रष्टा।

भ्रष्टा – भ्रस्ज् तास् डा > भ्रज ता > धातु को षकार अन्तादेश हो भ्रष् ता = भ्रष्टा।

यष्टुम् – यज् तुमुन् – यज् तुम् > धातु को अलोन्त्य सूत्र द्वारा षकार अन्तादेश होकर – यष् तुम् > यष्टुम्।

(2) **" इणः षः " (8.3.39)**

इण् से उत्तर विसर्जनीय को षकारादेश होता है, अपदादि कवर्ग, पवर्ग के परे रहते।

उदा. सर्पिष्पाशम्, यजुष्पाशम्, यजुष्कम्, सर्पिष्काम्यति, यजुष्काम्यति।

सर्पिष्पाशम् – सर्पिः पाश सु । इस उदाहरण में इण् इकार से परे विसर्ग है और उससे परे पवर्ग का पकार है अतः उपर्युक्त सूत्र द्वारा विसर्ग को षत्व हो सर्पि ष् पाशम्= सर्पिष्पाशम् रूप बना।

सर्पिष्कम् – सर्पिः क सु। विसर्ग को षत्व हो – सर्पि ष् क अम् = सर्पिष्कम्।

(3) **" इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य " (8.3.41)**

इकार और उकार उपधा में है जिसके ऐसे प्रत्ययभिन्न विसर्जनीय को भी षकार आदेश होता है; कवर्ग, पवर्ग परे रहते।

उदा. – निष्कृतम्, निष्पीतम्, दुष्कृतम्, दुष्पीतम्, चतुष्कपालम्।

निष्कृतम् – निस् कृतम्। सकार को रुत्व – विसर्ग हो – निः कृतम्। निः का विसर्ग प्रत्ययसंबंधी विसर्ग नहीं है तथा विसर्ग से परे कवर्गादि कृतम् शब्द है अतः सूत्र द्वारा विसर्ग को षकारादेश हो– निष् कृतम् = निष्कृतम्।

दुष्पीतम् – दुः पीतम्। पवर्ग परे रहते दुःविसर्ग को षकार हो – दुष्

पीतम्।

चतुष्कपालम् – चतुः कपालम्। सूत्रविहित षकारादेश होकर- चतुष् कपालम् = चतुष्कपालम्।

(4) " द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे " (8.3.43)

कृत्वसुच् के अर्थ में वर्तमान द्विस्, त्रिस् तथा चतुर् इनके विसर्जनीय को षकारादेश विकल्प करके होता है; कवर्ग, पवर्ग परे रहते। उदा.- द्विष्करोति, द्विः करोति। त्रिष्करोति, त्रिः करोति। चतुष्करोति, चतुः करोति। द्विष्पचति, द्विः पचति। त्रिष्पचति, त्रिः पचति। चतुष्पचति, चतुः पचति।

द्विष्करोति, द्विः करोति – द्विस् करोति> द्विः करोति। विसर्ग को वैकल्पिक षत्व प्राप्त होने पर षत्वादेश पक्ष में- द्विष् करोति तथा षत्वाभाव पक्ष में द्विः करोति।

चतुष्पचति, चतुःपचति – चतुर् पचति>चतुः पचति। वैकल्पिक षत्व प्राप्त होने पर षत्व पक्ष में चतुष् पचति तथा षत्वाभावपक्ष में चतुः पचति।

(5) " इसुसोः सामर्थ्ये " (8.3.44)

इस् तथा उस् के विसर्जनीय को विकल्प से षकारादेश होता है सामर्थ्य होने पर -कवर्ग पवर्ग परे रहते।

उदा.- सर्पिःकरोति, सर्पिष् करोति। यजुः-करोति, यजुष्करोति।

सर्पिष्करोति, सर्पि: करोति – सर्पिः(सृप् इस्) करोति। सूत्र द्वारा विसर्ग को वैकल्पिक षत्व हो-सर्पिष् करोति=सर्पिष्करोति। षत्वाभाव पक्ष में सर्पिः करोति।

यजुष्करोति, यजुःकरोति – यजुस् (यज् उस्) करोति >यजुः करोति। वैकल्पिक षत्व प्राप्त होने पर षत्व पक्ष में यजुष्करोति तथा षत्व के अभाव पक्ष में यजुः करोति शब्द बने।

(6) " नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य " (8.3.45)

अनुत्तरपदस्थ इस् उस् के विसर्जनीय को समासविषय में नित्य ही षत्व होता है; कवर्ग, पवर्ग परे रहते।

उदा. सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, सर्पिष्पानम्, धनुष्फलम्।

सर्पिष्कुण्डिका – सर्पिः कुण्डिका। सर्पिः (सर्पिस्-सृप् इस्) शब्द इस् प्रत्ययान्त है तथा सर्पिः के परे ककारादि कुण्डिका शब्द है अतः विसर्ग को नित्य षत्व हो – 'सर्पिष्कुण्डिका' शब्द बनेगा।

सर्पिष्पानम्- सर्पिः पानम्। विसर्ग को सूत्रविहित षत्वादेश होकर- 'सर्पिष्पानम्'।

धनुष्फलम् – धनुः फलम्। धनुः शब्द उस् प्रत्ययान्त है इससे परे पवर्ग का फकार है अतः आलोच्य सूत्र द्वारा विसर्ग को षत्व होगा – धनुष् फलम्= धनुष्फलम्।

(7) " कस्कादिषु च " (8.3.48)

कस्कादिगणपठित शब्दों के विसर्जनीय को भी सकार अथवा षकार आदेश यथायोग से होता है; कवर्ग, पवर्ग परे रहते।

उदा. कस्कः, कौतस्कुतः, भ्रातुष्पुत्रः, शुनस्कर्णः, सद्यस्कालः, सद्यस्कीः, साद्यस्कः, कांस्कान्, सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, बर्हिष्पालम्, यजुष्पात्रम्, अयस्कान्तः, तमस्काण्डः, अयस्कांडः, मेदस्पिण्डः, भास्करः, अहस्करः आदि।

कस्कः- कः कः। विसर्ग को सकार हो कस् कः = कस्कः
कौतस्कुत - किम् तसिल् > कु तस् > कुतः कुतः अण् > कौतः कुतः अ > कौतः कुत् अ = कौतः कुत। विसर्ग को सकार हो कौतस्कुतः। स्वादिकार्य हो कौतस्कुतः।

भ्रातुष्पुत्रः- भ्रातुः पुत्रः। विसर्ग को षकार आदेश होने पर - भ्रातुष् पुत्रः=भ्रातुष्पुत्रः। भास्करः- भाः करः। विसर्ग को सत्व हो भास्करः।

(8) " सहेः साडः सः " (8.3.56)

सह् धातु का बना हुआ जो साड् रूप उसके सकार को मूर्धन्य आदेश होता है। उदा. जलाषाट् तुराषाट् पृतनाषाट् आदि।

जलाषाट् - जल सह् ण्वि > जल सह् > जल साह् > जल साढ् > जल साड्। सह् धातु से बने हुए साड् रूप (उपधा दीर्घ एवं हकार को ढत्व उसे जश् डकार हो गया है) के सकार को मूर्धन्य आदेश हो-जल षाड्। दीर्घ एवं डकार को ष्टुत्व-टकार हो 'जलाषाट्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

(9) " नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि " (8.3.58)

नुम् विसर्जनीय तथा शर् का व्यवधान होने पर भी इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को मूर्धन्य आदेश होता है। नुम्व्यवाय में - सर्पींषि, यजूंषि, हवींषि। विसर्जनीय व्यवधान में - सर्पिःषु, यजुः षु, हविः षु। शर् व्यवाय में - सर्पिष्षु, यजुष्षु, हविष्षु। यजूंसि - यजुस् जस् > यजुस् शि > यजु नुम् स् शि > यजू न् सि > यजूं सि। इण् उकार से परे नुम् से व्यवहित सकार को प्रकृत सूत्र से मूर्धन्यादेश हो - यजूं षि = यजूंषि। सर्पींषि - सर्पिस् जस् > सर्पि न् स् शि > सर्पीन् सि > सर्पीं सि। षत्व हो - सर्पीं षि = सर्पींषि।

हविःषु - हविस् सुप्> हविस् सु "वा शरि" से वैकल्पिक विसर्जनीय पक्ष में हविः सु। विसर्जनीय का व्यवाय होने से प्रकृत सूत्र द्वारा मूर्धन्यादेश होकर - हविः षु = हविःषु।

हविष्षु - हविस् सुप् > हविस् सु। हविस् का सकार शर् प्रत्याहार में आता है। अतः शर् का व्यवधान होने से यहाँ मूर्धन्यादेश होगा-हविस् षु प्रातिपादिक के सकार को ष्टुत्व षकार हो हविष्षु' शब्द सिद्ध हुआ।

(10) " आदेशप्रत्यययोः " (8.3.59)

इण् तथा कवर्ग से उत्तर आदेश रूप जो सकार तथा प्रत्यय का जो सकार उसे मूर्धन्यादेश होता है।

उदा. रामेषु, हरिषु, सिषेव, सुष्वाप। रामेषु - रामे सु। यहाँ इण्

एकार से परे प्रत्यय का अवयव सकार है आलोच्य सूत्र द्वारा इसे मूर्धन्यादेश होकर – रामेषु = रामेषु ।

हरिषु – हरि सु । इण् इकार से परे प्रत्यय के अवयव सकार को मूर्धन्यादेश हो – हरिषु । सिषेव, सुष्वाप – सेव् एवं स्वप– ये धातुएँ षोपदेश हैं और "धात्वादेः षः सः" सूत्र द्वारा इन्हें षत्वादेश उपदेशावस्था में ही हुआ है। अतः सेव णल्, स्वप् णल् > सि सेव, सु स्वाप्– इस दशा में आदेश रूप सकार को मूर्धन्यादेश प्राप्त हुआ । तब धातु के आदेशरूप सकार को मूर्धन्यादेश होकर – सिषेव, सुष्वाप इत्यादि प्रयोग निष्पन्न हुए ।

(11) " शासिवसिघसीनां च " (8.3.60)

इण् तथा कवर्ग से उत्तर शास्, वस् तथा घस् के सकार को भी मूर्धन्य आदेश होता है ।

उदा. अन्वशिषत्, शिष्टः – शास् ।

उषितः, उषित्वा, उषितवान् – वस् ।

जक्षतुः, जक्षुः– घस् ।

अन्वशिषत् – अनुशास् लङ् > अनु अट् शिस् अङ् त् > अन्वशिस् अत् । सकार से पूर्व इण् इकार है अतः सकार को मूर्धन्य आदेश हो – अन्वशिष् अत् = अन्वशिषत् ।

शिष्टः – शास् क्त > शिस् त । सकार को मूर्धन्य षकार हो– शिष् त । ष्टुत्व हो प्रथमा एकवचन में शिष्टः रूप सिद्ध हुआ ।

उषित्वा – वस् क्त्वा > उस् इट् त्वा > उसित्वा । वस् के सकार को इण् परक होने से मूर्धन्य आदेश होकर – उषित्वा ।

जक्षतुः – घस् अतुस् > ज क् स् अ तुस् ककार से उत्तर सकार को मूर्धन्य हो – ज क् ष् अतुस् = जक्षतुः ।

(12) " स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात् " (8.3.61)

अभ्यास के इण् से उत्तर स्तु तथा ण्यन्त धातुओं के आदेश सकार को ही षत्व-भूत सन् परे रहते मूर्धन्य आदेश होता है ।

उदा. तुष्टूषति, सिषेचयिषति आदि । तुष्टूषति– स्तु सन् तिप् > तु स्तू स ति > तु ष्टू ष ति । स्तु का सकार अभ्यास के इण् – उकार से परे है अतः उसे मूर्धन्यादेश होकर – तु ष्टू ष ति = तुष्टूषति ।

सिषेचयिषति– सि सेच् णिच् इट् सन् तिप् > सि सेच् ए इ स ति > सि सेच् अय् इ ष ति> सि सेच् अयिषति । सेच् धातु का सकार आदेशरूप है क्योंकि उपदेशावस्था में यह षकारादि थी और षकार को 'आदेशप्रत्यययोः' सू. से सत्वादेश हो– सेच् ऐसा रूप बना है। इस अवस्था में षत्वभूत सन् परे रहते अभ्यास के इण् से उत्तरवर्ती सकार को षत्व हो – सि षेचयिषति = सिषेचयिषति शब्द सिद्ध हुआ ।

(13) " सः स्विदिस्वदिसहीनां च " (8.3.62)

अभ्यास के इण् से उत्तर ञिष्विदा, स्वद तथा षह – इन ण्यन्त धातुओं के सकार को सकारादेश होता है षत्वभूत सन् के परे रहते भी ।

उदा. सिस्वेदयिषति, सिस्वादयिषति, सिसाहयिषति।

सिस्वेदयिषति – स्विदि णिच् इट् सन् तिप्> सि स्वेदे इ स ति > सि स्वेद य् इ स ति > सि स्वेद यि ष ति। यहाँ स्विदि धातु षोपदेश है और इसका सकार आदेशरूप है। धातु के सकार के पूर्व अभ्यास का इण् इकार है। धातु से परे षत्वभूत सन् है तथा धातु ण्यन्त है अतः पूर्ववर्ती सूत्र "स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात्" से धातु के सकार को षत्व प्राप्त था जिसका आलोच्य सूत्र द्वारा बाध हो गया एवं सकार को सकारादेश विहित हो सिस्वेदयिषति शब्द सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार सिस्वादयिषति एवं सि साहयिषति में भी षोपदेश, षकारभूत सन् परे रहते, ण्यन्त, अभ्यास के इण् से उत्तर स्वदि एवं सहि धातुओं के सकार को प्राप्त षत्व का बाध होकर सकारादेश हो 'सिस्वादयिषति' एवं 'सिसाहयिषति' इत्यादि रूप सिद्ध हुए।

(14) " प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि " (8.3.63)

सित शब्द से पहले अट् का व्यवधान होने पर तथा न होने पर भी सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।

उदा. न्यषेधत्। निषुणोति।

न्यषेधत्–नि सिध् लङ्.> नि अट् सेध् अ त्> न्यसेधत्। यहाँ इण् उपसर्ग से परे सिध् धातु का सकार है जो अट् आगम द्वारा व्यवहित है अतः प्रकृत सूत्र द्वारा अट् से व्यवहित होने पर भी मूर्धन्यादेश होगा – न्यषेधत्।

निषुणोति – नि सु श्नु तिप्>नि सु नो ति >नि सुनोति। उपसर्ग के इण् से परे धातु के सकार को अट् का व्यवधान न होने पर भी उपर्युक्त सूत्र द्वारा मूर्धन्यादेश होकर – नि षु नो ति= निषुणोति।

सूत्रस्थ 'प्राक्सितात्' से तात्पर्य है इस सूत्र से लेकर "परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्" (8.3.70) सूत्र के सेव शब्द तक के जो विभिन्न सूत्रों में उपदिष्ट शब्द उनके सकार को अट् आगम से व्यवहित होने पर तथा न होने पर भी मूर्धन्यादेश होगा।

(15) " स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य " (8.3.64)

सित् से पहले जो स्था इत्यादि धातुएँ उनमें अभ्यास का व्यवधान होने पर भी उनको मूर्धन्यादेश होता है तथा अभ्यास को भी मूर्धन्य होता है। अर्थात्"उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम्" 8.3.65 सूत्र के स्था से लेकर "परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तु-स्वञ्जाम्" 8.3.60 सूत्र के सित पर्यन्त जो धातुएँ हैं उनको अभ्यास का व्यवधान होते हुए भी मूर्धन्यादेश होता है तथा अभ्यास के सकार को भी मूर्धन्य होता है।

उदा.– परितष्ठौ अभितष्ठौ, अभिषिषिक्षति।

परितष्ठौ– परि स्था णल् > परि स्था औ > परि त स्थौ > परि तस्थौ। सूत्र द्वारा धातु के सकार को अभ्यास त के द्वारा व्यवहित होते हुए भी मूर्धन्य होकर– परि तष्थौ। ष्टुत्व हो 'परितष्ठौ' प्रयोग सिद्ध

होगा।

अभितष्ठौ– अभि स्था णल् > अभि स्था औ > अभि तस्थौ। धातु के सकार को मूर्धन्य हो– अभि तष्थौ > अभितष्ठौ।

अभिषिषिक्षति– अभि सिच् सन् तिप् > अभि सि सिच् स ति > अभि सि सिक् ष ति > अभि सि सिक्षति। आलोच्य सूत्र द्वारा अभ्यास एवं धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश हो–अभि षि षिक्षति = अभिषिषिक्षति।

(16) "उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम्।" (8.3.65)

उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर सुनोति, सुवति, स्यति, स्तौति, स्तोभति, स्था, सेनय, सेध, सिच्सञ्ज, स्वञ्ज, इनके सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।

उदा.– परिषुणोति, परिषुवति, परिष्यति, परिष्टौति, परिष्टोभति, परिष्ठास्यति, परिषेणयति, परिषेधति, परिषिन्चति, परिषजति, परिष्वजते इत्यादि।

परिषुणोति – परि सु श्नु तिप् > परि सु नो ति। उपसर्ग के इण् इकार से परे षोपदेश सु को आलोच्य सूत्र द्वारा मूर्धन्य हो–परि षुनोति। णत्व हो परिषुणोति शब्द सिद्ध हुआ। परिष्ठास्यति – परि स्था स्य तिप्। इण् से परे स्था के सकार को मूर्धन्य हो – परि ष्था स्य ति। ष्टुत्व हो अभीष्ट शब्द सिद्ध होगा।

परिषेणयति – परि सेनय ति। मूर्धन्यादेश हो परि षेनय ति> परिषेणयति।

परिषिन्चति – परि सि नुम् च् अ तिप् > परि सिन्च् अ ति। मूर्धन्यादेश होकर परि षिन्चति = परिषिन्चति।

परिषजति – परि सञ्ज् शप् तिप् > परि सज ति। मूर्धन्यादेश होकर – परि षज ति = परिषजति।

(17) " सदिरप्रतेः " (8.3.66)

प्रतिभिन्न उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर षद्लृ धातु के सकार को मूर्धन्यादेश होता है।

उदा.– निषीदति, विषीदति इत्यादि।

निषीदति – नि सद् तिप् > नि सीद ति नि उपसर्ग इकारान्त है अतः धातु के सकार को मूर्धन्यादेश हो– नि षीद ति=निषीदति

विषीदति – वि सीद ति। धातु के सकार को मूर्धन्यादेश होकर – विषीदति।

"स्तन्भेः "(8.3.67)

उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर स्तन्भु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है अट् के व्यवाय एवं अभ्यास व्यवाय में भी।

उदा. अभिष्टभ्नाति, अभ्यष्टभ्नात्, अभितष्टम्भ।

अभिष्टभ्नाति – अभि स्तम्भ् श्ना तिप् > अभि स्तभ् ना ति। स्तम्भ को सूत्र विहित मूर्धन्यादेश हो–अभि ष्टभ् ना ति = अभिष्टभ्नाति।

अभ्यष्टभ्नात् - अभि अट् स्तम्भ् श्ना त् > अभि अ स्तम्भ् नात्। उपसर्ग के इण् से परे स्तम्भ् के सकार को अट् का व्यवधान होते हुए भी मूर्धन्यादेश हो - अभि अ ष्तम्भ् ना त् = अभ्यष्टभ्नात् प्रयोग सिद्ध हुआ।
अभितष्टम्भ् - अभि स्तम्भ् णल् > अभि त स्तम्भ् अ > अभितस्तम्भ। अभ्यास व्यवाय होते हुए भी सकार को मूर्धन्यादेश होकर- अभितष्तम्भ > अभितष्टम्भ।

(18) " अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः " (8.3.68)

अव उपसर्ग से उत्तर भी स्तम्भु के सकार को आलम्बन तथा आविदूर्य अर्थ में मूर्धन्यादेश होता है।
उदा. आलम्बन अर्थ में- अवष्टभ्य आस्ते। अवष्टभ्य तिष्ठति। आविदूर्य अर्थ में - अवष्टब्धा सेना। अवष्टब्धा शरत्। आदि।
अवष्टभ्य - अव स्तम्भ् ल्यप् > अव स्तभ् य। धातु के सकार को मूर्धन्य हो अव ष्तभ् य = अवष्टभ्य।
अवष्टब्धा - अव स्तम्भ् क्त टाप् > अव स्तब्धा। सकार को मूर्धन्य हो अवष्तब्धा। ष्टुत्व हो अवष्टब्धा शब्द सिद्ध हुआ। आलम्बन अर्थात् 'अवलम्ब' या 'सहारा लेना तथा आविदूर्य अर्थात् 'सन्निकट होना' इन्हीं अर्थों में मूर्धन्यादेश होगा अन्यत्र नहीं।

(19) " वेश्च स्वनो भोजने " (8.3.69)

वि उपसर्ग से उत्तर तथा चकार से अव उपसर्ग से उत्तर भोजन अर्थ में स्वन धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।
उदा. विष्वणति, व्यष्वणत्, विषष्वाण अवष्वणति, अवाष्वणत्, अवषष्वाण आदि।
विष्वणति- वि स्वन् शप् तिप् > वि स्वन ति। सकार को प्रकृत सूत्र द्वारा मूर्धन्य आदेश होकर - वि ष्वन ति > विष्वणति।
अवष्वणति- अव स्वनति। धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश हो - अव ष्वनति। णत्वादेश होकर अवष्वणति प्रयोग सिद्ध हुआ।

(20) " परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्। " (8.3.70)

परि, नि तथा वि - इन उपसर्गों से परे सेव, सित, सय, सिवु, सह, सुट्, स्तु तथा स्वञ्ज् के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है। (सित शब्द से पहले अट् का व्यवधान हो अथवा अभ्यास का व्यवधान होते हुए भी मूर्धन्यादेश होता है।) उदा.
सित - परिषितः, विषितः, निषितः।
सय - परिषयः, विषयः, निषयः।
सिव् - परिषीव्यति, विषीव्यति, निषीव्यति।
सह - परिसहते, निषहते, विषहते।
सुट् - परिष्करोति, पर्यष्करोत्।
स्तु - परिष्टौति, निष्टौति, विष्टौति।
ष्वञ्ज् - परिष्वजते, निष्वजते, विष्वजते।
परिषितः - परि षिञ् क्त > परि सि त। सि के सकार को सूत्रविहित

मूर्धन्यादेश होकर – परिषित। स्वादिकार्य हो परिषितः।
विषयः – वि षिञ् अच् > वि सि अ > वि सय। सय के सकार को मूर्धन्य आदेश हो–विषय। स्वादिकार्य होकर– विषयः।
निषीव्यति– नि षिव् श्यन् तिप्>नि सिव् य ति > नि सीव् य ति। मूर्धन्य आदेश होकर – नि षीव् य ति = निषीव्यति।
परिष्करोति – परि सुट् कृ उ तिप् > परि स् करोति। सुट् के सकार को मूर्धन्य होकर–परिष्करोति।

(21) " सिवादीनां वाड्व्यवायेऽपि " (8.3.71)

परि, नि, वि– इन उपसर्गों से उत्तर सिवादिकों के सकार को अट् के व्यवधान होने पर भी विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है।
उदा. पर्यषीव्यत्, पर्यसीव्यत्।
न्यषीव्यत् न्यसीव्यत्। व्यषीव्यत् व्यसीव्यत्। सह–पर्यषहत पर्यसहत। न्यषहत न्यसहत। व्यषहत व्यसहत। सुट–पर्यष्करोत् पर्यस्करोत्। स्तु–पर्यष्टौत्, पर्यस्तौत्। न्यष्टौत्, न्यस्तौत्। व्यष्टौत्, व्यस्तौत्। ष्वञ्ज्–पर्यष्वजत पर्यस्वजत।
पर्यषीव्यत्– परि अट् सिव् श्यन् तिप् > परि अ सीव्यत् > पर्यसीव्यत्। अट् से व्यवहित सकार को मूर्धन्य आदेश हो–पर्यषीव्यत्।
पर्यषीव्यत्– आदेश विधान वैकल्पिक है अतएव आदेश के अभाव पक्ष में पर्यसीव्यत् शब्द सिद्ध हुआ।
न्यषहत, न्यसहत – नि अट् सह त। नि असहत। सह को मूर्धन्यादेश पक्ष में नि अषहत=न्यषहत एवं अभाव पक्ष में न्यसहत ये दो रूप बने।
पर्यष्करोत् – परि अट् सुट् कृ उ तिप् > परि अ स् करोत् > पर्यस्करोत्। मूर्धन्य आदेश हो – पर्यष्करोत्। मूर्धन्य आदेश के अभाव पक्ष में 'पर्यस्करोत्' – ये दो शब्द सिद्ध हुए।
व्यष्टौत्, व्यस्तौत् – वि अट् स्तु तिप् > वि अ स्तौ त् > व्यस्तौत्। मूर्धन्य हो– व्यष्तौत्=व्यष्टौत्। आदेश के अभाव में व्यस्तौत् ही रह गया।
पर्यष्वजत, पर्यस्वजत–परि अट् स्वञ्ज् शप् त > परि अ स्वजत > मूर्धन्य आदेश हो परि अ ष्वजत > पर्यष्वजत तथा आदेश के अभाव में पर्यस्वजत ये दो रूप बने।

(22) " अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु " (8.3.72)

अनु, वि, परि, अभि, नि–इन उपसर्गों से उत्तर स्यन्द् धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश विकल्प से होता है यदि प्राणी का कथन न हो रहा हो तो।
उदा. अनुष्यन्दते, विष्यन्दते, परिष्यन्दते, अभिष्यन्दते, निष्यन्दतें – आदेश पक्ष में। अनुस्यन्दते, विस्यन्दते, परिस्यन्दते, अभिस्यन्दते, निस्यन्दते। आदेशाभाव पक्ष में।
अनुष्यन्दते, अनुस्यन्दते – अनु स्यन्द् शप् त > अनु स्यन्दते। मूर्धन्यादेश पक्ष में – अनुष्यन्दते और आदेशाभाव पक्ष में अनुस्यन्दते ये दो रूप बनते हैं। इसी प्रकार अभि, नि, वि, परि इन उपसर्गों के योग में आदेश होने पर षकारयुक्त एवं आदेश के अभाव में सकारयुक्त दो दो रूप बनें

हैं।

'अप्राणिषु' इस प्रतिषेध कथन के कारण 'अनुस्यन्दते मत्स्य उदके' यहाँ षत्वादेश युक्त शब्द का प्रयोग नहीं हुआ।

(23) " वे स्कन्देरनिष्ठायाम् " (8.3.73)

वि उपसर्ग से उत्तर स्कन्दिर् धातु के सकार को विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है यदि निष्ठा परे न हो तो ।

उदा.— विष्कन्ता विस्कन्ता । विष्कन्तुम् विस्कन्तुम्। विष्कन्तव्यम् विस्कन्तव्यम्। विष्कन्ता विस्कन्ता—वि स्कन्दिर् तृच् > वि स्कन्द तृ > वि स्कन्त तृ > विस्कन्तृ। वि उपसर्ग पूर्वक सकन्द् के सकार को मूर्धन्य हो— विष्कन्तृ। प्रथमा एकवचन में विष्कन्ता। आदेश के अभाव में विसकन्तृ ही रहेगा तथा प्रथमा एकवचन में विस्कन्ता रूप सिद्ध होगा। तुमुन्, तव्यत् आदि प्रत्यय के योग में वैकल्पिक षत्व होकर क्रमशः विष्कन्तुम् विस्कन्तुम्; विष्कन्तव्यम् विस्कन्तव्यम् आदि शब्द सिद्ध होंगे। निष्ठा के योग में षत्वादेश प्रतिषिद्ध होने से 'विस्कन्नः' रूप ही बनता है।

(24) " परेश्च " (8.3.74)

परि उपसर्ग से उत्तर भी स्कन्द् के सकार को विकल्प से मूर्धन्यादेश होता है।

उदा. परिष्कन्दति, परिस्कन्दति। परिष्कन्नः, परिस्कन्नः।

परिष्कन्दति, परिस्कन्दति—परि सकन्द् शप् तिप > परिस्कन्दति। सूत्रविहित मूर्धन्यादेश के भावपक्ष में — परिष्कन्दति तथा अभाव में परिस्कन्दति—ये दो रूप सिद्ध हुए। परिस्कन्नः, परिष्कन्नः — परि स्कन्द् क्त। वैकल्पिक षत्व हो, आदेश पक्ष में — परिष्कन्न तथा आदेश के अभाव पक्ष में परिस्कन्न शब्द बने। स्वादिकार्य होकर परिष्कन्नः एवं परिस्कन्नः ये दो रूप सिद्ध हुए।

(25) " स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः " (8.3.76)

निस्, नि तथा वि उपसर्ग से उत्तर स्फुरति तथा स्फुलति के सकार को विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है— स्फुरति--निष्ष्फुरति ,निस्स्फुरति। निष्फुरति , निस्फुरति।विस्फुरति , विष्फुरति। स्फुलति—निष्ष्फुलति निस्स्फुलति। निष्फुलति, निस्फुलति। विष्फुलति, विस्फुलति।

निष्ष्फुरति निस्स्फुरति।— निस् स्फुर् शप् तिप्। सूत्रविहित वैकल्पिक आदेश के भाव पक्ष में सकार को मूर्धन्य हो--निस् ष्फुर् अति=निष्ष्फुरति तथा अभाव पक्ष में निस्स्फुरति — द्विविध रूप सिद्ध हुए।

निस्फुलति, निष्फुलति — नि स्फुल् शप् तिप्। मूर्धन्यादेश हो — नि ष्फुल ति=निष्फुलति तथा अनादेश पक्ष में नि स्फुल ति = निस्फुलति—दो प्रकार के रूप बने।

(26) " वेः स्कभ्नातेर्नित्यम् " (8.3.77)

वि उपसर्ग से उत्तर स्कम्भु के सकार को नित्य ही मूर्धन्य आदेश होता है। उदाहरण— विष्कभ्नाति। विष्कम्भिता। विष्कम्भितुम्। विष्कम्भितव्यम् आदि। विष्कभ्नाति— वि स्कम्भ् श्ना तिप् वि स्कभ् ना ति। सूत्रविहित

मूर्धन्यादेश होकर–वि ष्कम् ना ति=विष्कभ्नाति। विष्कम्भिता–वि स्कम्भ तृच् > वि स्कम्भ् इट् तृच् >वि स्कम्भितृ। मूर्धन्यादेश हो–वि ष्कम्भितृ। प्रथमा एकवचन में –विष्कम्भिता।

इसी भाँति तुमुन् एवं तव्यत् इत्यादि प्रत्यय परे रहते स्कम्भि के सकार को नित्य मूर्धन्य हो विष्कम्भितुम् विष्कम्भितव्यम् आदि रूप सिद्ध होंगे।

(27) " इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् " (8.3.78)

इणन्त अंग से उत्तर षीध्वम्, लुङ्, तथा लिट् का जो धकार उसको मूर्धन्य आदेश होता है।

उदा. च्योषीढ्वम्। प्लोषीढ्वम्। – ध्वम् को मूर्धन्यादेश।

अच्योढ्वम्, अप्लोढ्वम्–लुङ् में मूर्धन्य। चकृढ्वे, ववृढ्वे–लिट् में मूर्धन्य। च्योषीढ्वम्– च्युङ्. सीयुट् ध्वम् > च् यु सी ध्वम् > च्यो षीध्वम्। षीध्वम् के धकार को मूर्धन्य हो – च्यो षीढ् वम् = च्योषीढ्वम्।

अच्योढ्वम्–अट् च्युङ्. लङ् > अ च्यु ध्वम् > अ च्यो ध्वम्। इणन्त अंग च्यु से परे ध्वम् के धकार को मूर्धन्य आदेश हो–अच्यो ढ्वम्=अच्योढ्वम्।

चकृढ्वे– कृञ् लिट् > कृ कृ ध्वम् > च कृ ध्वे। इणन्त अंग कृ से उत्तर लिट् सम्बन्धी धकार को मूर्धन्यादेश हो– च कृ ढ्वे = चकृढ्वे शब्द सिद्ध हुआ।

(28) " विभाषेटः " (8.3.79)

इण् से उत्तर जो इट् उससे उत्तर जो षीध्वम् लुङ्. तथा लिट् का धकार उसे विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है।

उदा.– लविषीढ्वम्, अलविढ्वम्, लुलुविढ्वे। अभाव पक्ष में– लविषीध्वम्, अलविध्वम्, लुलुविध्वे।

लविषीध्वम्, लविषीढ्वम् – लूञ् लिङ्. > लू इट् सीयुट् ध्वम् > लो इ सी ध्वम् > लवि षीध्वम्। इणन्त अंग लू से परे इट् तथा इस इट् से परे षीध्वम् के धकार को सूत्रविहित मूर्धन्यादेश होकर– लविषीढ्वम्। आदेश वैकल्पिक है अतएव अनादेश पक्ष में 'लविषीध्वम्' शब्द बनेगा।

अलविढ्वम्, अलविध्वम्–अट् लूञ् लुङ्.> अ लू इट् ध्वम् > अलवि ध्वम्। सूत्र विहित मूर्धन्यादेश हो– अलवि ढ्वम् = अलविढ्वम् शब्द सिद्ध हुआ तथा आदेश के अभाव में अलवि ध्वम्= अलविध्वम् शब्द सिद्ध हुआ।

लुलुविढ्वे, लुलुविध्वे – लूञ् लिट्। लु लु इट् ध्वम् > लु लु विध्वे। मूर्धन्य हो – लुलुविढ्वे।

(29) " समासेऽङ्गुलेः सङ्गः " (8.3.80)

समास में अङ्गुलि शब्द से उत्तर सङ्ग शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।

उदा. अङ्गुलिषङ्.गः – 'अङ्गुलेः सङ्गः' इस अर्थ में अङ्गुलि एवं सङ्ग शब्द का समास होने पर आलोच्य सूत्र द्वारा सङ्ग के सकार को मूर्धन्यादेश होकर –अङ्गुलि षङ्ग > अङ्गुलिषङ्ग शब्द सिद्ध हुआ (स्वादिकार्य होकर– अङ्गुलिषङ्गः शब्द सिद्ध हुआ।

(30) " भीरोः स्थानम् " (8.3.81)

भीरु शब्द से उत्तर स्थान शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है। उदा.- भीरुष्ठानम्।

भीरु एवं स्थान का समास होने पर 'भीरुस्थान' ऐसा शब्द बना। सूत्रविहित मूर्धन्यादेश होकर-भीरुष्थान शब्द सिद्ध होता है। ष्टुत्व स्वादिकार्य हो 'भीरुष्ठानम्' शब्द सिद्ध हुआ।

(31) " अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः " (8.3.82)

अग्नि शब्द से उत्तर स्तुत्, स्तोम एवं सोम- इन शब्दों के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, समास में।

उदा. अग्निष्टुत्, अग्निष्टोम, अग्नीषोमः।

अग्निष्टुत - अग्नि स्तुत् इन दोनों शब्दों का समास करने पर सकार को मूर्धन्य आदेश होकर- अग्निष्तुत् शब्द बना। ष्टुत्व होकर 'अग्निष्टुत्' शब्द बनता है।

अग्निष्टोम - अग्नि एवं स्तोम का समास हो स्तोम के सकार को प्रकृत सूत्र द्वारा मूर्धन्य आदेश होकर- अग्निष्तोम शब्द बना। ष्टुत्व हो अभीष्ट रूप सिद्ध होगा।

अग्नीषोमः - अग्नि, सोम इन शब्दों का समास होने पर सोम के सकार को मूर्धन्य आदेश होकर 'अग्नीषोम' शब्द बना स्वादिकार्य होकर अग्नीषोमः शब्द सिद्ध होता है।

(32) " ज्योतिरायुषः स्तोमः " (8.3.83)

ज्योतिस् तथा आयुस् शब्द से उत्तर स्तोम शब्द के सकार को मूर्धन्यादेश होता है। समास में।

उदा. ज्योतिष्टोमः, आयुष्टोमः,।

ज्योतिष्टोमः - ज्योतिस् एवं स्तोम शब्दों का समास होने पर उपर्युक्त सूत्र द्वारा स्तोम के सकार को मूर्धन्य आदेश होकर ज्योतिष्तोम शब्द बना। ष्टुत्व हो प्रथमा एकवचन में ज्योतिष्टोमः प्रयोग सिद्ध हुआ।

(33) " मातृपितृभ्यां स्वसा " (8.3.84)

मातृ तथा पितृ शब्द से उत्तर स्वसृ शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है।

उदा. मातृष्वसा, पितृष्वसा।

मातृष्वसा- मातृ एवं स्वसृ का समास होकर स्वसृ के आद्य। सकार को मूर्धन्य आदेश हो - मातृष्वसृ शब्द बना। इससे प्रथमा एकवचन में 'मातृष्वसा' शब्द सिद्ध होता है।

पितृष्वसा - पितृ एवं स्वसृ का समास हो स्वसृ के प्रथम सकार को मूर्धन्य हो पितृष्वसृ शब्द बनता है। पितृष्वसृ प्रातिपदिक से प्र. एकवचन में अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

(34) " मातुः पितुर्भ्यामन्यतरस्याम् " (8.3.85)

मातुर्, तथा पितुर् शब्द से उत्तर स्वसृ के सकार को समास में विकल्प करके मूर्धन्यादेश होता है।

उदा. मातुःष्वसा, मातुःस्वसा। पितुःष्वसा, पितुः स्वसा।

मातुः स्वसा, मातुःष्वसा– मातुः इस षष्ठ्यन्त पद के साथ स्वसृ का समास हो षष्ठी का अलुक् होने पर मातुःस्वसृ ऐसा शब्द बना। अब मातुः से परे स्वसृ के प्रथम सकार को सूत्रविहित मूर्धन्यादेश होकर– मातुःष्वसृ शब्द बनता है इस प्रातिपदिक का प्रथमा एकवचन में मातुःष्वसा' ऐसा शब्द रूप सिद्ध होता है। यतः यह आदेश वैकल्पिक है अतएव आदेशाभाव पक्ष में 'मातुःस्वसृ' इस प्रकार के प्रातिपदिक से प्रथमा एकवचन में 'मातुःस्वसा' शब्द बनता है।

(35) " अभिनिसः स्तनः शब्दसंज्ञायाम् " (8.3.86)

अभि, तथा निस् से उत्तर स्तन धातु के सकार को शब्द की संज्ञा गम्यमान हो तो विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है।

उदा.– अभिनिष्टानो वर्णः अथवा अभिनिस्तानो वर्णः। अभिनिष्टानो विसर्जनीयः अथवा अभिनिस्तानो विसर्जनीयः। अभिनिष्टानः, अभिनिस्तानः– अभि एवं निस् उपसर्ग पूर्वक स्तन (ष्टन शब्दे) का समास हो अभि एवं निस् से परे स्तन के सकार को वैकल्पिक मूर्धन्य आदेश प्राप्त हुआ। मूर्धन्यादेश पक्ष में अभिनिष्तन तथा अभाव पक्ष में अभिनिस्तन शब्द बना। घञ् प्रत्यय हो प्रथमा एकवचन में मूर्धन्यादेश पक्ष में अभिनिष्टानः तथा आदेशाभाव पक्ष में अभिनिस्तानः शब्द सिद्ध होते हैं।

शब्द संज्ञा का अर्थ है शब्द की संज्ञा। 'अभिनिष्टान विसर्जनीय' एक प्रकार का विसर्जनीय है।

(36) " उपसर्ग प्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः " (8.3.87)

उपसर्ग के इण् और प्रादुस् अव्यय से परे अस् धातु के सकार को मूर्धन्य षकार होता है यकार और अच् परे रहते।

उदा.– निष्यात्, अभिष्यात्, प्रादुःष्यात्

निष्यात् – नि स्यात्। यहाँ उपसर्ग नि के इकार से परे अस् धातु है और धातु के सकार से परे यकार है अतः धातु के सकार को षत्व हो–निष्यात् शब्द सिद्ध होता है। 'स्यात्' अस् धातु के विधिलिङ् प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है।

प्रादुःष्यात् – प्रादुस् स्यात् > प्रादुः स्यात्। प्रादुस् अव्यय से परे अस् धातु के सकार को मूर्धन्यादेश हो – प्रादुःष्यात् ऐसा रूप बना। अभिषन्ति – अभि सन्ति। 'सन्ति' शब्द अस् धातु के लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है । अस् के 'सन्ति' रूप में सकार से परे अच् है अतः सूत्र द्वारा सकार को मूर्धन्यादेश होगा --------अभिषन्ति।

(37) " सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः " (8.3.88)

सु, वि, निर् तथ दुर् से उत्तर सुपि, सूति तथा सम के सकार को मूर्धन्यादेश होता है।

उदा.– सुषुप्तः, निःषुप्तः, दुःषुप्तः। सुषूतिः,विषूतिः, निःषूतिः, दुःषूतिः। सुषमम्, विषमम्, निःषमम्, दुःषमम्।

सुषुप्तः – सु स्वप् क्त > सु सुप् त=सु सुप्त। मूर्धन्यादेश होकर –

सुषुप्त । स्वादि कार्य होकर सुषुप्तः ।
विषूतिः– वि सु क्तिन्> वि सू ति । वि उपसर्ग से परे सूति के सकार को मूर्धन्य आदेश होकर ------वि षूति । स्वादिकार्य होकर विषूतिः ।
निःषमम्----निर् सम । सूत्रविहित मूर्धन्य आदेश हो -- निः षम । नपुंसक लिङ्ग प्रथमा एकवचन में निःषमम्' शब्द सिद्ध हुआ । दुःषमम् – दुर् सम > दुःसम । मूर्धन्य हो --- दुःषम सु = दुःषमम् ।

(38) " निनदीभ्यां स्नातेः कौशले " (8.3.89)

नि तथा नदी इनसे उत्तर ष्णा शौचे धातु के सकार को कुशलता गम्यमान हो तो मूर्धन्य आदेश होता है ।
उदा. निष्णातः कटकरणे । निष्णातो रज्जुवर्तने । नदीष्णः (नदी स्नाने कुशलः) ।
निष्णातः -- नि स्ना क्त > नि स्ना त । स्ना के सकार को मूर्धन्य हो -- नि ष्ना त । नकार को 'रषाभ्यां०' सूत्र से णत्व एवं सु विभक्ति हो निष्णातः शब्द बना ।
नदीष्णः – नदी स्ना क > नदी स्न । सूत्र विहित मूर्धन्यादेश हो – नदीष्न । णत्व एवं सु प्रत्यय हो–नदीष्णः ।

(39) " गवियुधिभ्यां स्थिरः " (8.3.95)

गवि तथा युधि से उत्तर स्थिर शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है । उदा.- गविष्ठिरः युधिष्ठिरः ।
गविष्ठिरः – गवि तथा स्थिर शब्द का समास हो 'गविस्थिर' शब्द बना । गवि से परे स्थिर के सकार को प्रकृत सूत्र से मूर्धन्य हो 'गविष्थिर' बना । थकार को ष्टुत्व हो प्रथम पुरुष एकवचन में शब्दरूप सिद्ध हुआ ।
युधिष्ठिरः– युधि स्थिर । सूत्र द्वारा प्राप्त मूर्धन्यादेश हो – युधिष्थिर । युधिष्ठिर सु=युधिष्ठिरः ।

(40) " विकुशमिपरिभ्यः स्थलम् " (8.3.96)

वि, कु, शमि, परि– इनसे उत्तर स्थल शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ।
उदा.– विष्ठलम्, कुष्ठलम् शमिष्ठलम् परिष्ठलम् । वि, कु, शमि, परि इनसे उत्तर स्थल शब्द को सूत्रविहित मूर्धन्य आदेश हो – विष्थल, कुष्थल, शमिष्थल, परिष्थल; बनते हैं । थकार को ष्टुत्व ठकार हो नपुंसकलिंग प्रथमा एकवचन में विष्ठलम् ,कुष्ठलम्, कुष्ठलम्, शमिष्ठलम्, परिष्ठलम् शब्द सिद्ध हुए ।

(41) " अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्कङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमेबर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः " (8.3.89)

अम्ब, आम्ब, गो, भूमि, सव्य, अप, द्वि, त्रि, कु, शेकु, शङ्कु, अङ्गु, मञ्जि, पुञ्जि, परमे, बर्हिस्, दिवि, अग्नि, – इन शब्दों से उत्तर स्था शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ।
उदा. अम्बष्ठः, आम्बष्ठः, गोष्ठः, भूमिष्ठः, सव्येष्ठः, अपष्ठः, द्विष्ठ

त्रिष्ठः, कुष्ठः, शेकुष्ठः, शङ्कुष्ठः, अङ्गुष्ठः, मञ्जिष्ठः, पुञ्जिष्ठः, परमेष्ठः, बर्हिष्ठः, दिविष्ठः, अग्निष्ठः ।

अम्बष्ठः– अम्ब स्थ । स्थ के सकार को मूर्धन्य आदेश होकर – अम्ब ष्थ । थ को ष्टुत्व ठकार हो प्रथमा एकवचन में अम्बष्ठः शब्द सिद्ध होगा ।

बर्हिष्ठः– बर्हिस् स्थ > बर्हि स्थ । स्थ के सकार को मूर्धन्य हो–बर्हि ष्थ । बर्हि ष्थ > बर्हि ष्ठ > बर्हिष्ठ सु = बर्हिष्ठः ।

दिविष्ठः– दिवि स्थ> दिवि ष्थ– सूत्र विहित मूर्धन्यादेश होने पर । दिविष्थ > दिविष्ठ सु = दिविष्ठः ।

अग्निष्ठः– अग्नि स्थ । सकार को मूर्धन्य आदेश होकर – अग्नि ष्थ । थ को ष्टुत्व ठकार हो प्रथमा एकवचन में अग्निष्ठः शब्द बना ।

(42) " सुषामादिषु च " (8.3.98)

सुषामादि शब्दों के सकार को भी मूर्धन्य आदेश होता है ।

उदा. सुषामा, निःषामा, दुःषामा । सुषेधः, निषेधः, दुःषेधः । सुषन्धि, निःषन्धि, दुःषन्धि । सुष्ठु, दुष्ठु आदि ।

सुषामा, निःषामा, दुःषामा– सु, निस्, दुस् इत्यादि उपसर्गों के साथ सामन् शब्द का समास हो सुसामन्, निःसामन् दुः सामन् आदि शब्द बने । सामन् के सकार को सूत्रविहित मूर्धन्य हो–– सुषामन्, निःषामन्, दुःषामन् ऐसा शब्दों का रूप हुआ । इनसे सु विभक्ति हो अभीष्ट शब्दरूप सिद्ध हुए । इसी प्रकार सु, निस् या निर् दुस् या दुर् से परे सेध एवं सन्धि शब्दों के सकार को मूर्धन्य षकारादेश हुआ है ।

सुष्ठु, दुष्ठु– सु, दु, से परे स्था शब्द से औणादिक कुप्रत्यय हो सुस्थु, दुस्थु ऐसे शब्द बने । इनके स्था के सकार को प्रकृत सूत्र से मूर्धन्य हो–– सुष्थु, दुष्थु ऐसा स्वरूप बना । ष्टुत्व हो सुष्ठु, दुष्ठु शब्द सिद्ध हुआ ।

इस सूत्र पर वार्तिक है– "गौरिषक्थः संज्ञायाम्" अर्थात् गौरिसक्थ्यादि शब्दों के सकार को संज्ञा विषय में मूर्धन्यादेश होता है । इस गण के शब्द हैं–गौरिषक्थः, प्रतिष्णिका, जलाषहम्, नौषेचनम्, दुंदुभिषेवणम् आदि । इनमें सकार को मूर्धन्य हुआ है । ये शब्द संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुए हैं ।

(43) " एति संज्ञायामगात् " (8.3.99)

गकारभिन्न इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को एकार परे रहते संज्ञा विषय में मूर्धन्य आदेश होता है ।

उदा. हरिषेणः, वारिषेणः, जानुषेणी आदि ।

हरिषेणः – हरि केइकार से परे सेन के सकार को मूर्धन्य आदेश होगा क्योंकि सकार के परे एकार भी है । मूर्धन्य हो हरि षेन – ऐसा स्वरूप बना । नकार को णत्व हो सु विभक्ति हो हरिषेणः शब्द सिद्ध हुआ ।

इसी प्रकार वारि, जानु के इण् – इकार तथा उकार से परे सेन के एकारपरक सकार को मूर्धन्य हो वारिषेणः एवं जानुषेणी आदि संज्ञा

शब्द बनेंगे।

(44) " नक्षत्राद्वा " (8.3.100)

नक्षत्रवाची शब्द जो गकारान्त न हो के इण् से परे जो एकारपरक सकार उसे मूर्धन्य आदेश विकल्प से होता है।

उदा. रोहिणीषेण:, भरणीषेण: । पक्ष में रोहिणीसेन: भरणीसेन: – 'रोहिणी सेना अस्य' इस विग्रह में रोहिणी एवं सेना का समास हो रोहिणीसेना > रोहिणीसेन शब्द बना। रोहिणी नक्षत्रवाची शब्द है और सेन शब्द के सकार के पूर्व इण् इकार तथा परे एकार है अत: इसे सूत्र-विहित मूर्धन्य हो 'रोहिणीषेन' शब्द बना। ष्टुत्वेन णत्व एवं सु विभक्ति हो रोहिणीषेण: शब्द बना। मूर्धन्य आदेश के अभाव में रोहिणीसेन: शब्द सिद्ध होगा।

भरणीसेन:, भरणीषेण: – भरणी (नक्षत्रवाची शब्द) से परे सेन के सकार को वैकल्पिक मूर्धन्यादेश प्राप्त होता है क्योंकि सकार से पूर्व इण् ईकार है तथा परे एकार है। मूर्धन्य हो – भरणीषेन > भरणीषेण: तथा मूर्धन्याभाव में भरणीसेन: – रूपद्वय सिद्ध हुए।

(45) " ह्रस्वात्तादौ तद्धिते " (8.3.101)

ह्रस्व इण् से उत्तर सकार को तकारादि तद्धित परे रहते मूर्धन्य आदेश होता है। उदा. – सर्पिष्टरम्, यजुष्टरम्, सर्पिष्टमम्, यजुष्टमम्, चतुष्टये, सर्पिष्ट्वम्, यजुष्टा, सर्पिष्ट:, आविष्ट्य: आदि।

सर्पिष्टरम् – सर्पिस् तरप् । सर्पिस् का सकार ह्रस्व इण् इकार से परे है तथा सकार के परे तकारादि तद्धित प्रत्यय है इसलिए सूत्र द्वारा सकार को मूर्धन्यादेश प्राप्त हुआ। मूर्धन्य होकर– सर्पिष् तरप् > सर्पिष्टरम्।

(46) " निसस्तपतावनासेवने " (8.3.102)

निस् के सकार को तपति परे रहते अनासेवन अर्थ में मूर्धन्य आदेश होता है।

उदा. निष्टपति, निष्टपनं आदि। निष्टपति – निस् तप् शप् तिप् > निस् तपति। तपति परे रहते निस् के सकार को मूर्धन्य हो – निष् तपति > निष्टपति।

'अनासेवन' का अर्थ है– अन आसेवन आसेवन अर्थात् 'पुन: पुन: करना'।[5] अनासेनवन अर्थात् 'पुन: पुन: न करना' अर्थात् 'एक बार करना' 'बार बार न करना'। निष्टपति का अर्थ है 'एक बार तप्त करना'। 'निष्टपति सुवर्णम्' का अर्थ है – सकृदग्निं स्पर्शयति = एक बार सुवर्ण को तप्त करता है। इस तरह जब सुवर्ण की शुद्धता परखने हेतु उसे एक बार अग्नि में उत्तप्त किया जाय तो 'निष्टपति' शब्द उत्तप्त करता है' के अर्थ में प्रयुक्त होगा। जब आभूषणादि निर्मित करने हेतु बार बार स्वर्णकार द्वारा स्वर्ण तप्त किया जायगा तो 'बार बार तप्त करता है' के अर्थ में 'निस्तपति' शब्द प्रयुक्त होगा। इस प्रकार इस सूत्र द्वारा विहित आदेशयुक्त शब्द का अर्थ आदेशरहित शब्द के अर्थ से सर्वथा भिन्न है। आदेश विधि द्वारा अर्थ परिवर्तन दिखानें का यह उत्तम

उदाहरण है ।

(47) " युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तः पादम् " (8.3.103)

इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को तकारादि युष्मद्, तत् तथा ततक्षुस् परे रहते मूर्धन्यादेश होता है यदि वह सकार पाद के मध्य में वर्तमान हो तो ।

उदा. अग्निष्ट्वं नामासीत् । अग्निष्ट्वा वर्धयामसि । अग्निष्टे विश्वमानय । अप्स्वग्ने सधिष्टव । तत् अग्निष्टद्विश्वमापृणाति । द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।

अग्निष्ट्वं– अग्निः त्वं > अग्निस् त्वं । त्वं शब्द युष्मदादेश एवं तकारादि है अतः इसके परे होते सकार को मूर्धन्य होगा – अग्निष् त्वं । ष्टुत्व हो--- अग्निष्ट्वं ।

अग्निष्ट्वा – अग्निस् त्वा । सकार को आलोच्य सूत्र द्वारा मूर्धन्यादेश होगा क्योंकि त्वा तकारादि युष्मदादेश है । अग्निष् त्वा – इस प्रकार का स्वरूप हुआ मूर्धन्यादेश होकर । ष्टुत्व हो– अग्निष्ट्वा ।

इसी प्रकार अग्निस् ते, अग्निस् तव में सकार को मूर्धन्य हो अग्निष्टे, अग्निष्टव आदि शब्द बने ।

अग्निष्टत् – अग्निस् तत् । तत् परे रहते सकार को मूर्धन्य हो---अग्निष् तत्=अग्निष्टत् ।

निष् टतक्षुः–निस् ततक्षुस् । निस् के सकार को मूर्धन्य हो– निष् ततक्षुस् > निष्टतक्षुः ।

(48) " यजुष्येकेषाम् " (8.3.104)

यजुर्वेद में तकारादि युष्मद् तत् तथा ततक्षुस् परे रहते इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को किन्हीं आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है ।

उदा.– अर्चिभिष्ट्वम्, अर्चिभिस्त्वम् । अग्निष्टेऽग्राम्, अग्निस्तेऽग्राम । अग्निष्टत् अग्निस्तत् । अर्चिभिष्टतक्षुः अर्चिभिस्ततक्षुः ।

अर्चिभिष्ट्वम्, अर्चिभिस्त्वम् – अर्चिभिस्त्वम् । सकार को मूर्धन्य हो– अर्चिभिष्त्वम् > अर्चिभिष्ट्वम् तथा मूर्धन्य के अभाव में अर्चिभिस्त्वम् शब्द सिद्ध हुआ । इसी प्रकार अग्निष्टेऽग्राम् एवं अग्निस्तेऽग्राम में अग्निस् ते इस अवस्था में सकार को मूर्धन्य हो अग्निष् ते> अग्निष्टे तथा मूर्धन्याभाव में अग्निस्ते शब्द बने ।

सूत्रस्थ 'एकेषाम्' पद से विकल्प फलित होता है । इस पद द्वारा महर्षि पाणिनि ने किन्हीं आचार्य के मत को सूत्र द्वारा व्यक्त किया । पाणिनि को मूर्धन्यादेश मान्य है अथवा नहीं इस विषय में यही कहा जा सकता है कि यदि पाणिनि को मूर्धन्यादेशयुक्त प्रयोग ही अभीष्ट होता तो 'एकेषाम्' पद की आवश्यकता नहीं थी । दूसरी ओर यदि उन्हें मूर्धन्यादेशयुक्त रूप अभीष्ट न होता तो सूत्र ही नहीं कहा गया होता अतएव पाणिनि को मूर्धन्यादेश एवं मूर्धन्यादेशरहित दोनों प्रकार के शब्द मान्य हैं ऐसा स्पष्ट होता है ।

(49) "स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि" (8.3.105)

इण् तथा कवर्ग से उत्तर स्तुत तथा स्तोम के सकार को वेद विषय में

कुछ आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है। (अर्थात् विकल्प से।)
उदा. त्रिभिष्टुतस्य, त्रिभिस्तुतस्य। गोष्टोमं गोस्तोमं वा षोडशिनम्।
त्रिभिष्टुतस्य त्रिभिस्तुतस्य। त्रिभिस्तुत- यहाँ त्रिभिः स्तुतः का समास हो त्रिभिस्तुत शब्द बनता है। तब सूत्रविहित मूर्धन्य आदेश हो-त्रिभिष्तुत > त्रिभिष्टुत तथा मूर्धन्यादेश के अभाव में त्रिभिस्तुत शब्द बनते हैं। इनसे षष्ठी एकवचन में त्रिभिष्टुतस्य एवं त्रिभिस्तुतस्य शब्द निष्पन्न होते हैं।
गोस्तोमं, गोष्टोमं - गो एवं स्तोम का समास हो गोस्तोम शब्द बना। स्तोम के सकार को मूर्धन्य हो गोष्तोम>गोष्टोम तथा मूर्धन्य आदेश के अभाव में गोस्तोम शब्द बनते हैं। इनसे प्रथमा एकवचन में गोस्तोमं एवं गोष्टोमं रूपद्वय सिद्ध होते हैं।

(50) " पूर्वपदात् " (8.3.106)

पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर सकार को वेद विषय में कुछ आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है।
उदा. द्विषन्धिः, द्विसन्धिः। त्रिषन्धिः, त्रिसन्धिः। मधुष्ठानम् मधुस्थानम्। द्विषाहस्रम् द्विसाहस्रम्। द्विषन्धिः द्विसन्धिः - द्वि, सन्धि-इन शब्दों का समास हो सन्धि के सकार को मूर्धन्य षकार हो प्रथमा एकवचन में द्विषन्धिः तथा आदेशाभाव पक्ष में 'द्विसन्धिः' शब्द सिद्ध होते हैं।
मधुष्ठानम्, मधुस्थानम् - मधु, स्थान - इन शब्दों का समास हो मधुस्थान शब्द बना। सकार को मूर्धन्य हो मधुष्थान > मधुष्ठान शब्द बना। तब प्रथमा एकवचन नपुंसकलिंग में मधुष्ठानम् एवं मूर्धन्यादेश के अभाव में मधुस्थानम् दो रूप सिद्ध होते हैं।

(51) " स्नुः " (8.3.107)

पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर स्नु निपात के सकार को वेद विषय में मूर्धन्य आदेश होता है।
उदा.- अभीषुणः सखीनाम्। ऊर्ध्वं ऊषुणः।
अभीषुणः- अभि स्नु अस्मद् आम् > अभी सु नस् आम् > अभी सु नस्। स्नु निपात इण् से परे है अतः सूत्र द्वारा स्नु के सकार को मूर्धन्य आदेश हो अभीषुनस् शब्द बना। नकार को णकार एवं रुत्व विसर्ग हो अभीषुणः शब्द सिद्ध होता है।

(52) " सनोतेरनः " (8.3.108)

अनकारान्त सन् धातु के सकार को वेद विषय में मूर्धन्य आदेश होता है।
उदा.- गोषाः, नृषाः।
गोषाः - गो सन् विट् > गो सा। सूत्र विहित मूर्धन्य आदेश हो - गो षा। प्रथमा बहुवचन में - गोषाः।

(53) " सहेः पृतनर्ताभ्याम् च " (8.3.109)

पृतना तथा ऋत शब्द से उत्तर भी सह् धातु के सकार को वेद विषय में मूर्धन्य आदेश होता है।

उदा.— पृतनाषाहम्, ऋतीषाहम् आदि ।

पृतनाषाहम् — पृतना तथा सह का समास हो पृतनासह शब्द बना । इससे ण्वि प्रत्यय हो, णित्वाद् वृद्धि हो पृतनासाह शब्द बना । सह के सकार को (पृतना शब्द से परे रहते) आलोच्यसूत्र द्वारा मूर्धन्य हो — पृतनाषाह शब्द बना । प्रथमा एकवचन में 'पृतनाषाहम् शब्द सिद्ध होता है ।

ऋतीषाहम् — ण्वि प्रत्ययान्त ऋत तथा सह का समास हो बने ऋतीसाह में सूत्र द्वारा सकार को मूर्धन्य हो—ऋतीषाह शब्द बना । प्रथमा एकवचन नपुंसकलिङ्ग में अभीष्ट प्रयोग बनता है ।

सन्दर्भ - सूची

5. - 'आसेवनम् - पुनः पुनः करणम् ।' - ५० सूत्र की काशिका व्याख्या ।

णत्व–प्रकरण

(1) " रषाभ्यां नो णः समानपदे " (8.4.1)

रेफ तथा षकार से उत्तर नकार को णकार होता है एक ही पद में।
उदा. आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम्, कुष्णाति, पुष्णाति आदि।
आस्तीर्णम्– आङ्. स्तृञ् क्त > आ स्तीर् न > आस्तीर्न। यहाँ आङ्. उपसर्गपूर्वक स्तृञ् धातु से निष्ठा क्त प्रत्यय हुआ है। निष्ठा नत्व होकर बने हुए 'आस्तीर्न' पद में रेफ से परे नकार अवस्थित है और ये दोनों एक ही पद में हैं अतः नकार को णत्वादेश होगा। णत्व होकर– आस्तीर्ण शब्द बना।
सूत्रस्थ 'समानपदे' का अर्थ है – निमित्त एवं निमित्ती दोनों एक ही पद में स्थित हों भिन्न भिन्न पदों में नहीं। उपर्युक्त उदाहरणों में निमित्त रेफ एवं षकार तथा निमित्ती नकार एक ही पद में अवस्थित हैं इससे यहाँ णत्व हुआ। 'अग्निर्नयति', 'वायुर्नयति' इन उदाहरणों मे निमित्त एवं निमित्ती भिन्न–भिन्न पदों में हैं एक ही पद में नहीं अतएव सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी।
पुष्णाति – पुष् श्ना तिप् > पुष् ना ति। एक ही पद में होते हुए षकार से पर नकार को सूत्रविहित णत्व हो –पुष् णा ति > पुष्णाति।

(2) " अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि " (8.4.2)

रेफ –तथा षकार से उत्तर अट् (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र), कवर्ग–पवर्ग के किसी वर्ण, आङ्. तथा नुम् का व्यवधान होने पर भी नकार को णकार हो जाता है। उदा.-
अट्– करणम्, हरिणा, गुरुणा आदि।
कवर्ग– अर्केण, मूर्खेण, गर्गेण, अर्घेण।
पवर्ग– दर्पेण, रेफेण, गर्भेण, चर्मणा, वर्मणा।
आङ्. – पर्याणद्धम्।
नुम् – बृंहणम्।
करणम् – कृ ल्युट् > कर् अन> करन। रकार एवं न के बीच अट् अकार का व्यवधान है; तथा निमित्त एवं निमित्ती एक ही में पद है अतः नकार को णत्व होगा। णत्व हो–करण; शब्द बना। सु, सु, को अम् हो करणम् बनेगा। एवमेव हरिणा में निमित्त एवं निमित्ती के मध्य इकार तथा गुरुणा में उकार का व्यवधान है अतः इनमें भी णत्वादेश हुआ है।
अर्केण, मूर्खेण, गर्गेण, अर्घेण, – इनमें अट् एकार एवं कवर्ग (क्रमशः) क, ख, ग, घ) व्यवधान हुआ है अतएव सूत्रविहित णत्वादेश हुआ है।
पर्याणद्धम् – परि आङ्. नद्धम्। अट् इकार एवं आङ्. का व्यवधान होने पर सूत्र द्वारा णत्व हो जाता है – पर्याणद्धम्।
बृंहणम् – बृह ल्युट्। नुम् आगम हो बृ न् ह् अन > बृंह अन। यहाँ निमित्त एवं निमित्ती के मध्य नुम् एवं अट् हकार का व्यवधान है अतएव

आलोच्य सूत्र द्वारा णत्वादेश हुआ है।
प्रकृत सूत्र भी निमित्त एवं निमित्ती के एकपद में होने पर णत्व आदेश विहित करता है। पूर्व सूत्र द्वारा रेफ एवं षकार से अव्यवहित परवर्ती नकार को णकार विहित किया गया था तो इस सूत्र द्वारा अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्., नुम् में किसी एक अथवा इनमें से कुछ के द्वारा व्यवहित होने पर भी णत्वादेश विहित हुआ।

(3) " पूर्वपदात् संज्ञायामगः " (8.4.3)

गकार का व्यवधान न हो तो पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर नकार को णकार होगा संज्ञा के विषय में।
उदा. शूर्पणखा, द्रुणसः, खरणसः आदि।
शूर्पणखा – शूर्पाणीव नखानि यस्याः – शूर्प नख टाप्। यह शब्द संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है अतः टाप् एवं प्रकृत सूत्र द्वारा णत्व प्राप्त होता है। णत्व हो "शूर्पणखा" शब्द बना।
द्रुणसः, खरणसः आदि में भी संज्ञा विषय में क्रमशः (निमित्त एवं निमित्ती के मध्य) उ (अट्) तथा अ (अट्) का व्यवधान होते हुए भी प्रकृत सूत्र से णत्व हुआ। संज्ञा विषय में नहीं विहित होने से "शूर्पनखी कन्या" इत्यादि प्रयोगों में णत्व नहीं होता। शूर्पाकाराणि नखानि यस्याः इस अर्थ में शूर्पनख से ङीष् हुआ है। संज्ञा में प्रयुक्त न होने से णत्व भी नहीं होता अतः "शूर्पनखी" शब्द ही बनता है। "शूर्पणखा" रावण की बहन का नाम है और इस अर्थ में यह शब्द संज्ञा रूप में प्रयुक्त हुआ है फलतः "नखमुखात् संज्ञायाम्" से ङीष् का निषेध हो टाप् तथा आलोच्य सूत्र से णत्वादेश प्राप्त होता है और शूर्पणखा शब्द सिद्ध होता है।

(4) " वनं पुरगामिश्रकासिध्रकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः। " (8.4.4)

पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, शारिका, कोटरा, अग्रे– इनसे उत्तर वन के नकार को णकारादेश संज्ञा विषय में होता है।
उदा. पुरगावणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, शारिकावणम् कोटरावणम्, अग्रेवणम्।
पुरगावणम्– पुरग एवं वन शब्दों का षष्ठी तत्पुरुष समास तथा पूर्वपद को दीर्घ हो "पुरगावन" शब्द बना। पश्चात् प्रकृत सूत्र से नकार को णत्व हो गया– पुरगावण सु > पुरगावणम्।
इस उदाहरण में गकार का व्यवधान हो रहा है अतः "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" से णत्व नहीं हो पाता।
मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, शारिकावणम् कोटरावणम्, अग्रेवणम् इत्यादि शब्दों में "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" सूत्र द्वारा ही णत्वादेश संभव था; इस स्थिति में सूत्रारंभ का कारण यह है कि जब भी कहीं रेफयुक्त पूर्वपद एवं उससे उत्तर वन शब्द आए तो वन के नकार को णत्व णकार न हो अपितु सूत्रोक्त शब्दों से उत्तरवर्ती "वन" पद के नकार को ही णत्व हो। इससे कुबेरवनम्, शतधारवनम्, असिपत्रवनम् इत्यादि में नकार को णत्वाभाव संभव हो जाता है।

(5) " प्रनिरन्तः शरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि । " (8.4.5)

प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा– इनसे उत्तर वन शब्द के नकार को असंज्ञा में भी तथा संज्ञा विषय में भी णत्वादेश होगा ।

प्र – प्रवणम्
निर् – निर्वणम्
अन्तर – अन्तर्वणम्
शर – शरवणम्
इक्षु – इक्षुवणम्
प्लक्ष – प्लक्षवणम्
आम्र – आम्रवणम्
कार्ष्य – कार्ष्यवणम्
खदिर – खदिरवणम्
पीयूक्षा – पीयूक्षावणम् ।

प्रगतं वनं, निर्गतं वनं, वनस्य मध्य इन अर्थों में क्रमानुसार प्र, निर् एवं अन्तर् शब्दों के साथ वन का समास हुआ है । संज्ञाविषय में इन शब्दों के नकार को आलोच्य सूत्र द्वारा णत्वादेश प्राप्त हुआ । शर एवं इक्षु–ये औषधियाँ हैं तथा प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा–ये वनस्पतियाँ हैं । इन शब्दों से उत्तर वन शब्द से निष्पन्न शब्द का चाहे संज्ञा के रूप में प्रयोग हो अथवा असंज्ञा में आलोच्य सूत्र द्वारा वन के नकार को णत्वादेश होगा ।

औषधि तथा वनस्पतिवाची होने से परवर्ती सूत्र द्वारा भी इन्हें णत्व प्राप्त था किन्तु उस सूत्र द्वारा विहित आदेश वैकल्पिक आदेश था । प्रकृत सूत्र से नित्य आदेश प्राप्त होता है ।

(6) " विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः " (8.4.6)

औषधि या वनस्पति वाचक शब्दों से परे (यदि णत्व का निमित्त पूर्वपद में विद्यमान हो तो) वन उत्तरपद के नकार को विकल्प से णकारादेश होगा ।

उदा. दूर्वावणम्, शिरीषवणम् । आदेश न होने पर – दूर्वावनम्, शिरीषवनम् ।

दूर्वावणम्, दूर्वावनम् – दूर्वा पूर्वपद रहते वन उत्तरपद के नकार को वैकल्पिक णत्व प्राप्त होता है क्योंकि पूर्वपद में णत्व का निमित्त रेफ विद्यमान है । णत्व हो–दूर्वावणम्, तथा णत्वाभाव में–'दूर्वावनम्' रूपद्वय सिद्ध हुए ।

शिरीषवणम्, शिरीषवनम् – इन प्रयोगों में वनस्पतिवाची शिरीष पद जो णत्वनिमित्त से युक्त है, से उत्तर वन के नकार को वैकल्पिक णत्व हुआ है । णत्व होकर पूर्ववर्ती प्रयोग एवं णत्वाभाव में उत्तरवर्ती प्रयोग निष्पन्न होगा ।

'ओषधि' एवं 'वनस्पति' के लिए काशिकाकार ने एक कारिका उद्धृत की है जो निम्नवत् है----

'फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः दूसरी लाइन ओषध्यः फलपाकान्ता लता गुल्माश्च वीरूधः ।।' इस कारिका के अनुसार फल मात्र धारण करने वाली वनस्पति, फल एवं फूल धारण करने वाला वृक्ष तथा फल के पक जाने पर विनष्ट हो जाने वाली ओषधि कहलाती है। इस सूत्र में वनस्पति एवं वृक्ष को अभिन्न रूप में ग्रहण किया गया है ऐसा काशिकाकार का अभिमत है -"सत्यपि भेदे वृक्षवनस्पत्योरिहाभेदेन ग्रहणं द्रष्टव्यम् ।" काशिकाकार का यह कथन भाष्यकार के इस कथन पर आधारित है।" लुपियुक्तवद्व्यक्तिवचने" (1.2.51) सू. के भाष्य मे आचार्य पतंजलि कहते हैं -- "व्यक्तिवचन इति किम् शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः, तस्य वनम् शिरीषवनमिति- वनस्पतित्वं नातिदिश्यते। यद्यतिदिश्येत, "विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः" इति णत्वं प्रसज्येत।" इस उद्धरण में "वनस्पति" शब्द का प्रयोग काशिकाकार के कथन का आधार बना। शिरीष पुष्प एवं फल दोनों को धारण करता है अतएव कारिका में उल्लिखित लक्षणों के आधार पर यह वृक्ष है न कि वनस्पति। वृक्ष होने से आलोच्य सूत्र का विषय नहीं अतः वैकल्पिक णत्व की अप्राप्ति होती है पर भाष्यकार द्वारा शिरीष के वनस्पतित्व की चर्चा से स्पष्ट होता है कि आलोच्य सूत्र में वृक्ष एवं वनस्पति को अभिन्न रूप में ग्रहण किया गया है।

इस सूत्र पर दो वार्तिक हैं-----

(i) 'द्व्यक्षर > >यक्षरेभ्य इति वक्तव्यम्' - अर्थात् द्व्यक्षर और > >यक्षर पूर्वपद के प्रसंग में ही यह आदेश प्रवृत्त हो। इससे देवदारुवनम्, भद्रदारुवनम् इत्यादि में णत्व नहीं होता।

(ii) इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः-----अर्थात् इरिका इत्यादि को प्रतिषेध विहित हो। इससे > >यक्षर इरिका मिरिका इत्यादि के पूर्वपद रहते णत्वादेश नहीं होगा।

(7) " अह्नोऽदन्तात् " (8.4.7)

अदन्त (अकारान्त) जो पूर्वपद उसमें स्थित निमित्त से उत्तर अह्न के नकार को णकार होता है।

उदा. पूर्वाह्णः, अपराह्णः।

पूर्वाह्णः - अह्नः पूर्वो भागः इस अर्थ में पूर्व एवं अह्न का समास हो पूर्वाह्न शब्द बना। पूर्व अकारान्त शब्द है तथा णत्व के निमित्त से युक्त है इसलिए प्रकृत सूत्र द्वारा अह्न के नकार को णत्व हुआ- पूर्वाह्ण । स्वादिकार्य हो - पूर्वाह्णः ।

अपराह्णः - अपर अह्न > अपर अह्न। अपर अकारान्त शब्द है और णत्वनिमित्तक रकार से युक्त है अतः उत्तरपदस्य अह्न के नकार को णत्व हुआ - अपर अह्ण > अपराह्ण ।

(8) " वाहनमाहितात् " (8.4.8)

आहितवाची जो पूर्वपद तत्स्थ निमित्त से उत्तर वाहन शब्द के नकार को णकार आदेश होता है।

उदा. इक्षुवाहणम्, शरवाहणम्, दर्भवाहणम्।

इक्षुवाहणम् – 'इक्षूणां वाहनम्' इस अर्थ में इक्षु एवं वाहन का समास हुआ और इक्षुवाहन शब्द बना। इक्षु आहितवाची है अतएव वाहन के नकार को णत्व होगा– इक्षुवाहण। स्वादिकार्य हो– इक्षुवाहणम् शब्द सिद्ध हुआ शरवाहणम्, दर्भवाहणम् – शर, दर्भ आदि आहितवाची शब्द हैं अतः इनसे उत्तर वाहन के नकार को णत्व होगा।

आहित का अर्थ है आरोपित अर्थात् लादकर ढोई जाने वाली वस्तु।" वाहने यद् आरोपितमुह्यते तदाहितमुच्यते।"[6]
"आहितमारोपितमुच्यते।"[7]

आहितवाची शब्दों से परे रहते ही वाहन के नकार को णत्व होता है इससे दाक्षिस्वामिकं वाहनम्(दाक्षि जिस वाहन के स्वामी हों) दाक्षिवाहनम् यहाँ णत्वादेश नहीं होगा।

(9) " पानं देशे " (8.4.9)

पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर पान शब्द के नकार को देश का अभिधान हो रहा हो तो णकार आदेश होता है।

उदा. क्षीरपाणाः उशीनराः। सुरापाणाः प्राच्याः। सौवीरपाणा बाह्लीकाः। कषायपाणा गन्धाराः।

क्षीरपाणाः– क्षीरं पानं येषां ते। यहाँ क्षीर पूर्वपद से पान शब्द का समास हुआ है। उशीनर देशविशेष का अभिधान होने से पान के नकार को णत्व होगा – क्षीरपाण जस्>क्षीरपाणाः। इसी प्रकार सुरा, सौवीर और कषाय आदि से उत्तर पान शब्द के नकार को णत्व हुआ है।

क्षीरपाणाः, सुरापाणाः इत्यादि शब्दों में क्षीरपान सम्बन्धमात्र या सुरापान सम्बन्धमात्र प्रतीयमान नहीं क्योंकि उशीनर और प्राच्यदेश से अन्यत्र भी ये संबंध संभव हैं। क्षीरपाणाः उशीनराः, सुरापाणाः प्राच्याः इत्यादि प्रयोगों में क्षीरपान एवं सुरापान की अतिशयता मुख्य रूप से प्रतीयमान है।

क्षीरपाणाः, सुरापाणाः आदि शब्द मनुष्यों के लिए प्रयुक्त हुए हैं तथा इनसे समानाधिकरण संबंध से उशीनराः, प्राच्याः आदि शब्द भी मनुष्यों के लिए प्रयुक्त हुए हैं अतः इनसे देश का अभिधान गम्यमान नहीं ऐसी शङ्का उचित नहीं क्योंकि मनुष्य का अभिधान होने में भी देश का अभिधान होता है।[8] उशीनरादि शब्द देशवाचक हैं और तात्स्थ्यात् तथा प्रतीयमानत्वात् मनुष्यों के आख्यायक हो जाते हैं। ये शब्द संज्ञा होने से प्रथमतः देश के अभिधान में प्रयुक्त होते हैं पश्चात् उस देश से सम्बन्धित होने से मनुष्यों के अभिधान में भी प्रयुक्त होने लगते हैं।[9] इसलिए इन शब्दों से देश गम्यमान नहीं ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए।

(10) " वा भावकरणयोः " (8.4.10)

पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर भाव तथा करण में वर्तमान जो पान शब्द उसके नकार को विकल्प से णकार आदेश होता है।

उदा. क्षीरपाणं वर्तते अथवा क्षीरपानं वर्तते।

क्षीरपाणः कंसः अथवा क्षीरपानः कंसः।

क्षीरपाणं क्षीरपानं वा वर्तते – यहाँ क्षीर पूर्वपद पूर्वक पा धातु से भाव में ल्युट् हो क्षीरपान शब्द बना तब आलोच्य सूत्र से वैकल्पिक णत्व प्राप्त हुआ। णत्व पक्ष में क्षीरपाण; क्षीरपाण सु = क्षीरपाणम् तथा णत्वाभाव पक्ष में क्षीरपानम् शब्द सिद्ध हुए।

क्षीरपाणः क्षीरपानः वा कंसः – यहाँ क्षीर पूर्वक पा धातु से करण अर्थ में ल्युट् हो क्षीरपान शब्द बना। सूत्र द्वारा वैकल्पिक णत्व हो णत्व पक्ष में क्षीरपाण तथा णत्वाभाव में क्षीरपान शब्द बना स्वादिकार्य हो क्षीरपाणः तथा क्षीरपानः रूपद्वय सिद्ध हुए।

(11) " प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च " (8.4.11)

पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर प्रातिपदिक के अन्त में जो नकार तथा नुम् एवं विभक्ति में जो नकार उसको भी विकल्प से णकारादेश होता है। उदा. प्रातिपदिक – माषवापिणौ माषवापिनौ वा। नुम् – व्रीहिवापाणि व्रीहिवापानि वा। विभक्ति – माषवापेण माषवापेन वा।

माषवापिणौ, माषवापिनौ-----माषान् वपते इस प्रकार के विग्रह में माष एवं वापिन् का समास हुआ। वापिन् में कृदन्त णिनि प्रत्यय होने से इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है अतः पूर्वपदस्थ निमित्त के कारण वापिन् के नकार को सूत्रोक्त प्रातिपदिकान्तलक्षण णत्वादेश विकल्प से हो जाता है। आदेश हो माषवापिण्, माषवापिण् औ=माषवापिणौ तथा आदेश के अभाव में माषवापिन् औ=माषवापिनौ शब्द बनते हैं।

माषवापाणि, माषवापानि–माषान् वपन्ति इस अर्थ में माष पूर्वक वप् धातु से कर्म में अण् प्रत्यय हुआ और माषवाप शब्द निष्पन्न हुआ। बहुवचन में जस् तथा जस् को शि हो माषवाप इ बना। नुम् आगम हो माष वाप न् इ हुआ। दीर्घ हो (सर्वनाम स्थाने च सू. से) माष वापा नि शब्द बना। सूत्र विहीत णत्व आदेश हो माषवापाणि एवं आदेश के अभाव में माषवापानि शब्द बने। यह नुम् के नकारणत्व का उदाहरण है। माषवापेण, माषवापेन– माषवाप टा > माषवाप इन > माषवापेन। यहाँ माषवापेन शब्द का नकार विभक्ति का नकार है अतः सूत्र द्वारा वैकल्पिक णत्वादेश विहित हुआ। णत्व पक्ष में 'माषवापेण' एवं णत्वाभाव पक्ष में 'माषवापेन' शब्द बने।

(12) " एकाजुत्तरपदे णः। " (8.4.12)

जिस समास का उत्तरपद एकाच् हो उसके पूर्वपदस्थ निमित्त से उत्तर प्रातिपाकिकान्त, नुम् विभक्ति के नकार को णकारादेश (नित्य) हो।

उदा.– प्रातिपदिकान्त णत्व – वृत्रहणौ, वृत्रहणः।

नुम्– णत्व – क्षीरपाणि, सुरापाणि।

विभक्ति – क्षीरपेण, सुरापेण ।

वृत्रहणौ – वृत्रहन् औ । वृत्रहन् प्रातिपदिक है अतएव एकाच् उत्तरपद औ परे रहते नकारान्त प्रातिपदिक के नकार को णत्व हुआ– वृत्रहण् औ=वृत्रहणौ ।

वृत्रहणः – वृत्रहन् जस् > वृत्रहन् अस् । णत्वादेश होकर वृत्रहण् अस्= वृत्रहणः।

क्षीरपाणि– क्षीर पा क> क्षीरप जस्>क्षीरप शि> क्षीरप इ > क्षीरप न् इ > क्षीरपानि । नुम् के नकार को णत्व हो क्षीरपाणि ।

क्षीरपेण – क्षीर पा क > क्षीरप टा> क्षीरप इन > क्षीरपेन । विभक्ति के नकार को णत्वादेश हो – क्षीरपेण ।

(13) " कुमति च " (8.4.13)

पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर कवर्गवान् शब्द उत्तरपद रहते भी प्रातिपदिकान्त, नुम् तथा विभक्ति के नकार को णकार आदेश होता है ।

उदा.– प्रातिपदिकान्त – वस्त्रयुगिणौ, वस्त्रयुगिणः ।

नुम् – वस्त्रयुगाणि ।

विभक्ति – खरयुगेण ।

वस्त्रयुगिणौ – वस्त्रयुग इनि > वस्त्रयुगिन् औ । वस्त्रयुगिन् के नकार को प्रातिपदिकान्त णत्व हो वस्त्रयुगिण् औ= वस्त्रयुगिणौ ।

वस्त्रयुगाणि – वस्त्रयुग शि > वस्त्रयुगन् इ > वस्त्रयुगानि । नुम् णत्व हो वस्त्रयुगाणि । खरयुगेण – खरयुग इन > खरयुगेन > खरयुगेण ।

(14) " उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य । " (8.4.14)

उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर णकार उपदेश में है जिसके ऐसे धातु के नकार को असमास में तथा अपि ग्रहण से समास में भी णकार आदेश होता है ।

उदा. प्रणमति, परिणमति, प्रणायकः आदि । प्रणमति – प्रनम् तिप् । यहाँ प्र एवं नम् का समास हुआ है तथा उससे प्रथमा एकवचन में तिप् प्रत्यय हुआ है । नम् धातु णोपदेश है अर्थात् उपदेशावस्था में इसका स्वरूप णम् है और सूत्र "णो नः" से णकार को नत्व हुआ है इसलिए णत्वनिमित्तक उपसर्ग से उत्तर णोपदेश नम् को णत्वादेश होगा – प्र णम् तिप्=प्रणमति ।

प्रणायकः – प्र णीञ् >प्र नी ण्वुल् > प्र नै अक > प्र न् आय् अक > प्रनायक । णत्व हो प्रणायक ।

(15) " हिनुमीना " (8.4.15)

उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर हिनु तथा मीना के नकार को णकार आदेश होता है ।

उदा. प्रहिणोति, प्रहिणुतः । प्रमीणाति, प्रमीणीतः आदि ।

प्रहिणोति – प्र हि श्नु तिप्> प्र हि नु ति>प्रहिनु ति । यहाँ प्र उपसर्गपूर्वक "हि गतौ" से स्वादिगण की धातु होने से श्ना विकरण हुआ और 'हिनु' ऐसा धातु स्वरूप प्राप्त हुआ अब रेफयुक्त उपसर्ग से

परे हिनु के नकार को प्रकृत सूत्र द्वारा णत्व प्राप्त हुआ - प्र हि णु ति = प्रहिणोति ।
प्रमीणाति - प्र मीञ् श्ना तिप् । यहाँ मीञ् को क्र्यादित्वात् श्ना विकरण होकर मीना ऐसा स्वरूप प्राप्त हुआ । आलोच्य सूत्र द्वारा मीना के नकार को णत्व हो-प्र मीणा ति= प्रमीणाति शब्द सिद्ध हुआ ।

(16) " आनि लोट् " (8.4.16)

उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर लोडादेश जो आनि इसके नकार को णकार आदेश होता है ।
उदा.- प्रवपाणि, प्रयाणि, परियाणि आदि ।
प्रवपाणि- प्र वप् लोट् > प्र वप् मिप् > प्र वप् नि > प्र वप् आट् नि=प्रवपानि । प्र उपसर्ग है और णत्वनिमित्तयुक्त है इससे उत्तर लोडादेश आनि है तथा निमित्त एवं निमित्ती के बीच अट् अकार, वकार,आकार, पवर्ग के पकार का व्यवाय है । इस दशा में उपर्युक्त सूत्र द्वारा णत्वादेश प्राप्त होता है । णत्व हो-- प्रवपाणि ।

(17) "नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोति--देग्धिषु च ।" (8.4.17)

उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर नि के नकार को णकार आदेश होता है, गद, नद, पत, पद, घुसंज्ञक मा, स्यति, हन्ति, याति, वाति, द्राति, प्साति, वपति, वहति, शाम्यति, चिनोति एवं देग्धि धातुओं के परे रहते भी ।

गद- प्रणिगदति
नद- प्रणिनदति
पत- प्रणिपतति
पद- प्रणिपद्यते
घुसंज्ञक- प्रणिददाति, प्रणिदधाति
माङ्.- प्रणिमिमीते
मेङ्.- प्रणिमयते
स्यति - प्रणिष्यति
हन्ति - प्रणिहन्ति
याति - प्रणियाति
वाति -प्रणिवाति
द्राति - प्रणिद्राति
प्साति - प्रणिप्साति
वपति - प्रणिवपति
वहति -प्रणिवहति
शाम्यति - प्रणिशाम्यति
चिनोति - प्रणिचिनोति
देग्धि - प्रणिदेग्धि

प्र उपसर्ग पूर्वक नि, इससे परे गद अथवा नद या पत धातु पुनः तिप्

प्रत्यय हो तो उपर्युक्त सूत्र से 'नि' के णकार को णत्व हो प्रणिगदति, प्रणिनदति, प्रणिपतति आदि रूप बनेंगे। पद से आत्मनेपद का त प्रत्यय हो नि णत्व होने पर प्र णि पद्यते=प्रणिपद्यते शब्द सिद्ध होगा।
प्रणिददाति, प्रणिदधाति – प्र नि दा तिप् तथा प्र नि धा तिप्। नि के नकार को णत्व हो प्रणिददाति, प्रणिदधाति शब्द बने।"दाधाघ्वदाप्" से दा एवं धा की घुसंज्ञा हुई है अतः ये दोनों घुसंज्ञक के उदाहरण हैं।
माङ्. से माङ्. माने तथा मेङ्. प्रणिदाने इन दोनों का ग्रहण हुआ है।[10] प्र नि मा त, प्रनि मे त इस दशा में रेफयुक्त प्र से परे रहते नि को णत्व होगा क्योंकि इससे परे सूत्रोपदिष्ट माङ्. (माङ्. तथा मेङ्.) धातु है। णत्व हो माङ्. के प्रसंग में प्र णि मिमीते=प्रणिमिमीते तथा मेङ्. के प्रसंग में प्र णि मयते=प्रणिमयते आदि रूप बनेंगे।
णत्वनिमित्तक रेफयुक्त प्र उपसर्ग पूर्वक नि, इससे परे स्यति, हन्ति, याति, वाति, द्राति, प्साति, वपति, वहति, शाम्यति, चिनोति, देग्धि इत्यादि हों तो सूत्र द्वारा नि के नकार को णत्व होगा और --- प्रणिष्यति, प्रणिहन्ति, प्रणियाति, प्रणिवाति, प्रणिद्राति आदि शब्द सिद्ध होंगे।
प्र के समान ही णत्वनिमित्तक रेफ अथवा षत्व से युक्त उपसर्गपूर्वक नि को सूत्रोक्त शब्दों के परे रहते णत्वादेश होगा यथा -- परिणिनदति, परिणिद्राति आदि।

(18) " शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे " (8.4.18)

जो उपदेशावस्था में ककारादि या खकारादि या षकारान्त नहीं है ऐसी शेष धातुओं के परे रहते नि के नकार को विकल्प से णकारादेश होता है यदि नि से पूर्व णत्वनिमित्तक उपसर्ग हो तो।
उदा.– प्रनिपचति, प्रणिपचति। प्रणिभिनत्ति, प्रनिभिनत्ति।
प्रणिपचति, प्रनिपचति---- प्र नि पच् तिप्। यहाँ णत्वनिमित्तक उपसर्ग से परे नि है तथा नि के परे पच् धातु है। पच् धातु ककारादि अथवा खकारादि नहीं है और यह षकारान्त भी नहीं है। इस दशा में नि को वैकल्पिक णत्व प्राप्त होता है। णत्व हो – प्र णि पच् शप् तिप् = प्रणिपचति। णत्वाभाव में प्र नि पच् शप् तिप्=प्रनिपचति। अककारादि अखकारादि अषकारान्त प्रतिषेध कथन के कारण प्रनिकरोति, (कृप) प्रनिखादति, (खाद) प्रनिपिनष्टि (पिष्) इत्यादि में णत्व नहीं होता उपदेशावस्था में ही प्रतिषेध कथन से विश् धातु से निष्पन्न प्रणिवेष्टा प्रनिवेष्टा ये दोनों रूप सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि उपदेशावस्था में यह धातु षकारान्त नहीं। "व्रश्चभ्रस्ज· आदि सूत्र द्वारा बाद में षत्वादेश होता है। इसी प्रकार प्रनिचकार, प्रनिचखाद, प्रनिपेक्ष्यति आदि में उपदेशावस्था में ककारादि, खकारादि, षकारान्त धातु होने से प्रतिषेध होगा।

(19) " अनितेरन्तः " (8.4.19)

उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तरपद के अन्त में स्थित अन धातु के नकार को णकार आदेश होता है।

(20) " उभौ साभ्यासस्य " (8.4.20)

उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर अभ्यास सहित अन धातु के दोनों नकारों को णकार आदेश होता है।

उदा. प्राणिणिषति, प्राणिणत्, पराणिणत्।

प्राणिणिषति – प्र अन् सन् > प अन् इट् स > प्र अनि स > प्र अनि नि स > प्रानिनिस। प्र उपसर्ग में रेफ है अतः साभ्यास अन धातु के दोनों णकारों – धातु एवं अभ्यास के नकार, को णत्व होगा – प्राणिणिस। तिबादि हो प्राणिणिषति।

प्राणिणत्– प्र उपसर्गपूर्वक अन् धातु से लुङ्। णिच् तिप् च्लि, चलि को चङ् आदि होकर – प्र अन् इ अ त् ऐसा रूप बना। अनि के नि को द्वित्व हो प्र अनि नि अ त्। णि लोप हो प्र अनि न् अ त्>प्रानि नत्। अब आलोच्य सूत्र द्वारा धातु एवं अभ्यास के नकार को णत्व हो प्राणिणत् शब्द सिद्ध हुआ।

(21) " हन्तेरत्पूर्वस्य " (8.4.21)

उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर अकार पूर्व में है जिस हन् धातु के नकार के ऐसे हन् के नकार को णकारादेश होता है।

उदा.– प्रहण्यात्, प्रहणनम्, परिहणनम् आदि।

प्रहण्यात् – प्र हन् लिङ्. > प्र हन् यासुट् तिप् > प्र हन् या त्। प्र उपसर्ग णत्वनिमित्त युक्त है और हन् के नकार के पूर्व अकार है अतः सूत्र द्वारा हन् के नकार को णत्व प्राप्त है। णत्व हो– प्र हण् या त् = प्रहण्यात्।

परिहणनम् – परि हन् ल्युट् > परि हन् अन > परिहनन। परि उपसर्ग णत्वादेशप्राप्ति संबंधी निमित्त से युक्त है तथा हन् के नकार के पूर्व अकार है अतः धातु के नकार को णत्व होगा – परि हणन सु=परिहणनम्।

अकारपूर्वक नकार को णत्व होने से प्रघ्नन्ति इत्यादि स्थल पर णत्व नहीं हुआ क्योंकि यहाँ हन् की उपधा का लोप हो गया है। इसी प्रकार प्राघानि इत्यादि में भी नहीं हुआ क्योंकि यहाँ न के पूर्व आकार है अकार नहीं।

(22) " वमोर्वा " (8.4.22)

उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर अकार पूर्ववाले हन् धातु के नकार को विकल्प से व तथा म परे रहते णकार आदेश होता है।

उदा.– प्रहण्वः, परिहण्वः। आदेशाभाव में – प्रहन्वः, परिहन्वः। इसी प्रकार प्रहण्मः, प्रहन्मः आदि।

प्रहण्वः, प्रहन्वः – प्र हन् वस् > प्रहन्वस् यहाँ प्राप्त हुआ। णत्व हो प्रहण्वः तथा णत्व के अभाव में प्रहन्वः शब्द सिद्ध हुए।

प्रहण्मः, प्रहन्मः – प्र हन् मस्। णत्व हो प्रहण्मः तथा णत्वाभाव में प्रहन्मः शब्द सिद्ध हुए।

(23) " अन्तरदेशे " (8.4.23)

अन्तः शब्द से उत्तर आकार पूर्व में है जिस हन् के नकार के उस नकार को णत्वादेश होता है यदि देश का अभिधान न हो तो।

उदा. अन्तर्हणनं वर्तते।

अन्तर्हणनं - अन्तर् हन् ल्युट् > अन्तर्हन् अन > अन्तर्हनन सु > अन्तर्हननम्। णत्व हो अन्तर्हणनम्।

देश का अभिधान होने पर णत्व नहीं होगा जैसे - अन्तर्हननोदेशः।

(24) " अयनं च " (8.4.24)

अन्तः शब्द से उत्तर अयन शब्द के नकार को भी णकार आदेश होता है, देश का अभिधान न हो तो।

उदा.- अन्तरयणं वर्तते। अन्तरयणं - अन्तर् अयन सु > अन्तरयनम्। अयन के नकार को णत्व हो अन्तरयणम्।

(25) " छन्दस्यृदवग्रहात् " (8.4.25)

वेद विषय में ऋकारान्त अवगृह्यमाण पूर्वपद से उत्तर नकार को णकारादेश होता है।

उदा.- नृमणाः, पितृयाणम्।

नृमणा, पितृयाणम् - यहाँ नृ एवं पितृ ऋकारान्त पूर्वपद है और पदकाल में अवगृह्यमाण है अतः इनसे परे रहते क्रमशः मना एवं यानम् के नकार को सूत्र द्वारा णत्व हुआ।

अवग्रहात् का अर्थ है अवगृह्यमाणात्। अवगृह्यते = विच्छिद्य पठ्यते। इस प्रकार पदकाल में (पद पाठ काल में) जिसे विच्छेद कर पढ़ा जाय ऐसा विच्छिद्यमान ऋकारान्त पूर्वपद पूर्व में हो तो उत्तरपदस्य नकार को णत्व होगा। इससे अनवगृह्यमाण ऋकारान्त पूर्वपद के प्रसंग में उपर्युक्त आदेश नहीं होता।

(26) " नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः " (8.4.26)

धातु में स्थित निमित्त से उत्तर तथा षु एवं उरु शब्द से उत्तर नस् के नकार को वेद विषय में णकार आदेश होता है। उदा. -

धातुस्थ निमित्त से उत्तर -- अग्ने रक्षा णः शिक्षा णो अस्मिन्।

उरुणस्कृधि। - उरु शब्द से उत्तर।

अभीषु णः सखीनाम् - षु शब्द से उत्तर।

रक्षा णः - यहाँ लोट् मध्यमपुरुष एकवचन में 'द्व्यचोऽतस्तिङः' सू. से दीर्घ हो रक्ष् धातु से निष्पन्न रक्षा शब्द है जो णत्वनिमित्त से युक्त है। इससे परे अस्मद् को आदिष्ट नस् शब्द है सूत्रद्वारा नस् के नकार को णत्व हो - रक्षा नस् > रक्षा णस् = रक्षा णः।

उरुणस्कृधि - उरु नस् कृधि। उरु पूर्वपद से उत्तर नस् के नकार को णत्व हो - उरु णस् कृधि = उरु णस्कृधि। ऊषुः णः ऊतये - ऊषु नस्। णत्व हो ऊषु णस् > ऊषु णः।

(27) " कृत्यचः " (8.4.28)

अच् से परे कृत् में जो नकार उसको णकारादेश हो यदि वह उपसर्ग में स्थित

निमित्त से उत्तर हो तो।

उदा. प्रयाणम्, प्रमाणम्, प्रयायमाणम्, प्रयाणीयम्, अप्रयाणि:, प्रयायिणौ, प्रहीण:, प्रहीणवान्।

प्रयाणम् – प्र या ल्युट् > प्र या अन = प्रयान। ल्युट् (अन) कृत् प्रत्यय है तथा यह अच् (आकार) से उत्तर है। या अन इससे पूर्व णत्व निमित्त से युक्त प्र उपसर्ग है अत: सूत्र द्वारा अन के नकार को णत्व हो – प्रयान>प्रयाण बना। स्वादिकार्य होकर प्रयाणम्।

प्रयायमाणम् – प्र या शानच् > प्र या यक् मुक् आन > प्र या य म् आन > प्रयायमान। शानच् कृत् प्रत्यय है अत: कृत् के नकार को णत्व हो – प्रयायमाण बना। स्वादिकार्य हो– 'प्रयायमाणम्'।

प्रयाणीयम् – प्र या अनीयर् > प्रयानीय णत्व हो प्रयाणीय । स्वादिकार्य होकर – प्रयाणीयम्।

प्रहीण: – प्र ओहाक् क्त > प्र ही न। निष्ठा–नत्व हुए नकार को कृत् प्रत्यय होने से आलोच्य सूत्र द्वारा णत्व हो प्रहीण बना। स्वादिकार्य होकर प्रहीण:।

प्रहीणवान् – प्र हा क्तवत् > प्र ही नवत्। णत्व हो– प्रहीणवत्। स्वादिकार्य हो प्रहीणवान् ।

(28) " णेर्विभाषा " (8.4.29)

उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर ण्यन्त धातु से विहित जो कृत् प्रत्यय उसमें स्थित जो अच् से उत्तर नकार उसको विकल्प से णकार आदेश होता है।

उदा. प्रयापणम्, प्रयापनम्। प्रयापणीयम् प्रयापनीयम्। प्रयापणम् प्रयापनम् – प्र या पुक् णिच् ल्युट् प्र या प् णिच् अन > प्र या प् अन = ण्यन्त या को यहाँ कृत् ल्युट् हुआ है (पुन: णि का लोप हो गया है) सूत्र में कथित सारी स्थिति उपस्थित होने से यहाँ नकार को णत्व होगा। णत्व वैकल्पिक है अत: णत्व पक्ष में प्र याप् अण = प्रयापण, तथा णत्व के अभाव में प्रयापन प्रातिपदिक बने। इनहें स्वादिकार्य हो उपर्युक्त रूपद्वय सिद्ध होंगे। प्रयापनीयम्, प्रयापणीयम् – प्र या पुक् णिच् अनीयर् > प्र या प् अनीय = प्रयापनीय। णत्व हो – प्रयापणीय तथा णत्वाभाव में प्रयापनीय प्रातिपदिक बनेंगे। स्वादिकार्य हो प्रयापणीयम् एवं प्रयापनीयम् सिद्ध हुए।

(29) " हलश्चेजुपधात " (8.4.30)

इच् उपधावाली जो हलादि धातु उसे विहित जो कृत् प्रत्यय तत्स्थ जो अच् से उत्तर नकार उसको भी उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर विकल्प से णकारादेश होता है।

उदा. प्रकोपणम्, प्रकोपनम्।

प्रकोपणम्, प्रकोपनम् – प्र कुप् ल्युट् > प्र कोप् अन कुप् इच् उपधावाली हलादि धातु है तथा इससे पूर्व प्र उपसर्ग है अत: इससे विहित कृत् अन। (ल्युट्) के नकार को विकल्प से णत्व होगा। णत्व पक्ष में

प्रकोपण तथा अभाव पक्ष में प्रकोपन शब्द बने। विभक्तिकार्य होकर – प्रकोपणम् तथा प्रकोपनम् ये दो शब्द बने।

(30) " इजादे: सनुम: " (8.4.31)

उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर इच् आदि वाला जो नुम् सहित हलन्त धातु उससे विहित जो कृत् प्रत्यय तत्स्थ नकार को अच् से उत्तर णकार आदेश होता है।

उदा. प्रेङ्खणम्, परेङ्खणम्। प्रेङ्गणम्, परेङ्गणम् आदि।

प्रेङ्खणम् – प्र इखि ल्युट् > प्र इ नुम् ख् अन > प्रे न् खन > प्रेङ्.खन। इखि इच् आदि वाली हलन्त धातु है और इसके पूर्व णत्वनिमित्तक प्र उपसर्ग है अत: इससे विहित कृत प्रत्यय के नकार को णत्व प्राप्त हुआ। णत्व हो –– प्रेङ्. खण शब्द बना। इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो सु प्रत्यय, सु को अम् हो 'प्रेङ्खणम्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

(31) " वा निंसनिक्षनिन्दाम् " (8.4.32)

उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर निंस, निक्ष तथा निन्द धातु के नकार को विकल्प से णकारादेश होता है, कृत् परे रहते।

उदा. प्रणिंसनम्, प्रणिक्षणम्, प्रणिन्दनम्। णत्वाभाव पक्ष में – प्रनिंसनम्, प्रनिक्षणम् प्रनिन्दनम्। प्रणिंसनम्, प्रनिंसनम् – प्र निंस् ल्युट् > प्रनिंसन। सूत्रविहित णत्व हो – प्रणिंसन। स्वादिकार्य हो प्रणिंसनम्। आदेश वैकल्पिक है अत: आदेश के अभाव पक्ष में प्रनिंसनम् शब्द बनेगा।

निंस् निक्ष, निन्द ये धातुएँ उपदेशावस्था में णकारादि हैं। "णो न:" सूत्र से णकार को नत्व हुआ है। अत: "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य" से धातु के नकार को णत्व हो जाता किन्तु इस सूत्र द्वारा विहित णत्व नित्य है जबकि इन धातुओं के णत्वादेशयुक्त एवं णत्वादेश विहीन नकारयुक्त रूप भी प्राप्त होते हैं अतएव सूत्र द्वारा वैकल्पिक आदेश विहित हुआ।

सन्दर्भ - सूची

6. द्र० - सूत्र की काशिका व्याख्या।
7. द्र० - सूत्र की पदमञ्जरी टीका - काशिकावृत्ति।
8. द्र० - 'मनुष्याभिधानेऽपि देशाभिधानं गम्यते।' - द्र०-सूत्र की काशिकावृत्ति
9. - 'उशीनरादयोऽपि शब्दा: संज्ञात्वेन प्राग्देशत्वेन प्रवृत्ता: पश्चात् तत्सम्बन्धेन मनुष्येषु। तेन मनुष्याभिधाने देशाभिधानं गम्यते।'-सू०की न्यास टीका, काशिका-वृत्ति।

चतुर्थ अध्याय
'प्रकृत्यादेश'

(1) " उञः ऊँ " (1.1.17)

अवैदिक इति परे हो तो एकाच् निपात उञ् की विकल्प से प्रगृह्य संज्ञा होती है तथा उसे दीर्घ सानुनासिक ऊँ आदेश विकल्प से होता है।

उदा. ऊँ इति, उ इति, विति।

उ इति – इस दशा में सूत्र द्वारा एकाच् निपात उञ् की विकल्प से प्रगृह्य संज्ञा हुई। प्रगृह्यसंज्ञा होने पर सूत्र द्वारा वैकल्पिक ऊ आदेश प्राप्त हुआ। आदेश के पक्ष में – ऊ इति, शब्द सिद्ध हुआ। आदेश के अभाव में 'उ' के प्रगृह्य होने से प्रकृतिभाव होकर 'उ इति– ऐसा प्रयोग निष्पन्न हुआ। उञ् को प्रगृह्यसंज्ञा न होने पर यण् वकारादेश हो – व् इति = विति, ऐसा रूप सिद्ध हुआ।

विशेष – इस एक सूत्र का योग विभाग कर दो सूत्रों के रूप में काशिका, सिद्धान्त कौमुदी आदि ग्रन्थों में सूत्र पाठ किया गया है। एकसूत्रत्व की स्थिति में "उञ् को ऊँ आदेश हो शाकल्य के मत में "ऐसा सूत्रार्थ होता अतः शाकल्य के मत में 'ऊँ इति' तथा अन्यों के मत में 'उ इति' ये दो रूप ही सिद्ध होते। 'विति' रूप नहीं सिद्ध होता क्योंकि सू. "निपात एकाजनाङ्." से एकाच् निपात उञ् की नित्य प्रगृह्यसंज्ञा होती और प्रगृह्यसंज्ञक उ से परे इति का प्रकृतिभाव होता। सूत्र का योग विभाग करने से प्रथम योग "उञः" का अर्थ हुआ – "शाकल्य के मत से उ निपात की (विकल्प से) प्रगृह्यसंज्ञा हो।" दूसरे योग ऊँ का अर्थ हुआ 'उञ् को विकल्प से ऊँ आदेश हो।' – इस प्रकार प्रथम योग में जब प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती तब यण् हो 'विति' रूप सिद्ध हो जायगा।

इस सूत्र में इसके पूर्ववर्ती सूत्र से 'शाकल्यस्य' पद की अनुवृत्ति हुई है जिसे विकल्प प्राप्त होता है। यह विकल्प प्रगृह्यसंज्ञा करने में तथा आदेश करने में – दोनों ही कार्यों में होगा।

(2) " इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ " (2.4.32)

अन्वादेश में विद्यमान जो इदम् शब्द उसे अनुदात्त अश् आदेश होता है तृतीयादि विभक्ति परे हो तो।

उदा.– आदेश वाक्य --- आभ्यां छात्राभ्याम् रात्रिरधीता।

अन्वादेश --- अथो आभ्यामहरप्यधीतम्।

इदम् भ्याम्। सूत्र–विहित अशादेश होकर – अ भ्याम्। 'सुपि च' से दीर्घ हो 'आभ्याम्' ऐसा रूप सिद्ध होगा।

इदम् शब्द का तृतीया बहुवचन का सामान्य प्रयोग का रूप भी एतत्तुल्य है वहाँ 'म्' को 'त्यदादीनामः' से अकार उसे पररूप एकादेश इद भाग का लोप हो और 'सुपि च' से दीर्घ हो आभ्याम् रूप सिद्ध होता है। यहाँ ऐसा विचार मन में आता है कि जब 'आभ्याम्' आदि रूप सिद्ध

हो ही जाते हैं तो उनके लिए इदमोऽन्वा. इत्यादि सूत्ररचना व्यर्थ है। इस शङ्का का समाधान दिया गया – 'साकच्क इदम्' के लिए यह आदेश विहित होना आवश्यक है। अकच् प्रत्यय अव्यय या सर्वनाम शब्द की टि से पूर्व होता है। (सू. अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः से) अतः इद् अकच् अम् – इस प्रकार का शब्द अकच् प्रत्यय होकर बनेगा। इस साकच्क इदम् से तृतीया बहुवचन में 'इमकाभ्याम्' शब्द बनता है। अब यदि अन्वादेश विषय में साकच्क इदम् को अशादेश विहित न किया गया तो वहाँ भी 'इमकाभ्याम्' इत्यादि रूप वाले शब्द बनने लगेंगे जब कि अन्वादेश में 'आभ्याम्' इत्यादि शब्द रूपों की अपेक्षा है। इससे 'इमकाभ्याम् छात्राभ्याम् छन्दोऽध्यापय। अथो आभ्याम् व्याकरणमप्यध्यापय' में 'अथो' 'आभ्याम्' के स्थान पर 'अथो इमकाभ्याम्' शब्द प्रयुक्त होने लगता इसलिए इस सूत्र द्वारा किया गया आदेश विधान सर्वथा उचित एवं उपयोगी है।

अन्वादेश का अर्थ है – कथितानुकथन। एक ही अभिधेय का पूर्व वाक्य (आदेश वाक्य) में प्रतिपादन तथा पुनः उसी के विषय में परवर्ती वाक्य (अन्वादेश) में प्रतिपादन होना ही अन्वादेश विषय है। यथा अस्य छात्रस्य शोभनं शीलम्; इस आदेश वाक्य में अभिधेय छात्रों के विषय में कुछ कहा गया। पुनः 'अथो अस्य प्रभूतं स्वम्–' इस वाक्य में उसी अभिधेय– उन्हीं छात्रों के विषय में कुछ और जानकारी दी गई। इस प्रकार द्वितीय वाक्य अन्वादेश वाक्य हुआ। 'अथो' – यह शब्द अन्वादेश विषय का ज्ञान कराता है। इससे देवदत्तं भोजय इमं च यज्ञदत्तम्। इन वाक्यों में सूत्रविहित कार्य अप्राप्त है क्योंकि दोनों वाक्यों के भिन्न–भिन्न अभिधेय हैं। यहाँ अन्वादेश का प्रसंग ही नहीं है।

इस व्यवस्था में किंचित दोष भी है। अकच् प्रत्यय अज्ञातादि अर्थ की विवक्षा में विहित किया गया है। जैसे– कस्यायं अश्वः इति अश्वकः। यहाँ कठिनाई यह आती है कि अन्वादेश विषय में अकच् की उत्पत्ति ही नहीं होती क्योंकि आदेश वाक्य का अभिधेय और अन्वादेश वाक्य का अभिधेय एक ही होता है। **अन्वादेश** में आदेश वाक्य के अभिधेय के विषय में ही कुछ कथन किया जाता है जिससे अज्ञातता नहीं रह जाती। इस प्रकार अन्वादेश विषय में अज्ञातता का निर्वाह न होने से अकच्–उत्पत्ति संभव नहीं और जब अकच् की उत्पत्ति ही संभव नहीं तो साकच्क कार्य हेतु अशादेश विधान उचित नहीं प्रतीत होता। इस विषय में भाष्यकार पतंजलि ने भी कहा है –'अथवा विचित्रास्तद्धितवृत्तयः। नान्वादेशेऽकजुत्पत्स्यते।"[1]

(3) **" एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ "** (2.4.33)

अन्वादेश–विषयक जो एतद् शब्द उसे अनुदात्त अश् आदेश होता है यदि त्र अथवा तस् प्रत्यय परे हो और वे त्र तथा तस् भी अनुदात्तहों।

सूत्र द्वारा एतद् को अनुदात्त अश् तथा त्र, तस् को अनुदात्त स्वर– ये दो आदेश विहित किए गए।

उदा.– एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः । अथो अत्र युक्ता अधीमहे । – त्र परे रहते । एतस्माच्छात्राच्छन्दोऽधीष्व । अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व ।– तस् परे रहते ।

अत्र – एतद् त्रल् > एतद् त्र । सूत्र विहित आदेश–अनुदात्त अश् प्रकृति को तथा अनुदात्त स्वर प्रत्यय को, होकर– अ. त्र = अत्र

अतो = अतः – एतद् तसिल् > एतद् तस् । सूत्रविहित आदेशों के होने पर– अ त स् = अ तः > अतो ।

(4) " द्वितीयाटौस्स्वेनः " (2.4.34)

द्वितीया, टा, ओस् इन विभक्तियों के परे होने पर अन्वादेश विषयक इदम् और एतद् को अनुदात्त 'एन' आदेश होता है ।

उदा. इदम् ।

द्वितीया एकवचन – इमं छात्रं छन्दो अध्यापय, अथो एनं व्याकरणमध्यध्यापय ।

टा– अनेन छात्रेण रात्रिरधीता, अथो एनेनाहरप्यधीतम् ।

ओस्. – अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम् अथो एनयोः प्रभूतं स्वम् ।

एतद् – द्वितीया– एतं छात्रम् छन्दोऽध्यापय् अथो एनं व्याकरणमध्यध्यापय ।

टा – एतेन छात्रेण रात्रिरधीता, अथो एनेनाहरप्यधीतम् ।

ओस् – एतयोः छात्रयोः शोभनं शीलम् अथो एनयोः प्रभूतं स्वम् ।

एनं – इदम् अथवा एतद् अम् । अनुदात्त एन आदेश हो– एन् अम् । पूर्वरूप हो एनम् ।

एनौ–इदम् या एतद् औ । प्रकृति को अनुदात्त एन् आदेश हो – एन् औ = एनौ ।

एनान् – इदम् अथवा एतद् शस् । प्रकृति को एन आदेश हो– एन अस् । > एनास् = एनान् ।

एनेन – इदम् या एतद् टा । सूत्र विहित आदेश होकर – एन टा । टा को इन हो एनेन ।

एनयोः – इदम अथवा एतद् ओस् । प्रकृति को एन आदेश हो – एन् ओस्> 'एन' के अकार को 'ओसि च' से इकार तथा इकार के परे ओकार होने से इकार को अयादेश हो एन् अय् ओस् = एनयोः शब्द सिद्ध हुआ ।

(5) " अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति " (2.4.36)

अद को जग्धि आदेश होता है यदि ल्यप् अथवा तकारादि कित् आर्धधातुक प्रत्यय परे हो तो ।

उदा.– प्रजग्ध्य, जग्धः, जग्धवान् आदि ।

प्रजग्ध्य – प्र अद् क्त्वा > प्र अद् ल्यप् । ल्यप् परे रहते अद् को जग्ध् आदेश हो – प्र जग्ध् ल्यप् = प्रजग्ध्य । जग्धः– अद् क्त । तकारादि कित् आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अद् को जग्ध् आदेश हो – जग्ध् त । प्रत्यय के त को धकार धातु के ध् को जश् दकार और उसका लोप हो जग्धः जग्ध से सु हो जग्धः शब्द सिद्ध हुआ ।

जग्धवान् – अद् क्तवत्। अद् को जग्ध आदेश हो– जग्धतवत् > जग्धवत् सु = जग्धवान्।

(6) " लुङ्सनोर्घस्लृ" (2.4.37)

लुङ् और सन् आर्धधातुक परे हो तो अद् को घस्लृ (घस्) आदेश होता है।

उदा.– अघसत्, जिघत्सति। अघसत् – अद् तिप् (लुङ्)>अट् अद् अङ् ति। घस् आदेश हो–अ घस् अङ् त् = अघसत्।

जिघत्सति – अद् सन् तिप् > अद् को घस्लृ आदेश हो– घस् सन् तिप्। द्वित्व, अभ्यासकार्य, घस् के सकार को तकारादेश हो जिघत्सति' रूप सिद्ध होगा।

(7) " घञपोश्च " (2.4.38)

घञ् तथा सन् अप् प्रत्ययों के परे रहते भी अद् को घस्लृ आदेश होता है। सूत्रस्थ चकार अनुक्तसमुच्चयार्थ है अतः अच् परे रहते भीअद् को घस् होगा।

उदा.– घासः, प्रघसः, प्रघसः। घासः – अद् घञ्। अद को घस्लृ हो – घस् अ। उपधादीर्घ, प्रथमा एकवचन में सु हो 'घासः' शब्द निष्पन्न हुआ।

प्रघसः – प्र अद् अप् अथवा अच् > प्र अद अ। अद को घस् आदेश हो – प्र घस् अ= प्रघस। स्वादिकार्य हो 'प्रघसः' सिद्ध हुआ।

(8) " बहुलं छन्दसि " (2.4.39)

छन्द (वेद) विषय में घञ् या अप् परे रहते अद् को घस्लृ आदेश बाहुलकात् होता है।

उदा.– अश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने। घस्तान्नूनम्। अभाव पक्ष का उदाहरण– आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम्।

घासम् – अद घञ्। अद को घस् आदेश होकर घस् अ। घास् अ = घास। विभक्तिकार्य होकर घासम् बना।

घस्ताम् – अद अप् । घस् आदेश हो – घस् अ = घस से लुङ् का तस् (उसे ताम्)हो प्रयोग सिद्ध होगा। आत्ताम् – अद् ताम्। यहाँ अद् को घस्लृ नहीं हुआ।

(9) " लिट्यन्यतरस्याम् " (2.4.40)

लिट् के प्रत्यय परे हों तो अद् को घस् आदेश विकल्प से होता है।

उदा.– जघास, जक्षतुः, जक्षुः।– आदेश होकर।

आद, आदतुः, आदुः।– आदेश के अभाव में।

जघास – अद् णल्। अद् को घस्लृ आदेश हो – घस् अ। द्वित्व अभ्यासकार्य उपधादीर्घ हो –जघास।

आद – अद् णल्। यहाँ अद् को घस्लृ आदेश नहीं हुआ। द्वित्व, अभ्यासकार्य, अभ्यासदीर्घ आदि होकर 'आद' शब्द सिद्ध होगा।

(10) " वेञो वयिः " (2.4.41)

आर्धधातुक लिट् प्रत्यय परे हो तो 'वेञ्' को 'वयि' आदेश विकल्प से

होता है। 'वयि' में इकार उच्चारणार्थ है मूल आदेश 'वय्' है।
उदा.- आदेश पक्ष में - उवाय, ऊयतुः, ऊयुः। ऊवतुः, ऊवुः।
आदेश के अभाव में- ववौ, ववतुः, ववुः।
उवाय - वेञ् णल्। आदेश होकर - वय् अ। द्वित्व अभ्यासकार्य हो-उ वय् अ, उपधादीर्घ होकर 'उवाय' शब्द सिद्ध हुआ। ववौ - वेञ् णल् > वा औ > वा वा औ > ववौ। -आदेश के अभाव में यह रूप बनेगा

(11) " हनो वध लिङि. " (2.4.42)

लिङ्. आर्धधातुक प्रत्यय परे हो तो हन को वध आदेश हो जाता है।
उदा.- वध्यात्,वध्यास्ताम्,वध्यासुः।
वध्यात् हन तिप्। हन् को वध आदेश हो - वध तिप्। यासुट् विकरण तिप् के इकार का तथा यासुट् के सकार का लोप इत्यादि कार्य होकर 'वध्यात्' रूप सिद्ध होता है।

(12) " लुङि. च " (2.4.43)

लुङ्. आर्धधातुक के परे रहते भी हन को वध आदेश हो जाता है।
उदा.- अवधीत्, अवधिष्टाम्, अवधिषुः।
अवधीत् - अट् हन् तिप्। हन को वध आदेश होकर - अ वध तिप्। इट्, सिच्, ईट् आगम होकर, सिच् के स् का लोप, दोनों इकार (इ एवं ई)को सवर्णदीर्घ हो अवधीत् रूप बना।
अवधिष्टाम् - अट् हन् तस् > अट् हन् ताम्। हन् को वध आदेश हो-अ वध ताम्। च्लि,च्लि को सिच् आदेश सिच् को इट् आगम, सकार को षत्व, त को ष्टुत्व हो शब्द सिद्ध हुआ।

(13) " आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् " (2.4.44)

लुङ्. लकार में आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्ययों के परे रहते हन् को विकल्प से वध आदेश होता है।
उदा.- आवधिष्ट, आवधिषाताम्, आवधिषत।- आदेश होकर। आहत आहसाताम्, आहसत -- आदेश के अभाव में।
आवधिष्ट - आङ्. हन् लुङ्. > आङ्. हन् त > आ हन् त। सूत्र द्वारा विहित आदेश होकर- आ .वध त। धातु को अट् आगम, धातु को च्लि > सिच् विकरण, सिच् को इट् आगम आङ्. एवं अट् को सवर्णदीर्घ, स को षत्व त को ष्टुत्व हो आवधिष्ट शब्द सिद्ध हुआ।
इसी प्रकार 'आताम्' एवं झ प्रत्यय परे रहते हन् को वध आदेश होकर आवधिषाताम् एवं आवधिषत शब्द सिद्ध हुए।
आहत - आङ्. हन् त । वधादेश का विधान वैकल्पिक है अतः जब आदेश नहीं हुआ तो मूल धातु ही रह गई और उसे सिच् विकरण, स का लोप,धातु के अनुनासिक (नकार का) का लोप हो-आ ह त=आहत शब्द बना। इसी प्रकार 'आताम्' एवं 'झ' प्रत्ययों के परे रहते आ ह स् आताम् = आहसाताम् एवं आ ह स् अत = आहसत रूप सिद्ध हुए। इनमें भी प्रकृति को वध आदेश नहीं हुआ।

(14) " इणो गा लुङि " (2.4.45)

लुङ् परे हो तो 'इण्' प्रकृति को 'गा' आदेश हो जाता है।
उदा. अगात्, अगाताम्, अगुः।
अगात्– इण् तिप् (लुङ्)। इण् प्रकृति से परे लुङ् का तिप् प्रत्यय है अतएव प्रकृति को 'गा' आदेश हुआ--- गा तिप्। धातु को अट् आगम तथा धातु से परे च्लि > सिच् विकरण, सिच् का लोप तथा तिप् के इकार का लोप हो अभीष्ट रूप सिद्ध होगा। अगाताम्– इण् तस्> इण् ताम्। प्रकृति को 'गा' आदेश होकर--- गा ताम्। अट् आगम च्लि विकरण, च्लि को सिच्, सिच् का लोप हो उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हुआ।
अगुः– इण् झि > इण् जुस्। प्रकृति को सूत्रविहित आदेश हो – गा जुस्। अट् आगम, च्लि > सिच् विकरण, सिच्लोप प्रत्यय के सकार को रुत्व–विसर्ग हो अभीष्ट रूप सिद्ध होगा।

(15) " णौ गमिरबोधने " (2.4.46)

णिच् परे हो तो अबोधनार्थक (अज्ञानार्थक) इण् धातु को गमि (गम्) आदेश हो जाता है।
उदाहरण– गमयति, गमयतः, गमयन्ति। इन उदाहरणों में विद्यमान इण् धातु गत्यर्थक (इण् गतौ) धातु है अतएव प्रकृति को गमि आदेश हुआ। 'प्रत्याययति' प्रत्यायतः इत्यादि प्रयोगों में विद्यमान इण् धातु ज्ञानार्थक या बोधनार्थक है अतः इन स्थलों में प्रकृति को आदेश नहीं हुआ। गमयति – इण् णिच् तिप् (लट् संबंधी)। इण् को सूत्रोपदिष्ट आदेश हो – गम् इ ति=गमि ति। शप् विकरण, इकार को गुण और अय् हो गमयति शब्द सिद्ध हुआ।

(16) " सनि च " (2.4.47)

सन् प्रत्यय परे होने पर भी इण् को गमि आदेश होता है यदि धातु अबोधनार्थक हो तो।
उदाहरण– जिगमिषति, जिगमिषतः आदि।
जिगमिषति– इण् (गतौ) सन्। प्रकृति को गम् आदेश हो – गम् सन्। इट् आगम, धातु को द्वित्व अभ्यासकार्य तथा सन् के सकार को षत्व हो 'जिगमिषति' प्रयोग सिद्ध हुआ।
विशेष– अज्ञानार्थक इण् को ही आदेश विहित होने से अवबोधनार्थक इण् के प्रसंग में आदेशकार्य नहीं होगा अतएव 'प्रतीषिषति' इत्यादि शब्द प्रयोगों में विद्यमान इण् प्रकृति को आदेश नहीं हुआ।
णिच् परे रहते गमि आदेश, सन् परे रहते गमि आदेश तथा लुङ् परे रहते गा आदेश ये इण् प्रकृति के समान ही इक् (स्मरणे) प्रकृति को भी हों ऐसा वार्तिककार का अभिमत है। (वा.--- "इण्वदिक इति वक्तव्यम्")। अतः अधि इक् तिप् (लुङ् संबंधी) > अधि गा तिप् =अध्यगात्; अधि इक् णिच् तिप् > अधि गम् णिच् तिप् = अधिगमयति, अधि इक् सन् तिप् (लट् संबंधी) > अधि गम् सन् तिप् = अधिजिगमिषति – इत्यादि शब्द–प्रयोगों में भी प्रसंगानुसार गा अथवा गमि

आदेश (इक् प्रकृति के स्थान पर) परिलक्षित होते हैं।

(17) " इङ्श्च " (2.4.48)

सन् प्रत्यय परे हो तो इङ् प्रकृति को भी गमि आदेश हो जाता है। यथा--- अधिजिगांसते, अधिजिगांसाते, अधिजिगांसन्ते इत्यादि धातु-रूपों में।

अधिजिगांसते- अधि इङ् सन् त। प्रकृति को 'गमि' आदेश प्राप्त हुआ। आदेश होने पर - अधि गम् सन् त ऐसी स्थिति हुई। अब द्वित्व, अभ्यास कार्य, टि को एत्वादि हो अभीष्ट शब्द बना।

(18) " गाङ् लिटि " (2.4.49)

लिट् लकार परे रहते इङ् को गाङ् आदेश होता है।
उदाहरण- अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे आदि।

अधिजगे- अधि इङ् लिट्। इङ् को गाङ् आदेश हो- अधि गाङ् लिट्। इसके बाद लिट् एक वचन प्र.पु. में त, त को एश्, गा को द्वित्व आदि हो-अधि ज ग् ए= अधिजगे शब्द सिद्ध होगा।

विशेष- गाङ् आदेश लावस्था में ही हो जाता है अन्यथा त को अजादि एश् आदेश, आताम् तथा झ को अजादि इरेच् आदेश हो जाने पर 'द्विर्वचनेऽचि' से इङ् को गाङ् आदेश बाधित हो जाता और पहले द्वित्व पुनः गाङ् आदेश होता इससे अभ्यास में ज के स्थान पर इकार का श्रवण प्राप्त होता। वस्तुतः ऐसा प्रसंग उठने की यहाँ संभावना ही नहीं है क्योंकि गाङ् आदेश लिट्मात्र सापेक्ष है और एश् आदेश लादेश (त प्रत्यय) सापेक्ष है अतः अन्तरंगत्वात् लिट् परे रहते पहले धातु प्रकृति को गाङ् आदेश हो जायगा अर्थात् लावस्था में ही गाङ् आदेश हो जायगा पश्चात् वचन एवं पुरुष के अनुसार त, आताम् आदि लादेश किए जाएँगे। अधिजगिरे - अधि इङ् लिट् > अधि इङ् ल्। गाङ् आदेश होकर---अधि गाङ् ल्। अधि गा त > अधि गा इरेच् > अधि ज ग् इरे= अधिजगिरे।

(19) " विभाषा लुङ्लृङोः " (2.4.50)

लुङ् एवं लृङ् लकारों में इङ् धातु को विकल्प से गाङ् आदेश होता है। उदाहरण - आदेश पक्ष में-

लुङ् - अध्यगीष्ट, अध्यगीषत्, अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम्।
आदेश के अभाव में ------

लुङ् - अध्यैष्ट, अध्यैषत। लृङ् - अध्यैष्यत्,अध्यैषाताम्।

अध्यगीष्ट, अध्यैष्ट- अधि इङ् त (लुङ् सम्बंधी)। इङ् को गाङ् आदेश होकर-अधि गा त। गा को अट् आगम च्लि, च्लि को सिच् विकरण 'गाङ्कुटादिभ्यः'. सूत्र से ङित्व तथा 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' से ईत्व, षत्व, ष्टुत्व हो- अधि अगीष्ट = अध्यगीष्ट शब्द बना।

अध्यैष्ट - गाङ् आदेश के अभाव में अधि इ त इस दशा में आट् आगम आ इ को वृद्धि एकादेश, च्लि > सिच् विकरण, षत्व, ष्टुत्व हो ऐसा रूप बना।

अध्यगीष्यत, अध्यैष्यत – अधि इङ्. त (लृङ्. सम्बन्धी)। इङ्. धातु को गाङ्.हो। ... = अध्यगीष्यत।
गाङ्. आदेश के अभाव में --- अधि इङ्. त > अधि आ इ स्य त = अधि ऐ स्य त > अध् य् ऐ स्य त > अध्यैष्यत।

(20) " णौ च संश्चङोः " (2.4.51)

सन् परे है जिससे तथा चङ्. परे है जिससे ऐसे णिच् के परे रहते भी इङ्. धातु को विकल्प से गाङ्. आदेश होता है।
उदाहरण– आदेश पक्ष में–अधिजिगापयिषति (सन् के परे रहने पर), अध्यजीगपत् (चङ्. परे रहते)।
आदेश के अभाव पक्ष में – अध्यापिपयिषति तथा अध्यापिपत्।
अधिजिगापयिषति, अध्यापिपयिषति-- अधि इङ्. णिच् सन् तिप्। इङ् के परे सन्परक णिच् प्रत्यय है अतएव सूत्र द्वारा धातु को वैकल्पिक गाङ्. आदेश प्राप्त हुआ। आदेश होकर अधि गा णिच् सन् तिप् = अधिजिगापयिषति शब्द सिद्ध होगा। अध्यापिपयिषति– अधि इङ्. णिच् सन् तिप्। आदेश के अभाव पक्ष में "क्रीङ्.जीनां णौ" से इङ्. को आत्व, पुक् आगम आदि हो –अधि आप् णिच् इट् सन् तिप्–इस स्थिति में द्वितीय एकाच् 'पि' को द्वित्व, उत्तरवर्ती पि के इकार को गुण, अयादेश अधि के इकार एवं आपि के आकार को यण् हो, सन् के सकार को षत्व हो अध् य् आपि प् अय् इ ष ति=अध्यापिपयिषति शब्द सिद्ध हुआ। अध्यजीगपत्: अध्यापिपत्– अधि इङ्. णिच् चङ्. तिप्। इङ्. को गाङ्. आदेश हो – अधि गाङ्. इ अ ति ऐसा स्वरूप बना। 'गा' को पुक् आगम, द्वित्व अभ्यासादि–कार्य करने पर अधि अजीगपत् = अध्यजीगपत् शब्द सिद्ध होगा।
आदेश के अभाव पक्ष में आत्वादेश , पुक् आगम आदि हो अधि आपिपत् = अध्यापिपत् शब्द सिद्ध हुआ।

(21) " अस्तेर्भूः " (2.4.52)

आर्धधातुक का विषय यदि उपस्थित हो तो अस् धातु को भू आदेश होता है। उदाहरण– अभूत, भविता, भवितुम्,भवितव्यम्।
अभूत्– अस् लुङ्.>अट् अस् तिप्। अट् अस् च्लि तिप्> अ अस् सिच् तिप्। सिच् प्रत्यय आर्धधातुकसंज्ञक है अतएव यहाँ आर्धधातुक का विषय उपस्थित है जिससे अस् धातु को भू आदेश प्राप्त हुआ। आदेश होकर – अ भू सिच् तिप् > अ भू त् = अभूत् सिद्ध हुआ।
भविता – अस् इट् तास् डा। तास् प्रत्यय आर्धधातुक प्रत्यय है अतः अस् को भूभाव हुआ – भू इ तास् डा = भू इ त् आ = भविता।
भवितुम् – अस् इट् तुमुन्। तुमुन् प्रत्यय भी आर्धधातुक प्रत्यय है अतएव यहाँ भी अस् को भूभाव हुआ – भू इ तुम् = भवितुम्।
भवितव्यम् – अस् इट् तव्य। तव्य के आर्धधातुक होने से अस् को भू आदेश हुआ–भू इ तव्य = भवितव्यम्।
भूयात् – अस् यासुट् तिप्। यहाँ आशीर्लिङ्. सम्बन्धी यासुट् आर्धधातुक

का विषय समुपस्थित है अतएव अस् धातु को सूत्रविहित भू आदेश प्राप्त हुआ– भू यास् त् > भूयात् ।

(22) " ब्रुवो वचिः " (2.4.53)

आर्धधातुक विषय में ब्रूञ् धातु को वचि आदेश होता है। उदाहरण– वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् । वचि का इकार उच्चारणार्थ ग्रहण किया गया है अतः आदेश वच् स्वरूप का होगा।

वक्ता – ब्रूञ् तास् डा। लुट् में आर्धधातुक तास् का विषय उपस्थित होने से ब्रू को वच् आदेश हुआ – वच् त् आ > वक्ता।

वक्तुम्– ब्रूञ् तुमुन्। आर्धधातुक तुमुन् का प्रसंग होने से ब्रू को वच् आदेश हो – वच् तुम् = वक्तुम्।

उवाच – ब्रू णल्। लिट् संबंधी तिङ्. आर्धधातुक होता है अतएव तिङादेश णलादि भी आर्धधातुक हुए। आर्धधातुक का विषय समुपस्थित होने से ब्रूञ् धातु को वच् आदेश होगा – वच् णल् द्वित्व, अभ्यास–कार्यादि हो – उवाच शब्द निष्पन्न होगा।

(23) " चक्षिङः ख्याञ् " (2.4.54)

आर्धधातुक के विषय में चक्षिङ्. धातु को ख्याञ् आदेश होता है। उदाहरण – आख्याता, आख्यातुम्, आख्यातव्यम् ।

आख्याता – आङ्. चक्षिङ्. तृच्। तृच् के आर्धधातुक होने से चक्षिङ्. को ख्याञ् आदेश हुआ––––आ ख्याञ् तृ > आख्यातृ। प्रथमा एक वचन में "आख्याता" बना।

आख्यास्यति – आ चक्षिङ्. स्य तिप् इस प्रयोग में लृट् संबंधी आर्धधातुक स्य विकरण के उपस्थित होने से चक्षिङ्. को ख्याञ् आदेश होने से चक्षिङ्. को ख्याञ् आदेश हुआ – आ ख्या स्य ति = आख्यास्यति।

विशेष – इस सूत्र पर एक इष्टि एवं तीन वार्तिक हैं। इष्टि है – "क्शादिरप्ययमादेश इष्यते" अर्थात् "क्शा" स्वरूप के लिए भी आदेश कथन होना चाहिए जिससे आक्शाता, आक्शातुम् आदि शब्द स्वरूप निष्पन्न होते हैं।

वार्तिकों में दो वार्तिक निषेधपरक हैं – "वर्जने प्रतिषेधो वक्तव्यः" तथा "असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः" तथा जहाँ वर्जन अर्थ हो वहाँ आदेश का निषेध हो जैसे – "दुर्जना संचक्ष्याः" यहाँ संचक्ष्य शब्द में वर्जन अर्थ गम्यमान होने से ख्याञ् आदेश नहीं हुआ। दूसरा वार्तिक असु एवं अन प्रत्यय परे होने की स्थिति में आदेश को प्रतिषिद्ध करता है। जैसे – नृचक्षा राक्षसाः – नृ चक्षिङ्. असुन् यहाँ ख्याञ् आदेश नहीं होगा अतः नृचक्षाः स्वरूप सिद्ध हो सकेगा, तथा – "विचक्षणः पण्डितः" यहाँ वि चक्षिङ्. अन – इस प्रसंग में आदेश न करने से ही अभीष्ट शब्द "विचक्षणः" सिद्ध हो सकता है।

तीसरा वार्तिक है – "बहुले संज्ञाछन्दसोरिति वक्तव्यम् ।" अर्थात् संज्ञा एवं वेद विषय में चक्षिङ्. को ख्याञ् आदेश बाहुलकात् विहित करना चाहिए।

(24) " वा लिटि " (2.4.55)

यह सूत्र लिट् आर्धधातुक परे रहते चक्षिङ्. धातु को वैकल्पिक ख्याञ् आदेश विहित करता है। उदाहरण – आचख्यौ, आचख्युः आदि।
आदेश के अभाव में – आचचक्षे, आचचक्षाते आदि।
आचख्यौ– आ चक्षिङ्. णल्। चक्षिङ्. को ख्याञ् आदेश होकर – आ ख्याञ् णल् – ऐसा स्वरूप सम्पन्न हुआ। "आत औ णलः" से औत्व हो "आचख्यौ" शब्द सिद्ध हुआ।
आचचक्षे – आ चक्षिङ्. त। ख्याञ् आदेश के अभाव पक्ष में द्वित्व, अभ्यासकार्य, त को एशादेश इत्यादि हो इस प्रकार का शब्द सिद्ध हुआ।

(25) " अजेर्व्यघञपोः " (2.4.56)

घञ् एवं अप् प्रत्ययों को छोड़कर आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते अज् धातु को 'वी' आदेश होगा।
उदा. – प्रवयणीयः, प्रवायकः।
प्रवयणीयः – प्र अज् अनीयर्। अनीयर् घञ् एवं अप् से भिन्न आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्यय है अतः अज् को प्रकृत सूत्र द्वारा विहित "वी" आदेश प्राप्त होता है। 'वी' अनेकाल् आदेश है अतः सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर स्थानापन्न होगा। आदेश हो – प्र वी अनीय – ऐसा स्वरूप सिद्ध हुआ वी के ईकार को गुण, अयादेश, प्रत्यय के नकार को णत्व हो 'प्रवयणीय' शब्द बना। स्वादि कार्य हो प्रवयणीयः। प्रवायकः – प्र अज् ण्वुल्। अज् को वी आदेश होकर – प्र वी वु > प्र वै अक > प्रवाय् अक > प्रवायक सु > प्रवायकः।
इस सूत्र का भाष्य करते हुए महाभाष्यकार ने एक रोचक प्रसंग का वर्णन किया है। इस प्रसंग द्वारा प्राप्तिज्ञ (सूत्र प्रवृत्ति का ज्ञाता) वैयाकरण की निन्दा एवं इष्टिज्ञ (शिष्ट जनों में प्रचलित अभीष्ट शब्द प्रयोग का ज्ञाता) की प्रशंसा करते हुए महाभाष्यकार ने यह मत प्रदर्शित किया है कि वैयाकरण को लक्ष्यानुयायी होना चाहिए। केवल लक्षण का अनुसरण करने वाला वैयाकरण प्राप्तिज्ञ एवं लक्ष्य की सिद्धि के लिए लक्षण का उचित अनुसरण तथा कहीं – कहीं अननुसरण करने वाला इष्टिज्ञ कहलाता है।
प्रसंग इस प्रकार है ---- एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह– 'कोऽस्य रथस्य प्रवेतेति'। सूत आह– 'आयुष्मन्नहं अस्य रथस्य प्राजितेति'। वैयाकरण आह– 'अपशब्द' इति। सूत आह– प्राप्तिज्ञो देवानांप्रियो न त्विष्टिज्ञः, इष्यत एतद्रूपमिति। वैयाकरण आह– 'अहो नु खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामहे इति। सूत आह – 'न खलु वेञः सूतः, सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्।
वैयाकरण ने रथ के संचालक के लिए 'प्रवेता' शब्द का प्रयोग किया। प्र उपसर्गपूर्वक अज् धातु से तृच् पुनः अज् को 'वी' आदेश करके प्रथम एकवचन में प्रवेता शब्द बनता है। वैयाकरण सूत्रप्रवृत्ति का ज्ञाता था

अतः उसने अज् को 'वी' आदेशयुक्त शब्द का प्रयोग किया। रथ का सारथी लोक में व्यवहृत शब्द का ज्ञाता था अतएव उसने मूल धातुयुक्त 'प्राजिता' शब्द का ही प्रयोग किया। वैयाकरण ने 'प्राजिता' को अशुद्ध प्रयोग कहा जिस पर सारथी ने प्राप्तिज्ञ को मूर्ख बताया और स्पष्ट किया कि इष्टिज्ञ को 'प्राजिता' शब्द प्रयोग ही अभीष्ट है प्रवेता नहीं। अपने मतका इस प्रकार खण्डन होते देख वैयाकरण कुछ रुष्ट हो बोला - अहा। मैं इस दुष्ट सारथी द्वारा बाधित किया जा रहा हूं। यहाँ वैयाकरण ने दुष्ट सारथी के अर्थ में 'दुरूत' शब्द का प्रयोग किया। उसने दुर् उपसर्गपूर्वक वेञ् से क्त प्रत्यय, वकार को सम्प्रसारण, पूर्वरूप करके दुरूत शब्द सिद्ध किया। सारथी ने न केवल वैयाकरण के 'दुरूत' शब्द-प्रयोग को अनुचित बताया अपितु साधु शब्द प्रयोग को भी निर्दिष्ट किया - वेञ् से सूत नहीं बनेगा षूञ् प्रेरणे से सूत बनेगा। और कुत्सा अर्थ में 'दुःसूतेन' ऐसा शब्द बनेगा न कि दुरूत।

इस सम्पूर्ण कथोपकथन से निष्कर्ष निकलता है कि व्याकरण शिष्टजनों के बीच प्रचलित शब्द प्रयोगों का अन्वाख्याना करने वाला शास्त्र है जब कभी ऐसा अवसर उत्पन्न हो कि सूत्र प्रवृत्ति द्वारा अभीष्ट प्रयोग न सिद्ध हो रहा हो अथवा शब्द का स्वरूप सूत्र प्रवृत्ति के कारण परिवर्तित हो रहा हो तो सूत्रप्रवृत्ति को बलात् लादना उचित नहीं। व्याकरण का उद्देश्य है- "स्थितस्य गतिश्चिन्त्या" अर्थात् लोक प्रचलित शब्दों के स्वरूप की रक्षा न कि नवीन एवं अप्रचलित शब्दों की रचना। इसीलिए 'रघुनाथ' जैसे शब्द प्रयोग में "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" से प्राप्त णत्व की अवहेलना की जाती है।

(26) " वा यौ " (2.4.57)

सूत्र का सूत्रार्थ दो भिन्न अर्थों में किया गया है। काशिका के अनुसार सूत्र का अर्थ है- यु (ल्युट्) परे होते अज को विकल्प से 'वी' आदेश हो। इन्होनें सूत्रस्थ 'वा' शब्द को विकल्प सिद्धयर्थक माना है। 'यौ' शब्द से ल्युट् प्रत्यय का ग्रहण किया है। 'यु' से ल्युट् प्रत्यय के ग्रहण की व्याख्या करते हुए न्यासकार कहते हैं- 'यु' इति ल्युटोग्रहणमिति। अन्यस्यासम्भवात्। इस प्रकार का सूत्रार्थ करने वाले वैयाकरण 'प्रवयण' एवं 'प्राजन' इन दो शब्द प्रयोगोंकी सिद्धि को ध्यान में रखते हुए ऐसा सूत्रार्थ करते हैं। प्र उपसर्गपूर्वक अज् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर धातु को वैकल्पिक 'वी' आदेश होगा। आदेश पक्ष में- प्र वी अन > प्र वे अन > प्र व् अय् अन > प्रवयन=प्रवयण; तथा आदेश के अभाव में प्र अज् अन=प्राजन बनेगा। महाभाष्यकार पतंजलि द्वारा किया गया दूसरे प्रकार का सूत्रार्थ इस प्रकार है - "यु (युच्) परे हो तो अज् धातु को वा आदेश हो।" भाष्यकार का कथन है - "न इयं विभाषा, आदेशो अयं विधीयते। वा इत्ययमादेशो भवति अजेर्यौ परतः। वायुरिति।" इन्होने 'वा' को विभाषा का बोधक न मानकर आदेश माना है और यु से ल्युट् प्रत्यय का ग्रहण न कर युच् का

ग्रहण किया है। यह युच् औणादिक प्रत्यय है। इस प्रकार के सूत्रार्थ के फलस्वरूप 'वायु' शब्द की सिद्धि होती है। अज् से युच् होने पर अज् को वा आदेश करके 'वायु' शब्द बनता है।

काशिकाकार का सूत्रार्थ कथन प्रवयण एवं प्राजन जैसे आदेशयुक्त एवं आदेशरहित मूलधातुयुक्त भिन्न-भिन्न शब्द प्रयोगों की सिद्धि हेतु विकल्प फलित करने के उद्देश्य से प्रेरित है तो भाष्यकार के सूत्रार्थ का उद्देश्य 'वायु' शब्द की सिद्धि है। भाष्यकार ने 'प्रवयण' एवं 'प्राजन' शब्दों की सिद्धि अजेर्वी. सूत्र द्वारा ही की है। अजेर्वी. सूत्र पर वार्तिक था "घञपोः प्रतिषेधे क्यप् उपसंख्यानम् कर्तव्यम्" अर्थात् घञ् एवं अप् के प्रतिषेध के क्रम में क्यप् का भी प्रतिषेध कथन होना चाहिए तथा सूत्र पर एक इष्टि है "वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते" अर्थात् वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे हो तो आदेश विकल्प से हो। इससे प्रवेता, प्राजिता आदि शब्द सिद्ध होते हैं। इस वार्तिक एवं इष्टि पर अपना मत प्रकट करते हुए भाष्यकार ने व्यवस्था दी है कि क्यप् का प्रतिषेध वलादि आर्धधातुक में विकल्प कथन तथा सूत्र में "अघञपोः" कथन की भी आवश्यकता नहीं। "अजेर्व्यघञपोः" के स्थान पर 'अजेर्वी' मात्र सूत्रपाठ किया जाय। पूर्ववर्ती सूत्र 'वा लिटि' से इस सूत्र में 'वा' की अनुवृत्ति होगी। यह 'वा' व्यवस्थित विकल्प का बोधक होगा अतःआवश्यकतानुसार कहीं आदेश होगा कहीं नहीं होगा और और कहीं विकल्प से होगा। इससे प्रवेता, प्रवेतुम्, प्रवीतः तथा संवीतिः में वी आदेश होगा; समाजः, उदाजः, समजनम्, उदजनम्, समज्या आदि में 'वी' आदेश नहीं होगा। इसके अतिरिक्त प्रवेता, प्राजिता, प्रवयणम्, प्राजनम् जैसे आदेश युक्त एवं आदेशरहित रूपद्वय भी सिद्ध हो सकेंगे। इस प्रकार प्रवयण, प्रवेता इत्यादि वी आदेश युक्त एवं प्राजन प्राजिता इत्यादि आदेशविहीन शब्दों की सिद्धि प्रदर्शित करके भाष्यकार 'वा यौ' सूत्र द्वारा 'वायु' शब्द की सिद्धि के लिए 'वा' आदेश विधान का समर्थन करते हैं।

वस्तुतः उणादि प्रकरण के प्रथम सू. "कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्"[1] द्वारा 'वा' धातु से उण् प्रत्यय विहित होने से तथा वा को आकारान्त होने से युक् आगम हो वा य् उ= वायु शब्द निष्पन्न हो जाता है। पुनः वायु शब्द की सिद्धि हेतु 'वा यौ' सूत्र में अज् को वा आदेश कथन अनावश्यक है। यदि ऐसा कहा जाय कि उणादिसूत्र शाकटायनप्रणीत हैं पाणिनि प्रणीत नहीं हैं अतएव औणादिक प्रकरण में वर्णित विधि अपाणिनीय है अतः वायु शब्द की सिद्धि के लिए पाणिनीय शास्त्र होना आवश्यक है तो इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि भाष्यकार की रीति से व्युत्पन्न किए गए शब्द में भी औणादिक युच् प्रत्यय का ग्रहण किया गया है इसलिए भाष्यकार द्वारा समर्थित व्युत्पत्ति भी पूर्णरूपेण पाणिनीय नहीं है, इस व्युत्पत्ति में मात्र आदेश ही पाणिनीय शास्त्र द्वारा विहित हुआ है प्रत्यय विधान फिर भी अपाणिनीय शास्त्र

द्वारा किया गया है। यदि अज् से औणादिक युच् प्रत्यय पाणिनीय परंपरा में स्वीकार्य है तो कृपा. सूत्र द्वारा वा से औणादिक प्रत्यय विधान क्यों स्वीकार्य नहीं। इसके अतिरिक्त पाणिनीय धातुपाठ में अदादिगण में 'वा गतिगन्धनयोः' धातु का उपदेश उपलब्ध है अतः 'वा' से उण् प्रत्यय एवं युक् आगम करके वायु शब्द सिद्ध करने में किसी तरह की आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं कारणों से काशिकाकार ने सूत्र को यु (ल्युट्) के प्रसंग में वैकल्पिक 'वी' आदेश विधानार्थक माना है। यद्यपि इन्होंने इस विषय में कुछ विशेष नहीं कहा है। इनका कथन है -"यु इति ल्युटोग्रहणम्"। इस वाक्यांश पर टिप्पणी करते हुए न्यासकार ने कहा है - "यु इति ल्युटोग्रहणम। अन्यस्यासम्भवात्।" पदमंजरीकार ने तो इस सूत्र को ही अनावश्यक बताया। इनके अनुसार - नार्थोऽनयोऽच्चा नापि घञपोः प्रतिषेधेन, नापि क्यपः उपसंख्यानम्, नापि 'वा यौ' इति सूत्रेण, एतावदस्तु 'वा लिटि', अजेर्वीत्येव।[2] अर्थात् घञ्-अप् के प्रतिषेध की, क्यप् के प्रतिषेध कथन की, वलादि-आर्धधातुकों के योग में विकल्प कथन की और 'वा यौ' सूत्र द्वारा ल्युट् के योग में विकल्प विधान की कोई आवश्यकता नहीं। 'अजेर्वी' मात्र इतना सूत्र किया जाय एवं उसमें 'वा लिटि' सू. से व्यवस्थित विभाषा हेतु 'वा' की अनुवृत्ति की जाय तो उपर्युक्त सभी कार्य सिद्ध हो जाएँगे।

यद्यपि पदमंजरीकार का कथन उचित है फिर भी सूत्र-वैयर्थ की स्थिति उत्पन्न होती है। कठिन परिश्रम से रचे गए सूत्रों का प्रत्याख्यान करना उचित नहीं ऐसा भाष्यकार का मत है। इसके अतिरिक्त तृच्, तुमुन् इत्यादि प्रत्ययों के योग में भी 'वी' आदेश युक्त एवं 'वी' आदेशरहित शब्द प्रयोग प्राप्त होते हैं। अतः मात्र ल्युट् के लिए ही सूत्र द्वारा विकल्प विधान क्यों माने। अजेर्वी. सूत्र में पूर्ववर्ती सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति कर तृच, तुमुन्, ल्युट में वैकल्पिक आदेश क्यों न मान लें और 'वा यौ' से युच् के साथ अज् को 'वी' आदेश सिद्ध कर लें। इसीलिए भाष्यकार ने आदेश विधान माना।

इस तरह भाष्यकार एवं काशिकाकार द्वारा किए गए सूत्रार्थों कीअपनी अलग उपयोगिताएँ हैं। पाणिनीय परंपरा के अन्य वैयाकरणों में अधिकांश ने काशिकानुसारी सूत्रार्थ का समर्थन किया है। सिद्धान्त कौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों में, इनकी टीकाओं में इसी प्रकार का सूत्रार्थ है। माधवीय धातुवृत्ति में भी अदादिगणीय 'वा' (गतिगन्धनयोः अदा.- धात्वंक 53) से औणादिक उण् प्रत्यय द्वारा वायु शब्द की सिद्धि दिखाई गई है।[3] न कि "वा यौ" सूत्र के वा आदेश द्वारा। नवीन व्याख्याकारों में पंडित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु एवं उनकी शिष्या प्रज्ञादेवी ने भाष्यकार जैसा सूत्रार्थ किया है। (द्र.- अष्टाध्यायी भाष्य, प्रथमावृत्ति भाग 1 रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रकाशन 1964) कुल मिलाकर बहुमत काशिकानुसारी सूत्रार्थ के पक्ष में है।

(27) " आगस्त्य कौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् " (2.4.70)

आगस्त्य एवं कौण्डिन्य – इन शब्दों में हुए अण् एवं यञ् गोत्राभिधायक प्रत्ययों का बहुवचन में लुक् होता है और बचे हुए प्रकृत्यंश को अगस्ति एवं कुण्डिनच् आदेश होते हैं।

उदाहरण ---- अगस्तय:, कुण्डिना:

अगस्तय: – अगस्त्य अण्=आगस्त्य। बहुवचन में आगस्त्य जस्–इस दशा में सूत्र द्वारा प्रत्यय का लोप एवं अवशिष्ट प्रकृति को अगस्ति आदेश विहित किया गया। उभय कार्य संपन्न हो – अगस्ति जस्, ऐसी दशा हुई। अयादेश, रूत्व–विसर्ग हो प्रथमा बहुवचन में 'अगस्तय:' शब्द सिद्ध हुआ। कुण्डिना:– कुण्डिनी यञ् > कौण्डिन्य। कौण्डिन्य जस् – इस दशा में सूत्र द्वारा यञ् का लोप एवं अवशिष्ट प्रकृति को कुण्डिनच् आदेश होकर – कुण्डिनच् जस् = कुण्डिना:।

(28) " श्रुव: शृ च " (3.1.74)

श्रु (श्रवणे) धातु से श्नु प्रत्यय होता है कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते तथा श्रु को शृ आदेश भी होता है।

उदा. शृणोति, शृणुत:, शृण्वन्ति।

शृणोति – श्रु तिप्। सूत्रविहित प्रत्यय एवं आदेश होकर – शृ श्नु ति। ऐसा शब्द का स्वरूप हुआ। नु के उ को गुण औकार तथा नकार को णकारादेश हो शृणोति शब्द सिद्ध होता है।

शृणुत:– श्रु तस्। सूत्रविहित प्रत्यय एवं आदेश होकर – शृ श्नु तस्= शृणुत: शब्द बनता है।

(29) " हनश्च वध: " (3.3.76)

अनुपसर्ग हन धातु से अप् प्रत्यय भाव में होता है तथा प्रत्यय के साथ ही साथ हन को वध आदेश भी हो जाता है। उदा.-वध:।

वध: – हन् धातु को भाव अर्थ में सूत्रविहित अप् प्रत्यय तथा वध आदेश हो – वध अप्, ऐसी दशा हुई। वध के अन्त्य अकार का लोप हो प्रथमा एकवचन में सु विभक्ति होने पर 'वध:' शब्द निष्पन्न होता है।

(30) " मूर्तौ घन: " (3.3.77)

कठिनता (स्थूलता) अर्थ का प्रकाशन करना हो तो हन् धातु को अप् प्रत्यय तथा प्रत्यय के सन्नियोग में धातु को घन आदेश होता है।

उदा. – अभ्रघन:, दधिघन:।

अभ्रघन:= – 'अभ्रस्य काठिन्यम्' इस अर्थ में अभ्र एवं हन् का समास होने पर शब्द को प्रकृत सूत्र से अप् अप् प्रत्यय एवं हन् के स्थान पर घन आदेश प्राप्त होता है। उभयकार्य होकर अभ्रघन अप् ऐसी अवस्था होती है। घन के अन्त्य अकार का लोप एवं शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हो, सु विभक्ति होने पर अभ्रघन: प्रयोग बनता है। दधिघन::– दधि पूर्वपद पूर्वक हन् धातु को दधि कठिनता (स्थूलता) की अभिव्यञ्जना करने में प्रकृत सूत्र के अप् प्रत्यय तथा हन् को घन आदेश होकर– दधि घन अप् ऐसी स्थिति बनती है। घन के अकार का लोप, सु विभक्ति

प्रत्यय होकर 'दधिघन:' शब्द बनता है।

(31) " अन्तर्घनो देशे " (3.3.78)

देश अभिधेय हो तो अन्त: पूर्वक हन् धातु से अप् प्रत्यय होता है तथा हन् को घन आदेश होता है। उदा. अन्तर्घन: ।

अन्तर्घन: – अन्त: हन्, इस अवस्था में देशविशेष की संज्ञा के अर्थ में प्रयोग हेतु शब्द से अप् प्रत्यय तथा प्रकृति के हन् भाग को घन आदेश होकर अन्त: घन अप् ऐसी दशा बनी। अन्य अपेक्षित कार्य हो अन्तर् घन् अ:= 'अन्तर्घन:' शब्द बनता है।

'अन्तर्घन:' यह एक देशविशेष की संज्ञा है।[4]

कहीं कहीं णत्वादेश हो 'अन्तर्घण:' इस प्रकार का रूप भी प्राप्त हुआ है। यह रूप भी ग्राह्य है ऐसा काशिकाकार का मत है। काशिकाकार के मत पर टिप्पणी करते हुए पदमंजरी एवं न्यास टीकाओं में कहा गया – उभयथाप्याचार्येण शिष्याणां प्रतिपादितत्वात्।[5] अर्थात् आचार्य द्वारा शिष्यों को दोनों प्रकार के रूपों का प्रतिपादन किए जाने से दोनों ही रूप ग्राह्य हैं।

(32) " करणेऽयोविद्रुषु " (3.3.82)

अयस् वि,द्रु – इन उपपदों से परे हन् धातु को करण कारक में अप् प्रत्यय होता है तथा धातु को घन आदेश होता है।

उदा.– अयोघन:, विघन:, द्रुघन: ।

अयोघन: – 'अयो हन्यतेऽनेन इति' इस अर्थ में अयस् एवं हन् का समास होने पर अयस् के उपपद होने से तथा करण कारक होने से सूत्र द्वारा करण के अर्थ में अप् प्रत्यय प्राप्त हुआ तथा धातु को घन आदेश भी प्राप्त हुआ। दोनों कार्य होकर अयस् घन अप् > अयोघन, अयोघन सु= अयोघन: शब्द सिद्ध हुए।

विघन:– वि उपपद रहते हन् धातु से करण अर्थ में अप् प्रत्यय एवं धातु को घन आदेश हो – वि घन अप् > विघन शब्द बना। स्वादिकार्य हो 'विघन:' शब्द बनता है।

द्रुघन:– 'द्रुव: हन्यते अनेन' इस अर्थ में प्रथमान्त द्रु के उपपद होते हन् से अप् प्रत्यय तथा हन् को घन आदेश हो – द्रु घन अप् > द्रुघन शब्द बना। स्वादिकार्य हो द्रुघन: शब्द सिद्ध होता है। कहीं कहीं द्रुघण: शब्द का उदाहरण भी प्राप्त होता है। वहाँ क्षुभ्नादिगण में पठित होने से णत्व हो जाता है। अथवा "पूर्वपदात्संज्ञायामग:" से भी णत्व हो जाता है।

(33) " स्तम्बे क च " (3.3.83)

स्तम्ब शब्द उपपद हो तो करण अर्थ में हन् धातु से क प्रत्यय होता है और चकारात् अप् प्रत्यय भी होता है तथा अप् के सन्नियोग में हन् को घन आदेश भी होता है।

उदा.– स्तम्बघ्न:, स्तम्बघन: ।

स्तम्बघ्न:– स्तम्ब हन् का उपपद समास होने पर सूत्र द्वारा क प्रत्यय

प्राप्त हुआ। अब उपधालोप तथा हकार को कुत्व हो स्तम्ब घ् न् अ = स्तम्बघ्न शब्द बनता है। स्वादिकार्य हो स्तम्बघ्नः शब्द बनता है।
स्तम्बघनः – स्तम्ब उपपद रहते हन् धातु से सूत्रविहित अप् प्रत्यय तथा अप् के योग में धातु को घन आदेश प्राप्त होता है। प्रत्यय एवं आदेश होकर स्तम्ब घन अप् ऐसा शब्द का स्वरूप बना। अन्त्य अकार का लोप एवं स्वादिकार्य होकर स्तम्बघनः शब्द सिद्ध होता है।
प्रकृत सूत्र द्वारा 'क' प्रत्यय का विधान एवं जब 'क' न हो तो पक्ष में 'अप्' प्रत्यय एवं अप् के योग में घन आदेश विधान किया गया है।

(34) " परौ घः " (3.3.84)

परिपूर्वक हन् धातु से करण कारक में अप् प्रत्यय होता है तथा हन् को घ आदेश होता है। उदा. परिघः।
परिघः – 'परिहन्यते अनेन' इति इस अर्थ में परिपूर्वक हन् से अप् हन् को घ आदेश हो –परि घ अप् > परिघ।परिघ सु = परिघः।

(35) " तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ " (4.3.2)

उस खञ् तथा अण् के परे रहते युष्मद् तथा अस्मद् अङ्गों को यथाक्रम युष्माक, अस्माक– ये आदेश हो जाते हैं।
उदा.– यौष्माकीणः, आस्माकीणः, यौष्माकः, आस्माकः।
यौष्माकीणः – युष्मद् खञ्। खञ् परे रहते युष्मद् को युष्माक आदेश हो – युष्माक खञ् > यौष्माकीण, यौष्माकीण सु = यौष्माकीणः
आस्माकीणः– अस्मद्। खञ् परे रहते अस्मद् को अस्माक आदेश होने पर – अस्माक खञ् > आस्माकीण, आस्माकीण सु = आस्माकीणः
यौष्माकः – युष्मद् अण्। अण् परे रहते युष्मद् को युष्माक आदेश होने पर – युष्माक अण्। युष्माक अण् > यौष्माक। यौष्माक सु=यौष्माकः।
आस्माकः– अस्मद् अण्। अण् परे रहने पर अस्मद् को अस्माक आदेश होने पर – अस्माक अण् > आस्माक। आस्माक सु = आस्माकः।

(36) " तवकममकावेकवचने " (4.3.3)

एक के वाचक युष्मद् एवं अस्मद् को यथा क्रम तवक, ममक आदेश हो जाते हैं खञ् एवं अण् परे हो तो।
उदा.– तावकीनाः, मामकीनाः, तावकाः, मामकाः।
तावकीनाः – युष्मद् खञ्। युष्मद् को तवक आदेश होने पर – तवक खञ्। तवक खञ् > तावकीन। तावकीन जस् = तावकीनाः।
मामकीनाः – अस्मद् खञ्। अस्मद् को ममक आदेश होने पर – ममक खञ्। ममक खञ् > मामकीन। मामकीन जस् = मामकीनाः।
तावकाः – युष्मद् अण्। युष्मद् को अण् परे रहते तवक आदेश हो – तवक अण्>तावक। तावक जस् = तावकाः।
मामकाः– अस्मद् अण्। अस्मद् को ममक आदेश होने पर – ममक अण् > मामक। मामक जस् > मामकाः।
एकवचन का आशय है– अस्मद् या युष्मद् से एक का बोध हो। 'एकोऽर्थ उच्यते येन तदेकवचनम्'।[6] युष्माकं छात्राः = यौष्माकीणः।

अस्माकं छात्रः = आस्माकीणः । तव छात्राः = तावकाः । मम छात्राः = मामकाः ।

पदमंजरीकार के अनुसार 'एकवचने' अस्मद् एवं युष्मद् का विशेषण है। अतः अस्मद्, युष्मद् एकवचन में खञ् एवं अण् परे रहते क्रमशः तवक, ममक आदेश होंगे।

(37) " पथः पन्थ च " (4.3.29)

सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक पथिन् से 'तत्र जातः' अर्थ में वुन् प्रत्यय एवं प्रातिपदिक को पन्थ आदेश होता है।

उदा. – पन्थकः – 'पथि जातः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक पथिन् से सूत्र-विहित वुन् प्रत्यय एवं पथिन् को पन्थ आदेश होकर पन्थ वुन्=पन्थक शब्द बना। सु विभक्ति होकर पन्थकः शब्द बनता है।

(38) " पन्थो ण नित्यम् " (5.1.75)

द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक पथ के स्थान में पन्थ आदेश तथा ण प्रत्यय नित्य हो जाता है 'नित्यं "गच्छति" इस अर्थ में। उदा. पान्थः।

पान्थः – पन्थानं नित्यम् गच्छति – इस अर्थ में प्रकृत सूत्र द्वारा 'पथ' प्रातिपदिक से ण प्रत्यय तथा प्रातिपदिक को पन्थ आदेश प्राप्त होते हैं। उभय कार्य होकर– पन्थ ण > पान्थ, शब्द बनता है। स्वादिकार्य होकर पान्थः शब्द निष्पन्न होता है।

(39) " इनच्पिटच्चिकचि च " (5.2.33)

नासिका का झुकाव अभिधेय हो तो 'नि' प्रातिपदिक से इनच् पिटच् प्रत्यय होते हैं, संज्ञा विषय में तथा नि को प्रत्यय के यथासंख्य चिक, चि आदेश भी होते हैं। उदा. – चिकिनः, चिपिटः।

चिकिनः – नासिका का झुकाव अर्थ में 'नि' प्रातिपदिक से प्रकृत सूत्र द्वारा इनच् प्रत्यय तथा प्रातिपदिक को चिक आदेश प्राप्त हुआ। सूत्रविहित कार्य होकर– चिक इनच् > चिकिन शब्द बनता है। स्वादिकार्य होकर चिकिनः शब्द सिद्ध होता है।

चिपिटः – नि प्रातिपदिक से पिटच् प्रत्यय तथा प्रातिपदिक को चि आदेश होकर– चि पिटच् > चिपिट; सु=चिपिटः शब्द बना। इस सूत्र पर तीन वार्तिक हैं----

(i) ककारः प्रत्ययो वक्तव्यश्चिकच्च प्रकृत्याऽऽदेशः अर्थात् नासिका का अवनमन अभिधेय हो तो क प्रत्यय एवं प्रकृति को चिक आदेश कहना चाहिए। इसका समाधान सूत्रस्थ चकार को अनुक्तसमुच्चयार्थक मानकर किया जा सकता है। सूत्रस्थ चकार से नासिका का नमन अभिधेय हो तो नि प्रातिपदिक को चिक आदेश तथा प्रातिपदिक से क प्रत्यय होते हैं– चिक क > चिक्क सु= चिक्कः।

(ii) क्लिन्नस्य चिल् पिल्लश्चास्य चक्षुषी – क्लिन्न प्रातिपदिक को 'चिल्', 'पिल्' ये आदेश तथा 'ल' प्रत्यय होते हैं 'अस्य चक्षुषी' अर्थ में। क्लिन्ने अस्य चक्षुषी इति चिल्लः अथवा पिल्लः। चिल् ल > चिल्ल सु=चिल्लः। पिल् ल > पिल्ल। पिल्ल सु = पिल्लः।

(iii) चुलादेशो वक्तव्यः – "क्लिन्ने चक्षुषी" इस अर्थ में 'नि' प्रातिपदिक को चुल् आदेश होता है। चुल् ल > चुल्ल सु=चुल्लः।

(40) " इदम् इश् " (5.3.3)

प्राग्दिशीय 7 प्रत्ययों के परे रहते इदम् के स्थान में 'इश्' आदेश होता है। उदा. इह, इतः,।

इह – इदम् ह। 'ह' प्राग्दिशीय प्रत्यय है अतएव इदम् को इश् आदेश होगा। आदेश हो – इश् ह > इह शब्द बनता है।

इतः – इदम् तसिल्। इदम् को इश् हो इ तस् > इतः।

(41) " एतेतौ रथोः " (5.3.4)

रेफादि एवं थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे हों तो इदम् को एत एवं इत् आदेश होते हैं।

उदाहरण.– एतर्हि, इत्थम्।

एतर्हि – इदम् र्हिल्। र्हिल् रेफादि प्राग्दिशीय प्रत्यय है अतः सूत्र द्वारा प्रकृति – इदम् को एत आदेश प्राप्त होता है। आदेश होकर – एत र्हिल् > एतर्हि।

इत्थम् – इदम् थमु। थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होते इदम् को इत् आदेश होकर इत् थम् > इत्थम् शब्द बना।

(42) " एतदोऽन् " (5.3.5)

प्राग्दिशीय प्रत्यय परे हो तो एतद् के स्थान में अन् आदेश होता है। उदा. अतः, अत्र आदि।

अतः – एतद् तसिल् > एतद् तस्। तसिल प्राग्दिशीय प्रत्यय है अतः एतद् को उपर्युक्त् सूत्र द्वारा अन् आदेश प्राप्त होता है। आदेश होकर–अन् तस् –ऐसी स्थिति हुई। अब अन् की स्थानिवद्भाव से प्रातिपदिक संज्ञा हुई और "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" सूत्र से अन् के अन्त्य नकार का लोप, तस् के सकार को रुत्वविसर्ग हो अतः प्रयोग सम्पन्न हुआ।

अत्र – एतद् त्रल्। आलोच्य सूत्र द्वारा एतद् को अन् आदेश हो अन् त्र बना। न् का प्रातिपदिकान्त लोप हो अत्र शब्द सिद्ध हुआ।

इस सूत्र का पाठ भी भिन्न–भिन्न रूप में मिलता है। महाभाष्य में यह सूत्र इसी रूप में पठित है। सिद्धान्त कौमुदी आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का सूत्रपाठ हुआ है काशिका में यह सूत्र 'एतदोऽश्' इस रूप में मिलता है।

'एतदोऽश्' सूत्रपाठ सर्वादेशत्व की सिद्धि के अनुरोध वशात् किया गया है। अश् आदेश शित् है अतएव सम्पूर्ण एतद् के स्थान पर होगा। शकार का लोप हो अकार मात्र अवशिष्ट रहेगा और अत्र, अतः इत्यादि प्रयोग संपन्न हो सकेंगे। भाष्यकार के सूत्रपाठ में भी अनेकाल्त्वेन सर्वादेशत्व सिद्ध हो जाता है किन्तु नकार के लोप का प्रश्न उठता है जिसके लिए भाष्यकार ने अन् की स्थानिवद्भाव से प्रातिपदिक संज्ञा करके "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" से नकार के लोप की व्यवस्था की है इस तरह आदेश

चाहे अन् माना जाय अथवा अश् प्रकृति में अकार मात्र ही अवशिष्ट रहता है।

द्वितीय अध्याय के चौथे पाद का तैंतीसवाँ सूत्र है "एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ"। यह सूत्र त्रल् एवं तसिल् परे रहते एतद् को अनुदात्त अशादेश विहित करता है। ये दोनों ही प्राग्दिशीय प्रत्यय हैं। इस प्रकार एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ. सूत्र एवं एतदोऽश् सूत्र – इन दोनों में एक ही स्थानी को एक जैसे ही आदेश विहित हुए हैं अतः इनमें से किसी एक सूत्र द्वारा ही कार्यसिद्धि संभव होने से दो में किसी एक सूत्र का प्रत्याख्यान हो ऐसा विचार उठता है। इसका समाधान करते हुए काशिकाकार ने कहा कि पांचमिक अध्याय का अशादेश उदात्त है और द्वितीय अध्याय का अनुदात्त। सर्वानुदात्त पद हेतु 'एतदस्त्रत.' सूत्र आवश्यक है और उदात्त स्वर हेतु पांचमिक अशादेश भी उचित है।

जहाँ तक एतदोऽश् पाठ होना चाहिए या एतदोऽन् इस प्रकार की द्विविधा की बात है तो इस विषय में एतदोऽन् पाठ ही ठीक लगता है। एतदोऽश् सूत्रपाठ वृत्तिकार का है भाष्यकार ने एतदोऽन् सूत्रपाठ ही माना है। कौमुदी आदि ग्रन्थों में भी अन् पाठ ही मिलता है। भाष्यकार काशिकाकार की अपेक्षा प्रामाणिक माने जाते हैं और परवर्ती वैयाकरण भी अन् पाठ के समर्थक हैं तथा अन् आदेश पाठ में शब्दसिद्धि में कोई कठिनाई भी नहीं होती अतएव एतदोऽन् सूत्रपाठ ही उचित एवं न्याय्य है।

(43) **" पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् " (5.3.39)**

सप्तमीपंचमीप्रथमान्त जो पूर्व अधर, अवर शब्द उनसे अस्ताति प्रत्यय के अर्थ में असि प्रत्यय होता है और प्रत्यय के साथ-साथ पूर्व, अधर, अवर को यथाक्रम पुर्, अध्, अव् आदेश हो जाते हैं।

उदा. – पुरो वसति, पुर आगतः, पुरो रमणीयम्। अधो वसति, अध आगतः, अधो रमणीयम्। अवो वसति, अव आगतः, अवो रमणीयम्।

पुरो वसति – पूर्व शब्द से प्रकृत सूत्र द्वारा अस्ताति[8] के अर्थ में असि प्रत्यय तथा पूर्व को आदेश प्राप्त हुआ और पुर् अस् ऐसी स्थिति हुई। सकार को रुत्व, रु को उकार, अकार, उकार के स्थान पर गुण ओकार हो 'पुरो' प्रयोग सिद्ध होता है।

अध आगतः – अधर शब्द को सूत्र द्वारा अस्ताति अर्थ में असि प्रत्यय तथा अध् आदेश हो – अध् असि > अधस् ऐसी स्थिति हुई। अन्य अपेक्षित कार्य हो अभीष्ट रूप बनता है।

अवो रमणीयम् – अवर शब्द से सूत्रविहित असि प्रत्यय तथा अवर को अव आदेश होकर – अव् अय्>अवस्, ऐसी दशा हुई। स को रु, रु को हश् रकार परे होते उकार, उकार एवं अकार के स्थान पर गुण ओकार हो 'अवो' प्रयोग सिद्ध होता है।

(44) **" अस्ताति च " (5.3.40)**

सप्तमीपंचमीप्रथमान्त जो पूर्व, अधर, अवर शब्द उनको अस्ताति प्रत्यय

परे रहते भी पुर्, अध् अव् आदेश हो जाते हैं।
उदा. पुरस्ताद्वसति, अधस्तादागतः, अधस्ताद्रमणीयम्।
पुरस्तात्- पूर्व अस्ताति - इस दशा में सूत्र द्वारा पूर्व को पुर् आदेश हो पुर् अस्तात् = पुरस्तात् शब्द बनता है।
अधस्तात् - अधर अस्तात्। अधर को सूत्रविहित अध् आदेश हो - अध् अस्तात् = अधस्तात्।

(45) " विभाषाऽवरस्य ." (5.3.41)

अवर को अस्ताति परे होते विकल्प से 'अव' आदेश होता है।
उदा.- अवस्ताद्वसति, अवरस्ताद्वसति।
अवस्तात् - अवर अस्ताति > अवर अस्तात्। अवर को अस्ताति परे रहते वैकल्पिक अवादेश प्राप्त है। अवादेश होकर अव् अस्तात् = अवस्तात् शब्द बना। आदेश के अभाव पक्ष में अवर अस्तात् > अवरस्तात् शब्द बनता है।

(46) " प्रशस्यस्य श्रः " (5.3.60)

प्रशस्य शब्द के स्थान में आजादि (अर्थात् इष्ठन् , ईयसुन् परे रहते श्र आदेश होता है।
उदा.- श्रेष्ठः, श्रेयान्।
श्रेष्ठः- सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः इस प्रकार के अर्थ में प्रशस्य शबद से इष्ठन् प्रत्यय हुआ- प्रशस्य इष्ठन्। प्रशस्य को अजादि इष्ठन् परे रहते प्रकृत सूत्र द्वारा श्र आदेश प्राप्त होता है। आदेश होकर - श्र इष्ठन् > श्रेष्ठ शब्द बना। सु विभक्ति हो श्रेष्ठः शब्द बना जिसका अर्थ है अतिशयेन प्रशस्यः।
श्रेयान् - अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः- इस अर्थ में प्रशस्य से ईयसुन् प्रत्यय हुआ। अब आलोच्य सूत्र द्वारा प्रशस्य को श्र आदेश प्राप्त होता है। आदेश होकर- श्र ईयसुन्, ऐसा शब्द का स्वरूप हुआ। श्रेयस् इस प्रकार के शब्द स्वरूप से सु विभक्ति होकर प्रथमा एकवचन में श्रेयान् शब्द बना।

(47) " ज्य च " (5.3.61)

प्रशस्य शब्द के स्थान में ज्य आदेश भी होता है अजादि प्रत्ययों के परे रहते।
उदा.- ज्येष्ठः, ज्यायान्।
ज्येष्ठः- प्रशस्य इष्ठन्। प्रशस्य के स्थान में ज्य आदेश होकर-ज्य इष्ठन् > ज्येष्ठः शब्द बनता है। ज्यायान्-प्रशस्य ईयसुन्। प्रशस्य को सूत्रविहित ज्य आदेश हो- ज्य ईयस्। इस प्रकार की स्थिति हुई। ईयस् के ईकार को आत्व हो प्रथमा एकवचन में ज्यायान् शब्द बना।

(48) " वृद्धस्य च " (5.3.62)

वृद्ध शब्द के स्थान में भी अजादि प्रत्यय परे रहते ज्य आदेश होता है।
उदा.- ज्येष्ठः, ज्यायान्।
ज्येष्ठः- वृद्ध इष्ठन्। वृद्ध को ज्य आदेश हो - वृद्ध इष्ठन् > ज्येष्ठः

शब्द बनता है ।

ज्यायान् – वृद्ध ईयसुन् । वृद्ध को सूत्रविहित ज्य आदेश हो – ज्य ईयसुन् । ईयस् के ईकार को आत्व हो प्रथमा एकवचन में 'ज्यायान' शब्द सिद्ध होता है । "ज्य च" इस सूत्र द्वारा निष्पन्न ज्येष्ठः का अर्थ 'अयमेषाम् अतिशयेन प्रशस्यः' है तथा ज्यायान् का अर्थ 'अयमनयोरतिशयेन प्रशस्य' है जबकि 'वृद्धस्य च' सूत्र से निष्पन्न ज्येष्ठः का अर्थ 'अयमेषामतिशयेन वृद्धः' है तथा ज्यायान् का 'अयमनयोरतिशयेन वृद्धः' है ।

(49) " अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ " (5.3.63)

अन्तिक, बाढ शब्दों को यथासंख्य नेद, साध आदेश होते हैं अजादि प्रत्ययों के परे रहते ।

उदा.– नेदिष्ठम्, नेदीयः, साधिष्ठम्, साधीयः ।

नेदिष्ठम्– अन्तिक शब्द से इष्ठन् प्रत्यय हुआ । अब अन्तिक को प्रकृत सूत्र से नेद आदेश हो नेद इष्ठन् > नेदिष्ठ शब्द बनता है । नेदिष्ठ सु = नेदिष्ठम् ।

नेदीयः– अन्तिक ईयसुन् । अन्तिक को सूत्र विहित नेद आदेश हो नेद ईयसुन् = नेदीयः शब्द बनता है ।

साधिष्ठः – बाढ इष्ठन् । बाढ को सूत्र द्वारा प्राप्त साध आदेश हो – साध इष्ठन् = साधिष्ठः ।

साधीयः– बाढ ईयसुन्– बाढ को साध आदेश हो – साध ईयसुन् = साधीयः ।

नेदिष्ठः का अर्थ है सर्वाधिक समीप और साधिष्ठः का सर्वाधिक अच्छा ।

(50) " युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् " (5.3.64)

युव, अल्प – इनसे परे अजादि प्रत्यय हों तो इन्हें विकल्प से कन् आदेश होता है ।

उदा.– कनीयान्, कनिष्ठः ।

पक्ष में– यवीयान्, अल्पीयान्, यविष्ठः, अल्पिष्ठः । कनिष्ठः – सर्वे इमे युवानः, अयमेषामतिशयेन युवा इति कनिष्ठः । युव शब्द से अजादि इष्ठन् प्रत्यय परे रहते युव को कन् आदेश होकर– कन् इष्ठन् > कनिष्ठ शब्द बनता है । स्वादिकार्य हो कनिष्ठः शब्द सिद्ध होता है ।

सर्वे इमे अल्पाः अयमेषामतिशयेनाल्पः कनिष्ठः । अल्प से अजादि इष्ठन् प्रत्यय परे रहते सूत्र द्वारा अल्प को कन् आदेश प्राप्त हुआ । कन् आदेश होकर– कन् इष्ठन् = कनिष्ठ, कनिष्ठ सु = कनिष्ठः प्रयोग सिद्ध होता है ।

कनीयान्– उभौ इमौ अल्पौ अयमेषामतिशयेनाल्पः कनीयान् । द्वाविमौ युवानौ अयमेषामतिशयेन युवा – कनीयान् । युव अथवा अल्प से अजादि ईयसुन् परे रहते प्रकृति को कन् आदेश हो– कन् ईयस् = कनीयस् शब्द बना । कनीयस् से प्रथमा एकवचन में कनीयान् शब्द बना । अल्पीयान्,

अल्पिष्ठः - अल्प से ईयसुन् या इष्ठन् परे रहते कन् आदेश के अभाव पक्ष में अल्प ईयसुन् > अल्पीयस्, अल्पीयस् सु = अल्पीयस् अथवा युव ईयसुन् सु > यवीयान् युव इष्ठन् सु > यविष्ठः आदि रूप बनते हैं।

(51) " अह्नोऽह्न एतेभ्यः " (5.4.88)

संख्या, अव्यय, सर्वादि इनसे उत्तर जो अहन् शब्द उसे समासान्त अह्न आदेश होता है तत्पुरुष समास में।

उदा.- द्व्यह्नः, त्र्यह्नः, अत्यह्नः निरह्नः, सर्वाह्णः, पूर्वाह्णः आदि।

द्व्यह्न :- द्वि और अहन् शब्दों का समास होने पर अहन् शब्द को प्रकृत सूत्र से अह्न आदेश प्राप्त हुआ क्योंकि इससे पूर्व संख्यावाचक द्वि शब्द है। आदेश हो द्वि अह्न = द्व्यह्न शब्द बना। स्वादिकार्य हो द्व्यह्नः शब्द बना।

अत्यह्नः - अति अव्यय का अहन् के साथ समास होने पर अहन् को समासान्त अह्न आदेश प्राप्त होता है। आदेश हो- अति अह्न > अत्यह्न् अत्यह्न सु > अत्यह्नः शब्द बनता है।

सर्वाह्णः - सर्वं अहन्। सर्व पूर्वपद होते अहन् को समासान्त अह्न आदेश होकर- सर्व अह्न > सर्वाह्न शब्द बना नकार को रेफनिमित्तक णत्व एवं स्वादिकार्य हो सर्वाह्णः शब्द निष्पन्न हुआ।

(52) " अच् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् " (5.4.118)

नासिका शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त अच् प्रत्यय होता है संज्ञा के विषय में तथा नासिका शब्द को नस् आदेश भी होता है यदि नासिका शब्द स्थूल से उत्तर न हो तो।

उदा.- द्रुणसः, वार्ध्रीणसः।

द्रुणसः- द्रुरिव नासिकास्य इस अर्थ में द्रु एवं नासिका का समास हुआ। समस्त शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय एवं शब्द के उत्तरपद नासिका के स्थान पर नस् आदेश होकर- द्रुनस् अच् > द्रुनस शब्द बना। द्रुनस > द्रुणस, द्रुणस सु > द्रुणसः।

वार्ध्रीणसः - वध्रे भवा वार्ध्री। वार्ध्री नासिका। अस्य, इस अर्थ में वार्ध्री एवं नासिका का समास हुआ। अब आलोच्य सूत्र द्वारा समासान्त अच् प्रत्यय तथा नासिका शब्द को नस् आदेश हो - वार्ध्रीनस् अच् > वार्ध्रीनस् शब्द बना। णत्वादेश एवं स्वादिकार्य हो वार्ध्रीणसः शब्द सिद्ध होता है।

'स्थूल' से परे नासिका को नस् आदेश का प्रतिषेध हो जाने से स्थूलनासिकः शब्द प्रयोग में नस् आदेश का अभाव हुआ।

इस सूत्र पर एक वार्तिक है- "खुरखराभ्यां नस् वक्तव्यः" अर्थात् खुर एवं खर से परे जो नासिका शब्द उसे नस् आदेश विधान होना चाहिए। इससे खुरणाः, खरणाः प्रयोग सिद्ध हो सकेंगे।

'पक्षेऽच्प्रत्ययोऽपीष्यते' [9]--- इस इष्टि द्वारा खुर एवं खर से पक्ष में अच् प्रत्यय का विधान भी होना चाहिए ऐसा अर्थ है इससे खुरणसः

खरणसः इत्यादि शब्द सिद्ध होंगे।

(53) " उपसर्गाच्च " (5.4.119)

उपसर्ग से परे जो नासिका शब्द तदन्त से बहुव्रीहि समास में अच् प्रत्यय होता है तथा नासिका शब्द को नस् आदेश हो जाता है।

उदा.- उन्नसः, प्रणसः आदि।

उन्नसः- 'उन्नता नासिकाऽस्य' इस अर्थ में उत् उपसर्ग एवं नासिका का समास हुआ और सूत्र द्वारा शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय एवं नासिका शब्द को नस् आदेश प्राप्त हुआ। अभ्यासकार्य होकर- उत् नस् अच् > ऐसी दशा हुई। उत् नस् अ > उन् नस् अ = उन्नस, उन्नस सु= उन्नसः। प्रणसः- 'प्रगता नासिकास्य' इस अर्थ में प्र एवं नासिका का समास होने पर आलोच्य सूत्र द्वारा समासान्त अच् प्रत्यय तथा नासिका को नसादेश हो - प्र नस् अच् > प्र नस शब्द बना। णत्व एवं स्वादिकार्य हो अभीष्ट शब्द सिद्ध होता है।

इस सूत्र पर एक वार्तिक है- "वेर्ग्रो वक्तव्यः" वि उपसर्गपूर्वक नासिका शब्द को ग्र आदेश हो- विगता नासिका अस्य विग्रः।[10]

इस वार्तिक द्वारा निष्पन्न शब्द एवं कतिपय अन्य शब्द प्रयोगों में परस्पर भेद है। भट्टि काव्य में प्रयोग मिलता है- 'यद्यहं' नाथ नावास्यं विनसा हतबान्धवा।' यहाँ वि उपसर्ग पूर्वक नासिका शब्द को नसादेशयुक्त प्रयोग दिखाई पड़ता है। इसका भट्टोजिदीक्षित ने इस प्रकार समाधान किया है- विगतया नासिकयोपलक्षितेति व्याख्येयम्।[11] "इस वाक्य की व्याख्या करते हुए तत्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती का कहना है---" तथा च विनसेति न प्रथमान्तं, किं तु "पद्दन्नोमास्हृ" (6.1.63) इति नसादेशे तृतीयान्तमिति भावः।[12] बालमनोरमा टीका के कर्ता वासुदेवदीक्षित ने इसे कुछ और स्पष्ट किया है- "विगता नासिका यस्येति विग्रहे अचि नसादेशे टापि च विनसेति भट्टिप्रयोगो न युज्यते।" कौमुदीकार के समाधान को विवृत करते हुए इन्होंने आगे कहा- "विगता नासिका विनासिका प्रादिसमासः अबहुव्रीहित्वात् न ग्रादेशः। किन्तु टायां 'पद्दन' . इति नसादेशे विनसेति तृतीयान्ते रूपम्। उपलक्षितेत्यध्याहार्यमिति भावः।" इस प्रकार इन तीनों वैयाकरणों के मतानुसार 'विगता नासिका' इस अर्थ में वि एवं नासिका का प्रादि तत्पुरुष समास हो विनासिका शब्द बना। इससे तृतीया प्रथम पुरुष में 'टा' प्रत्यय होने पर "पद्दनो." सूत्र द्वारा नासिका को नस् आदेश हो वि नस् टा = विनसा शब्द व्युत्पन्न हुआ। विगता नासिका यस्या इस अर्थ में विपूर्वक नासिका को अच् प्रत्यय एवं नस् आदेश हो बहुव्रीहि में 'विनसा' शब्द नहीं सिद्ध होगा क्योंकि 'नसादेश' वार्तिक द्वारा विहित 'ग्र' आदेश से बाधित हो रहा है।

इस विषय में मैत्रेय का विचार इस प्रकार है- केचिन्नासिकापर्याये नसाशब्दमिच्छन्ति, तथा च वराहनक्षत्रपुरुषप्रकाशे नसाशब्दः प्रयुक्तः। भट्टिकाव्येऽपि। 'विनसा हतबान्धवा' इति दृश्यते। न चासौ

"उपसर्गाच्च" इति नसादेशो सिध्यति; 'ग्रेर्ग्रो वक्तव्यः' इति ग्रादेशेन बाधितत्वात्" इति[13] इस तरह इन्होने कुछ वैयाकरणों का मत प्रस्तुत किया है जो नासिका का पर्यायवाची नसा शब्द चाहते हैं। इस विधि से विपूर्वक नसा शब्द से विनसा शब्द की बड़ी सरलता से व्युत्पत्ति हो जाएगी।

(54) " प्रसम्भ्यां जानुनोर्ज्ञुः " (5.4.129)

बहुव्रीहि समास में प्र, सम् से उत्तर जो जानु शब्द उसे समासान्त ज्ञु आदेश होता है।

उदा.— प्रज्ञुः, संज्ञुः। प्रज्ञुः— प्र एवं जानु ('प्रकृष्टे जानुनी अस्य' अर्थ में) का समास होने पर सूत्र द्वारा जानु को ज्ञु आदेश प्राप्त हुआ। आदेश हो 'प्रज्ञु' शब्द बना। स्वादिकार्य हो 'प्रज्ञुः' शब्द बनता है।

संज्ञुः— सम् उपसर्गपूर्वक जानु शब्द का बहुव्रीहि समास होने पर जानु शब्द को ज्ञु आदेश हो — सम् ज्ञु ऐसा दशा हुई। मकार को अनुस्वार हो प्रथमा एकवचन में संज्ञुः शब्द निष्पन्न हुआ।

(55) " ऊर्ध्वाद् विभाषा " (5.4.130)

ऊर्ध्व शब्द से उत्तर जो जानु शब्द इसे विकल्प से ज्ञु आदेश होता है बहुव्रीहि समास में।

उदा.— ऊर्ध्वे जानुनी अस्य इति ऊर्ध्वज्ञुः ऊर्ध्वजानुः वा।

ऊर्ध्वज्ञुः — ऊर्ध्व एवं जानु शब्दों का समास होकर प्रकृत सूत्र से जानु को समासान्त ज्ञु आदेश प्राप्त हुआ। आदेश होकर — ऊर्ध्वज्ञु शब्द बना। ऊर्ध्वज्ञु सु = ऊर्ध्वज्ञुः।

ऊर्ध्वजानुः — ऊर्ध्व एवं जानु का समास हो ऊर्ध्व जानु शब्द बना। आदेश के अभाव में शब्द में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। प्रथमा एकवचन में शब्द से सु विभक्ति हो ऊर्ध्वजानु सु > ऊर्ध्वजानुः शब्द बना।

(56) " वयसि दन्तस्य दतृ " (5.4.141)

संख्यापूर्ववाले एवं सु-पूर्ववाले दन्त शब्द को समासान्त दतृ आदेश होता है अवस्था गम्यमान होने पर बहुव्रीहि समास में।

उदा.— द्विदन्, सुदन्।

द्विदन् — 'द्वौ दन्तौ अस्य' इस अर्थ में द्वि एवं दन्त का समास हुआ। अब दन्त को दतृ आदेश हो — द्वि दतृ > द्विदत् शब्द बना। स्वादिकार्य हो द्विदन् शब्द सिद्ध हुआ।

सुदन् — शोभना दन्ता अस्य समस्ता जाताः सुदन् कुमारः। यहाँ सु पूर्वक दन्त शब्द का समास हुआ और उसे समासान्त दतृ आदेश हुआ क्योंकि शब्द से अवस्था भी गम्यमान है। आदेश हो— सुदत् शब्द बना। प्रथमा एकवचन में सु विभक्ति हो, नुमागम हो 'सुदन्' शब्द सिद्ध हुआ।

(57) " छन्दसि च " (5.4.142)

वेद विषय में भी दन्त शब्द को समासान्त दतृ आदेश बहुव्रीहि समास में

हो जाता है ।

उदा. पत्रवतमालभेत । उभयदत आलभते । पत्रवतम् – यहाँ पत्र एवं दन्त शब्दों का समास हुआ है और दन्त शब्द को समासान्त दतृ आदेश हुआ है । पत्रदत् से प्रथमा एकवचन में पत्रदतम् शब्द बनता है ।

उभयदन्त – उभय एवं दन्त का समास हो उभयदन्त शब्द बना । अब सूत्र द्वारा दन्त को दतृ आदेश हो उभयदत् शब्द बनता है । इससे प्रथमा एकवचन में 'उभयदतः' शब्द सिद्ध होता है ।

(58) **" स्त्रियां संज्ञायाम् " (5.4.143)**

बहुव्रीहि समास में अन्यपदार्थ[14] यदि स्त्रीवाच्य हो तो दन्त के स्थान में दतृ आदेश हो जाता है संज्ञा विषय मे । उदा. अयोदती ।

अयोदती – 'अय इव दन्ता अस्या' इस अर्थ में अयस् एवं दन्त शब्दों का समास हुआ तत्पश्चात् आलोच्य सूत्र द्वारा दन्त को समासान्त दतृ आदेश प्राप्त हुआ । आदेश हो – अयस् दतृ ऐसी दशा हुई । सकार को रुत्व, रु को उकार, अकार उकार के स्थान पर गुण एकार हो अयोदत् शब्द बना जिससे ङीप् प्रत्यय हो प्रथमा एकवचन में अभीष्ट शब्द सिद्ध हुआ ।

संज्ञाविषय में विहित होने से असंज्ञा विषय में दतृ आदेश नहीं होता यथा–स्निग्धदन्ती यहाँ स्त्री के दाँतों की स्निग्धता गम्यमान है यह शब्द किसी स्त्री के नाम के रूप में प्रयुक्त नहीं होता ।

(59) **" विभाषा श्यावारोकाभ्याम् " (5.4.144)**

श्याव, अरोक–इनसे उत्तर दन्त शब्द को विकल्प से समासान्त दतृ आदेश होता है बहुव्रीहि समास में ।

उदा.– श्यावदन्तः, अरोकदन्तः । श्यावदन् अरोकदन् ।

श्यावदन्, श्यावदन्तः – श्याव एवं दन्त का समास होने पर दन्त को वैकल्पिक दतृ आदेश प्राप्त होता है । आदेश पक्ष में---श्यावदत्, श्यावदत् सु=श्यावदन् तथा अभाव पक्ष में श्यावदन्त सु=श्यावदन्तः शब्द बनता है ।

अरोकदन् अरोकदन्तः – अरोक एवं दन्त का समास होने पर दन्त को समासान्त दतृ आदेश पक्ष में अरोकदत्, अरोकदत् सु = अरोकदन् तथा आदेशाभाव पक्ष में अरोकदन्त सु = अरोकदन्तः शब्द बनते हैं ।

(60) **" अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च " (5.4.145)**

अग्र शब्द अंत में है जिसके तथा शुद्ध, शुभ्र, वृष, वराह– इनसे उत्तर जो दन्त शब्द उसको विकल्प से दतृ आदेश समासान्त होता है बहुव्रीहि समास में ।

उदा.– कुड्मलाग्रदन्, कुड्मलाग्रदन्तः । शुद्धदन्, शुद्धदन्तः । शुभ्रदन्, शुभ्रदन्तः । वृषदन् वृषदन्तः । वाराहदन्, वराहदन्तः । कुड्मलाग्रदन्, कुड्मलाग्रदन्तः । कुड्मलाग्र अग्रशब्दान्त है इससे परे दन्त शब्द है, दन्त को दतृ आदेश हो -- कुड्मलाग्र दतृ ऐसी दशा हुई । प्रथमा एकवचन में 'कुड्मलाग्रदन्' शब्द बना । आदेश के अभाव में कुड्मलाग्र दन्त सु

=कुड्मलाग्रदन्तः शब्द बनता है। शुद्धदन्, शुद्धदन्तः – शुद्ध के साथ दन्त का समास हो शुद्धदन्त शब्द बना। अब दन्त को सूत्र द्वारा समासान्त दतृ आदेश प्राप्त होता है। दतृ आदेश हो – शुद्धदत्, शुद्धदत् सु= शुद्धदन् तथा आदेश के अभाव में शुद्धदन्त सु = शुद्धदंतः शब्द बनता है। वराहदन्, वराहदन्तः – वराह और दन्त का समास हो वराहदन्त शब्द बना। सूत्रविहित दतृ आदेश पक्ष में वराह दत् > वराहदत् सु वराहदन् तथा आदेशाभाव पक्ष में वराहदन्त सु=वराहदन्तः प्रयोग बनते हैं। वृषदन्,वृषदन्तः – वृष एवं दन्त का समास हो वृषदन्त शब्द बना। शब्द के दन्त को समासान्त दतृ आदेश हो वृषदत् शब्द बना। प्रथमा एकवचन में 'वृषदन्' तथा आदेश के अभाव में स्वादिकार्य हो 'वृषदन्तः' शब्द बनता है।

(61) **" चायः की " (6.1.21)**

चायृ धातु को यङ् परे रहते 'की' आदेश हो जाता है।

उदा.– चेकीयते, चेकीयेते।

चेकीयते – चायृ यङ्। यङ् परे रहते धातु को की आदेश हो – की यङ् > कीय, ऐसी स्थिति हुई। द्वित्व, अभ्यासकार्य हो चेकीय शब्द बनेगा। इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो आत्मनेपद के लट् लकार के प्रथम पुरुष एकवचन में चेकीयते शब्द सिद्ध होगा।

चेकीयेते– चायृ यङ्। सूत्रविहित की आदेश हो – कीय। की य > चेकीय, चेकीय आताम् > चेकीयेते।

यह सूत्र इसी अध्याय के इसी पाद में पुनः पठित है। "चायः की" 6.1.34। दो बार सूत्रपाठ अकारण ही नहीं किया जा सकता अतः दोनों सूत्रों की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। यह सूत्र यङ् एवं यङ्लुक् प्रकरण से सम्बद्ध आदेशविधान करता है। दूसरा सूत्र– 'चायः की' 6.1.34 वेद विषय मे 'चायृ' धातु को 'की' आदेश विहित करता है। दोनों सूत्रों के आदेशकथन का अंतर यह है कि 6.1.34 सूत्र बाहुलकात् 'की' आदेश विहित करता है जबकि प्रकृत सूत्र नहीं। "चायः की" 6.1.34 में पूर्व सूत्र "बहुलं छन्दसि" से "बहुलम्" की अनुवृत्ति होती है। अतः कहीं आदेश होता है कहीं नहीं।

(62) **" स्फायः स्फी निष्ठायाम् " (6.1.22)**

स्फायी धातु को[15] निष्ठा परे रहते स्फी आदेश होता है।

उदा.– स्फीतः, स्फीतवान्।

स्फीतः ––– स्फायी क्त। क्त निष्ठासंज्ञक प्रत्यय है अतः इसके परे रहते स्फायी अंग को स्फी आदेश होकर– स्फी क्त > स्फीत, स्फीत सु>स्फीतः शब्द बनता है।

स्फीतवान् – स्फायी क्तवत्। निष्ठासंज्ञक क्तवत् प्रत्यय परे रहते स्फायी को स्फी आदेश हो–– स्फी तवत् = स्फीतवत् बनता है। प्रथमा एकवचन में प्रातिपदिक से 'स्फीतवान्' शब्द प्रयोग सिद्ध होता है।

(63) " प्यायः पी " (6.1.28)

ओप्यायी धातु को निष्ठा परे रहते विकल्प से 'पी' आदेश होता है। उदा.– पीनं मुखम्, आप्यानश्चन्द्रमाः।

पीनं – ओप्यायी क्त। धातु को सूत्रविहित 'पी' आदेश हो – पी त। पी त > पी न। पीन सु > पीनं।

आप्यानः – आङ्. प्यायी क्त। प्यायी को पी आदेश के अभाव में आ प्याय् त ऐसी दशा हुई। य् का लोप, निष्ठानत्व हो प्रथमा एकवचन में 'आप्यानः' शब्द बना। सूत्र का विकल्प व्यवस्थित विकल्प है अतः अनुपसर्ग प्यायी धातु को नित्य होगा किन्तु सोपसर्ग को नहीं होगा। लेकिन आङ्. उपसर्ग से परे जो प्यायी इसे अन्धु, ऊधस् परे रहते पी आदेश होता है जैसे–आपीनोऽन्धुः। आपीनमूधः[16]।

(64) " लिड्यङोश्च " (6.1.29)

लिट् तथा यङ्. परे रहते भी ओप्यायी धातु को पी आदेश होता है। उदा.– आपिप्ये, आपिप्यिरे–लिट् के परे रहते आपेपीयते, आपेपीयन्ते।– यङ्. परे रहते। आपिप्ये– आङ्. प्यायी त। प्यायी को लिट् परे रहते 'पी' आदेश हो–– आ पी त। धातु द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा त को एश् हो आपिप्ये शब्द बना।

आपिप्यिरे – आङ्. प्यायी झ। प्यायी को पी हो –– आ पी झ। आ पी झ>आ पि पी इरेच्>आ पि प् य् इरे= आपिप्यिरे। आपेपीयते– आङ्. प्यायी यङ्.। प्यायी को सूत्रविहित पी हो– आ पी य। द्वित्व, अभ्यास कार्य हो 'आपेपीय' शब्द बनेगा। इसकी प्रातिपदिक संज्ञा होकर लट् प्रथमपुरुष एकवचन में त प्रत्यय हो 'आपेपीयते' रूप बनेगा।

(65) " चायः की " (6.1.34)

चायृ धातु को वेद में बहुल करके की आदेश होता है। उदा. विभुना निचिक्युः। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य।

निचिक्युः – नि चायृ लिट् > नि चायृ उस्। 'चायृ' को 'की' आदेश होकर– नि की उस्, ऐसी स्थिति हुई। द्वित्वादि हो 'निचिक्युः' रूप बनता है।

निचाय्य – नि चायृ ल्यप् > नि चाय् य आदेश न होने पर शब्द का स्वरूप यथावत् रहा और वर्णमेल हो 'निचाय्य' शब्द बना।

(66) " ये च तद्धिते " (6.1.60)

यकारादि तद्धित प्रत्यय परे रहते भी शिरस् को शीर्षन् आदेश हो जाता है। उदा. शिरसि भवः शिर्षण्यः।

शिर्षण्यः – शिरस् यत्। शिरस् को शीर्षन् आदेश हो – शीर्षन् यत् > शीर्षन्य बना। शीर्षन्य > शीर्षण्य, शीर्षण्य सु = शीर्षण्यः।

इस सूत्र का पूर्ववर्ती सू. 'शीर्षश्छन्दसि' वेद विषय में शिरस् का समानार्थी प्रकृत्यन्तर शब्द शीर्षन् निपातन–संबंधी सूत्र था। यह सूत्र यकारादि तद्धित परे रहते आदेश विधायक माना गया क्योंकि यकारादि तद्धित परे रहे शिरस् प्रकृति किसी प्रयोग में दृष्टिगत नहीं होती अतः

शिरस् के स्थान पर शीर्षन् आदेश माना गया।

(67) " पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु "(6.1.61)

पाद, दंत, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य, इनके स्थान में यथासंख्य करके पद, दत्, नस्, मास, हृत्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन् ,आसन् – ये आदेश हो जाते हैं शस् – प्रभृति प्रत्यय परे हों तो। उदाहरण–

पद – निपदश्चतुरो जहि। पदा वर्तय गोदुहम्।

दत् – या दतो धावते तस्यै श्यावदन् ।

नस् – सूकरस्त्वाखनन्नसा।

मास् – मासि त्वा पश्यामि चक्षुषा।

हृत – हृदा पूतं मनसा जातवेदा।

निश् – अमावास्यायां निशि यजेत।

असन् – असिक्तोऽस्नावरोहति ।

यूषन् – या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि।

दोषन् – यत्ते दोष्णो दौर्भाग्यम् ।

यकन् – यक्नोऽवद्यति।

शकन् – शक्नोऽवद्यति।

उदन् – उद्नो दिव्यस्य नो देहि।

निपदः – नि उपसर्ग पूर्वक पाद शब्द से शस् विभक्ति में– निपाद शस् इस दशा में प्रकृत सूत्र से शस् परे रहते पाद को पद् आदेश प्राप्त हुआ। आदेश होकर–– निपद् शस् > निपदः शब्द सिद्ध हुआ।

दतः – दन्त शस् । दन्त को सूत्रविहित दत् आदेश हो – दत् शस् = दतः। नसा – नासिका टा। नस् टा>नसा। मासि – मास ङि.। "मास" को मास् आदेश हो – मास् ङि.> मासि। हृदा – हृदय टा– हृदय को हृत् आदेश हो – हत् टा > हृद् आ = हृदा। निशि – निशा ङि.। निशा को निश् आदेश हो – निश् ङि. > निशि।

यूष्णः – यूष ङसि। यूष को यूषन् आदेश हो – यूषन् ङसि। यूषन् ङसि>यूष् न् अस् >यूष् नस् =यूष्णः।

दोष्णः – दोष ङसि । दोष को सूत्रविहित दोषन् आदेश् हो – दोषन् ङसि। दोषन् अस् > दोष्णः।

यक्नः – यकृत् ङसि। यकृत् को यकन् आदेश् हो – यकन् अस्। उपधालोप एवं सकार को रुत्व–विसर्ग हो–यक्नः।

शक्नः – शकृत् ङसि। सकृत् को शकन् आदेश हो – शकन् अस्> शक्नः।

उद्नः – उदक शस्। उदक को उदन् आवेश हो – उदन् शस्। उदन् अस्> उद्न् अस् = उद्नः।

सूत्र में आदेशों का कथन कर दिया गया है इनके स्थानी का कथन नहीं किया गया। स्थानी के बिना आदेश कथन का कोई औचित्य नहीं अतः शस्प्रभृति प्रत्ययों के परे रहते पद, दत् आदि आदेशों के अनुरूप स्थानी

का आक्षेपण हो जाता है।

सूत्र के अंत में कथित "आसन्" आदेश के लिए काशिकाकार ने "आसन" स्थानी का ग्रहण किया है जब कि पदमंजरीकार, न्यासकार एवं सिद्धान्त कौमुदीकार आसन् आदेश के लिए आस्य स्थानी का चयन करते हैं। काशिकार ने उदा.– प्रस्तुत किया है– आसनि किं लभे मधूनि।

पदमंजरीकार ने "आस्य" स्थानी के ग्रहण के पक्ष में उदाहरण दिया है– आस्नो वृकस्य वर्तिकामभीके। ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि। आस्नो यत्सीमसमुच्चलं वृकस्य। सिद्धान्त कौमुदी की बालमनोरमाटीकाकार ने आसन् आदेश के लिए "आस्य" स्थानी के ग्रहण के पक्ष में निम्न उदाहरणों को प्रस्तुत किया है– हव्या जुह्वान आसनि। आसन्यं प्राणमूचुः।

सिद्धान्तकौमुदी की तत्वबोधिनी टीका के कर्ता ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने "आस्य" ग्रहण के पक्ष में इन उदाहरणों को प्रस्तुत किया है– आस्नो वृकस्य वर्तिकाम्। हव्या जुह्वान आसनि। आसन्ये प्राणमूचुः।

अतः आसन् आदेश के लिए अधिकांश वैयाकरण "आस्य" स्थानी के ग्रहण के पक्षधर हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत किए गए उदाहरणों में आस्नः आदि "मुख" अर्थ का अभिधान करते हैं। आस्य (काशिकाकार के मत में आसन) ङि.। प्रकृति को आसन् आदेश हो – आसन् ङि. = आसनि। भाष्यकार ने सूत्र में "छन्दसि" की अनुवृत्ति की है इस प्रकार ये आदेश वेद विषय में होते हैं। अन्य वैयाकरण को सामान्य आदेश विधानार्थक मानते है क्योंकि लौकिक संस्कृत में भी इन आदेशों से युक्त स्वरूप वाले शब्दप्रभृति प्रत्यय परक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा ---

"व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च"

यहाँ पाद को पद् आदेशयुक्त शब्द पद्भ्याम् का प्रयोग हुआ है।

कुछ वैयाकरण "अन्यतरस्याम्" की अनुवृत्ति करने के पक्षधर हैं। इससे पदादि एवं पादादि दोनों ही प्रकृतियों के शब्द व्युत्पन्न हो सकेंगे।

इस सूत्र पर तीन वार्तिक हैं।

(i) यह वार्तिक अनुक्तचिन्तापरक है। वा. –"पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्" अर्थात् मांस्, पृत स्नु – इनका भी पदादिकों में कथन किया जाय। इससे मांस, पृतना, सानु स्थानी के स्थान पर मांस्, पृत् एवं स्नु आदेश हो मांस्, पृत्सु, अधिस्नुषु आदि सिद्ध हो सकेंगे।

वा.(ii) नस् नासिकाया यत्तस्क्षुद्रेषु – यत्, तस्, क्षुद्र – ये परे हों तो नासिका को नस् आदेश हो उदा.– नस्यानि, नस्तः, नः क्षुद्र।

वा.(iii) यति वर्णनगरयोर्नेति वक्तव्यम् – वर्ण एवं नगर से यत् परे हों तो नासिका को नस् आदेश का प्रतिषेध कहा जाय। उदाहरण. नासिक्यो वर्णः। नासिक्यं नगरम्।

(68) " दिवो द्यावा " (6.3.28)

देवताद्वन्द्व में उत्तरपद परे रहते पूर्वपद दिव् को द्यावा आदेश होता है।
उदा.- द्यावाक्षामा, द्यावाभूमी।

द्यावाक्षामा- 'द्यौश्च क्षामाश्च' इस अर्थ में द्वन्द्व समास होने पर दिव् को द्यावा आदेश होकर-द्यावाक्षामा शब्द बनता है।

द्यावाभूमी - द्यौश्च भूमिश्च - दिव् सु भूमिसु > दिव् भूमि। दिव् को द्यावा आदेश हो-द्यावाभूमि। द्यावाभूमि औ > द्यावाभूमी।

(69) " दिवसश्च पृथिव्याम् " (6.3.29)

पृथिवी शब्द उत्तरपद रहते देवताद्वन्द्व में दिव् शब्द को दिवस् आदेश हो जाता है। पक्ष में (चकार बल से) द्यावा अदेश भी होता है। उदा. दिवस्पृथिव्यौ, द्यावापृथिव्यौ।

दिवस्पृथिव्यौ- दिव् सु पृथिवी सु > दिव् पृथिवी। दिव् को सूत्रविहित दिवस् आदेश हो - दिवस् पृथिवी = दिवस्पृथिवी। दिवस्पृथिवी औ > दिवस्पृथिव्यौ।

द्यावापृथिव्यौ - दिव् पृथिवी । दिव् को पक्ष में प्राप्त द्यावा आदेश हो- द्यावापृथिवी।द्यावापृथिवी औ = द्यावापृथिव्यौ।

(70) " उषासोषसः " (6.3.30)

देवताद्वन्द्व में उत्तरपद परे रहते उषस् शब्द को उषासा आदेश होता है।
उदा.- उषासानक्ता।

उषासानक्ता - 'उषाश्च नक्तं च' इस विग्रह में उषस् एवं नक्त शब्दों का समास होने पर 'उषस्' को आलोच्य सूत्र द्वारा 'उषासा' आदेश होकर - उषासानक्त शब्द बना। प्रथमा एकवचन नपुंसक लिंग में उषासानक्तम् शब्द बनता है।

(71) " त्रेस्त्रयः " (96.3.47)

त्रि शब्द को त्रयस् आदेश होता है, संख्या उत्तरपद रहते बहुव्रीहि समास तथा अशीति को छोड़कर। उदा. त्रयोदशः।

त्रयोदशः- त्रि एवं दश को 'त्रयश्च दशश्च' इस विग्रह में द्वन्द्व समास (चार्थे द्वन्द्वः) हुआ। समास का उत्तरपद संख्यावाची है अतः त्रि को त्रयस् आदेश हो - त्रयस् दश हुआ। सकार को रुत्व, रु को उकार, अकार उकार के स्थान पर गुण ओकार हो प्रथमा एकवचन पुल्लिंग में त्रयोदशः शब्द सिद्ध होता है। त्रि एवं दश का बहुव्रीहि समास होने पर त्रि को त्रयस् आदेश नहीं होगा जैसे- त्रिदशाः। इसी प्रकार 'अशीति' उत्तरपद हो तो त्रि को त्रयस् आदेश नहीं होगा - त्र्यशीतिः।

(72) " विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् " (6.3.48)

द्वि, अष्टन् तथा त्रि को उपर्युक्त सूत्रों में जो कहा गया है वह चत्वारिंशत् आदि संख्या उत्तरपद रहते बहुव्रीहि, अशीति को छोड़कर विकल्प से हो।

विशेष - द्वि तथा अष्टन् को आकारादेश (6.3.46) सूत्र द्वारा विहित किया गया है। अतः बहुव्रीहि समास एवं अशीति उत्तरपद न हो

तो द्वि तथा अष्टन् को आकार अन्तादेश तथा त्रि को त्रयस् आदेश विकल्प से होगा यदि चत्वारिंशत्–प्रभृति संख्या उत्तरपद में हो तो। उदा. द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्। त्रिपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत्। अष्टपञ्चाशत् अष्टापञ्चाशत्। द्विचत्वारिंशत् द्वाचत्वारिंषत् – द्वि एवं चत्वारिंशत् के द्वन्द्व समास में द्वि को आकार अन्तादेश विकल्प से प्राप्त हुआ। आदेश पक्ष में द्वाचत्वारिंशत् एवं आदेश के अभाव पक्ष में द्विचत्वारिंशत् शब्द सिद्ध होते हैं।

त्रिपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत् – त्रि एवं पञ्चाशत् का समास होकर त्रि को वैकल्पिक त्रयस् आदेश प्राप्त हुआ। आदेश पक्ष में त्रयस् पञ्चाशत् > त्रयः पञ्चाशत् तथा आदेश के अभाव में त्रिपञ्चाशत् शब्द सिद्ध हुए।

अष्टपञ्चाशत्, अष्टापञ्चाशत् – अष्टन् एवं पञ्चाशत् का समास हो अष्टन् को वैकल्पिक आकार अन्तादेश हो–अष्टापञ्चाशत्; तथा आदेश के अभाव पक्ष में 'अष्टपञ्चाशत्' शब्द बनता है।

(73) " हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु " (6.3.49)

हृदय शब्द को हृत् आदेश होता है लेख, यत्, अण्, लास परे रहते। उदा.– हृल्लेख, हृद्यम्, हार्दम, हृल्लासः।

हृल्लेखः– 'हृदयं लिखति' इस अर्थ में हृदय एवं लेख शब्दों का समास हुआ। अब लेख शब्द परे रहते हृदय को सूत्रविहित हृत् आदेश हो – हृत् लेख बना। हृत् लेख > हृल्लेख, हृल्लेख सु=हृल्लेखः।

हृद्यम् – हृदय यत्। हृदय को यत् परे रहते हृत् आदेश हो – हृत् यत्। हृत् यत् > हृद्य सु > हृद्य अम् > हृद्यम्। हार्दम्– हृदय को हृत् अण्। अण् परे रहते हृदय को हृत् आदेश होकर– हृत् अण्। हृत् अण् > हार्द, हार्द सु > हार्द अम् > हार्दम्।

हृल्लासः – हृदय एवं लास का समास होने पर लास शब्द परे रहते हृदय को हृत् आदेश हो – हृत् लास शब्द बना। हृत् लास > हृल् लास, हृल्लास सु+हृल्लासः।

(74) " वा शोकष्यञ्रोगेषु " (6.3.49)

शोक, ष्यञ्, रोग – इनके परे रहते हृदय शब्द को हृत् आदेश विकल्प करके होता है उदा.– हृच्छोकः, हृदयशोकः। ष्यञ्–सौहार्द्यम्, सौहृदयम्। रोग–हृद्रोगः, हृदयरोगः।

हृच्छोकः, हृदयशोकः – हृदय एवं शोक का समास होने पर शोक परे रहते हृदय को हृत आदेश हो – हृत् शोक बना। हृत् शोक > हृच्छोक, हृच्छोक सु= हृच्छोकः। हृत् आदेश के अभाव पक्ष में हृदय शोक सु = हृदयशोकः।

सौहार्द्यम्, सौहृदयम् – सु एवं हृदय का समास हो ष्यञ् प्रत्यय हुआ। ष्यञ् परे रहते हृदय को हृत् आदेश प्राप्त हुआ। आदेश होकर सु हृत् य बना सु हृत् ष्यञ् > सौहार्द्य सौहार्द्य सु > सौहार्द्य अम्=सौहार्द्यम्।

आदेश के अभाव में सुहृदय ष्यञ् > सौहृदय, सौहृदय सु > सौहृदयम्।

(75) " पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु " (6.3.51)

पाद शब्द को पद आदेश होता है, आजि, आति, ग, उपहत उत्तरपद रहते। उदा.- पदातिः, पदाजिः, पदगः, पदोपहतः।

पदातिः- पादाभ्यामतति। पाद एवं आति (अत इञ् (औणादिक) का समास होने पर आति परे रहते पाद को सूत्र द्वारा पद शब्द आदेश हो - पद आति>पदाति बना पदाति सु=पदातिः।

पदाजिः - पाद एवं आजि (अज् इण्) का समास होने पर आजि परे रहते पाद को पद आदेश हो पद आजि>पदाजि शब्द बनता है। पदाजि सु=पदाजिः।

पदगः -'पादाभ्यां गच्छति' इस अर्थ में पाद एवं ग (गम् ड) का समास होने पर सूत्र द्वारा पाद को पद आदेश प्राप्त हुआ। पद ग- आदेश हो इस प्रकार की दशा हुई। पदग सु=पदगः शब्द बना।

पदोपहतः -'पादेनोपहतः' अर्थ में पाद एवं उपहत शब्दों का समास हुआ और पाद शब्द को उपहत शब्द परे रहते पद आदेश प्राप्त हुआ। पद आदेश होकर - पद उपहत>पदोपहत पदोपहत सु=पदोपहतः शब्द बना।

(76) " पद्यत्यतदर्थे " (6.3.52)

अतदर्थ यत् प्रत्यय के परे रहने पर पाद शब्द को पद् आदेश हो जाता है। उदा.- पद्याः कण्टकाः।

पद्याः - 'पादौ विध्यन्ति' इस अर्थ में पाद शब्द से यत् प्रत्यय हुआ। यह प्रत्यय अतदर्थ हुआ है अतः पाद को प्रकृत सूत्र से पद आदेश हो- पद् यत्>पद्य। पद्य जस्>पद्याः। तदर्थ विषयक यत् परे रहते आदेश नहीं होता जैसे - पादार्थमुदकं पाद्यम्।

(77) " हिमकाषिहतिषु च " (6.3.53)

इन शब्दों के उत्तरपद रहने पर भी पाद शब्द को पद् आदेश हो जाता है। उदा. पद्धिमम्, पत्काषिणः, पद्धतिः। पद्धिमम् - पाद एवं हिम का समास होकर हिम उत्तरपद रहते पाद शब्द को पद् आदेश हो - पद्हिम बना। पद् हिम>पद्धिम। पद्धिम सु>पद्धिमम्।

पत्काषिणः - पाद एवं काषिन् (कष् णिनि) का समास हो सूत्र द्वारा उत्तरपद काषिन् होने पर पूर्वपद पाद को पदआदेश हो- पद काषिन्>पत्काषिन्। पत्काषिन् जस् पत्काषिणः।

पद्धतिः - पाद एवं हति (हन् क्तिन्) का समास होने पर सूत्र द्वारा पाद को पद् आदेश प्राप्त हुआ क्योंकि समास में पाद से उत्तर हति शब्द आया है। आदेश हो-पद्हतिबना। पद्हति>पद्धति। पद्धति सु=पद्धतिः।

(78) " ऋचः शे " (6.3.54)

ऋचा सम्बन्धी पाद शब्द को पद् आदेश हो जाता है 'श' परे रहने पर।

उदा. पच्छो गायत्रीं शंसति।

पच्छः - पाद शस् । पाद शब्द को पद् आदेश हो पद् शस्> पच्छ, पच्छ स्>पच्छः

(79) " वा घोषमिश्रशब्देषु " (6.3.55)

घोष, मिश्र तथा शब्द - इनके उत्तरपद होने पर पूर्वपद में अवस्थित जो पाद शब्द उसे विकल्प से पद् आदेश हो जाता है। उदा. पद्घोषः, पादघोषः। पन्मिश्रः पादमिश्रः पच्छब्दः, पादशब्दः।

पद्घोषः पादघोषः - पाद एवं घोष का समास हुआ। अब घोष उत्तरपद रहते पाद शब्द को प्रकृत सूत्र द्वारा पद् आदेश हो - पद् घोष बना। पद्घोष सु>पद्घोषः।

सूत्र द्वारा विहित आदेश विकल्प से प्राप्त है। इससे आदेश के अभाव पक्ष में 'पादघोष' शब्द भी बनता है।

इसी प्रकार मिश्र एवं शब्द उत्तरपद होने पर पदादेश पक्ष में पन्मिश्रः, पच्छब्दः तथा अभाव पक्ष में पादमिश्रः, पादशब्दः आदि शब्द सिद्ध होते हैं।

(80) " उदकस्योदः संज्ञायाम् " (6.3.56)

उत्तरपद परे हो तो संज्ञा विषय में उदक शब्द को उद आदेश हो जाता है। उदा. औदमेघिः, औदवाहिः आदि।

औदमेघिः - उदक पूर्वपद एवं इससे परे उत्तरपद होने पर उदक को सूत्र द्वारा उद आदेश प्राप्त है। आदेश हो - उदमेघ। उदमेघ इञ् औदमेघि। औदमेघि सु= औदमेघिः।

इसी भाँति उदक से परे वाह शब्द रहते उदक को उद आदेश हो - उदवाह शब्द बनता है। उदवाह इञ् > औदवाहि। औदवाहि सु=औदवाहिः।

(81) " पेषंवासवाहनधिषु च " (6.3.57)

पेषं, वास, वाहन तथा धि शब्द के उत्तरपद रहते भी उदक को उद आदेश होता है। उदा.- उदपेषं पिनष्टि, उदवासः, उदवाहनः, उदधिः।

उदपेषं - उदक एवं पेषं (पिष् णमुल्), का समास हो उदकपेष बना। अब प्रकृत सूत्र द्वारा उदक को उद आदेश हो-उद पेषं शब्द बनता है।

उदवासः- उदक, वास का समास हो उदक वास बना। उदक को उद आदेश हो - उदवास उदवास सु > उदवासः।

उदवाहनः - 'उदकस्य वाहन' अर्थ में उदक एवं वाहन का समास हो उदकवाहन शब्द बनता है। उदक को उद आदेश हो - उदवाहन शब्द बनता है। उदवाहन सु= उदवाहनः।

उदधिः- उदकं धीयतेऽस्मिन्निति। उदक, धी का समास हो उदक को उद आदेश होकर- उद धी> उद धी सु > उदधिः।

(82) " एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् " (6.3.58)

जिसको पूर्ण किया जाना चाहिए; तद्वाची एक हल् है आदि में जिसके ऐसे शब्द के उत्तरपद रहने पर विकल्प से उदक को उद आदेश होता

है ।

उदा. उदकुम्भः, उदककुम्भः । उदपात्रम् उदकपात्रम् ।

उदकुम्भः, उदककुम्भः - उदक से उत्तर एकहलादि एवं पूरयितव्यवाची कुम्भ के रहते प्रकृत सूत्र द्वारा उदक को उद आदेश हो उदकुम्भ, उदकुम्भ सु > उदकुम्भः तथा उद-आदेश के अभाव में उदककुम्भ सु > उदककुम्भः शब्द सिद्ध हुए ।

उदपात्रम्,उदकपात्रम् - उदक एवं पात्र का समास होने पर एकहलादि एवं पूरयितव्यवाची पात्र शब्द के उत्तरपद होने पर सूत्रविहित आदेश विकल्प से प्राप्त हुआ । आदेश पक्ष में - उद पात्र, उदपात्र सु > उदपात्रम् तथा आदेश के अभाव में उदकपात्र सु > उदकपात्रम् शब्द सिद्ध हुए ।

सूत्रस्थ 'पूरयितव्य' का अर्थ है - जल आदि द्रव्यों से जिसे (पात्र, कुम्भ आदि) भरा जाय ।[17]

(83) " मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च " (6.5.59)

मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह- इन शब्दों के उत्तरपद रहते भी उदक को उद आदेश विकल्प करके होता है ।

उदा.- उदमन्थः, उदकमन्थः । उदौदनः, उदकौदनः, उदबिन्दुः उदकबिन्दुः । उदवज्रः, उदकवज्रः । उदभारः, उदकभारः । उदहारः उदकहारः । उदवीवधः, उदकवीवधः उदगाहः, उदकगाहः ।

उदमन्थः, उदकमन्थः- 'उदकेन मन्थः । उदक एवं मन्थ का समास होने पर उदक को सूत्र द्वारा वैकल्पिक उद आदेश प्राप्त हुआ । उद आदेश हो - उदमन्थ, उदमन्थ, उदमन्थ सु > उदमन्थः । उद आदेश के अभाव पक्ष में- उदक मन्थ सु > उदकमन्थः ।

(84) " इदङ्किमोरीश्की " (6.3.89)

इदम् तथा किम् को यथाक्रम ईश् तथा की आदेश हो जाते हैं यदि इनके परे दृग, दृश् अथवा वतुप् प्रत्यय हो तो ।

उदा.- दृग् परे रहते - ईदृक्, ।, कीदृक् । दृश् परे रहते - ईदृश्, कीदृश् । वतुप् परे रहते - इयान्, कियान् । ईदृक - इदम् शब्द को दृग् परे रहते ईश् आदेश हो - ईश् दृग ज > ईदृक् । ईदृश् - इदम् दृश् । इदम् को सूत्रविहित ईश् आदेश हो - ई दृग् । ईदृग् सु= ईदृक् ।

ईदृशः- इदम् दृश् । दृश् परे रहते इदम् प्रकृति को सूत्रविहित ईश् आदेश होकर - ई > दृश् ई दृश् सु > ई दृशः।

इयान् -इदम् वतुप् । इदम् घतुप् > इदम् इय् अ त् > इदम् इयत् । इदम् प्रकृति को सूत्रविहित ईश् आदेश हो - ई इयत् । ई का "यस्येति च" सू. से लोप हो इयत्[18] शब्द शेष रहेगा जिससे सु विभक्ति प्रत्यय हो इयान् शब्द सिद्ध होता है ।

कियान् - किम् वतुप् > किम् इयत् । किम् को सूत्रविहित की आदेश हो की इयत् । की इयत् > क् इयत् > कियत् । कियत् सु > कियान् ।

(85) " समः समि " (6.3.92)

सम् को समि आदेश होता है, व-प्रत्ययान्त अन्चु धातु के उत्तरपद रहते।

उदा.- सम्यक् सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः।

सम्यक् - सम् अच् (अन्चु क्विन् > अच्) इस दशा में सूत्र द्वारा सम् को 'समि' आदेश प्राप्त हुआ। आदेश हो - समि अच्। समिअच् > सम्यच्। सम्यच् सु > सम्यच्। सम्यच् औ सम्यञ्चौ।

(86) " तिरसस्तिर्यलोपे " (6.3.93)

तिरस् को तिरि आदेश वप्रत्ययान्त अन्चु के उत्तरपद रहते होता है यदि अन्चु के अ का लोप न हुआ हो तो।

उदा.- तिर्यङ्., तिर्यञ्चौ आदि।

तिर्यङ्.- तिरस् अच्। तिरस् को तिरि आदेश हो - तिरि अच् हुआ। तिरि अच् > तिर्यच्। तिर्यच् सु > तिर्यङ्.।

अकार का लोप हो जाने पर तिरि आदेश नहीं होता यथा- तिरस् अच् टा > तिरस् च् आ (अचः सू. से अकार का लोप होकर) तिरश्चा।

(87) " सहस्य सध्रिः " (6.3.94)

सह शब्द को वप्रत्ययान्त अन्चु धातु के उत्तरपद रहते सध्रि आदेश हो जाता है।

उदा.- सध्र्यङ्., सध्र्यञ्चौ आदि।

सध्र्यङ्.- सह अच् (अंच् क्विन्) सह को सूत्रविहित सध्रि आदेश होकर- सध्रि अच्। सध्रि अच् सु > सध्र य् न् अ ङ्. > सध्र्यङ्.। सध्र्यञ्चौ - सह अच्। सूत्रविहित सध्रि आदेश हो - सध्रि अच् औ > सध्र्यञ्चौ।

(88) " सधः मादस्थयोश्छन्दसि " (6.3.95)

माद तथा स्थ उत्तरपद रहते वेद विषय में सह शब्द को सध आदेश हो जाता है।

उदा.- सधमादो द्युम्न्य एकास्ताः। सधस्थाः।

सधमादः - सह मादेन वर्तते इस अर्थ में सह। एवं माद का समास हुआ। अब प्रकृत सूत्र से माद शब्द परे रहते सह को सध आदेश होकर- सधमाद। सधमाद सु > सधमादः।

सधस्थाः - 'सह तिष्ठन्ति' इस अर्थ में सह एवं स्था का समास हुआ और सह को आलोच्य सूत्र द्वारा सध आदेश प्राप्त हुआ। आदेश होकर - सध स्था। सध स्था जस् > सधस्थाः।

(89) " कोः कत्तत्पुरुषेऽचि " (6.3.100)

कु को तत्पुरुष समास में अजादि शब्द उत्तरपद हो तो कत् आदेश हो जाता है।

उदा.- कदजः, कदश्वः, कदुष्ट्रः, कदन्नम् आदि।

कदजः - कुत्सितोऽजः - इस अर्थ में कु से अज का समास हुआ। कुगतिप्रादयः' सू. से प्राप्त तत्पुरुष समास होने से तथा उत्तरपद के अजादि होने से कु को कत् आदेश प्राप्त हुआ। 'कु' को कत् आदेश

हो कत् अज > कदज। कदज सु > कदजः।
इसी प्रकार कुत्सितोऽश्वः, कुत्सितो उष्ट्रः, कुत्सितमन्नम् इत्यादि अर्थों में क्रमशः कु एवं अश्व, कु एवं उष्ट्र तथा कु एवं अन्न का तत्पुरुष समास होने पर कु को कत् आदेश हो प्रथमा एकवचन में क्रमानुसार कदश्वः, कदुष्ट्रः, कदन्नम् आदि शब्द बने।
बहुव्रीहि में कत् आदेश का प्रतिषेध होने से 'कुत्सितो उष्ट्रो यस्य कुष्ट्रः" इत्यादि प्रयोगों में कु को कत् नहीं होता।

(90) " रथवदयोश्च " (6.3.101)

रथ तथा वद शब्द उत्तरपद में हो तो भी कु को कत् आदेश हो जाता है।
उदा.— कद्रथः, कद्वदः।
कद्रथः — कुत्सितः रथः। कु एवं रथ का समास होने पर रथ परे रहते कु को कत् आदेश हो कत् रथ > कद्रथ, कद्रथ सु > कद्रथः शब्द बनता है।
कद्वदः— कुत्सितः वदः। वद शब्द उत्तरपद होते कु को कत् आदेश होगा कु वद > कत् वद। कद्वद सु > कद्वदः।

" तृणे च जातौ " (6.3.102)

तृण शब्द उत्तरपद में हो तो भी कु को कत् आदेश हो जाता है यदि जाति अभिधेय हो तो।
उदा.— कत्तृणाः।
कत्तृणाः— 'कत्तृणाः' यह जाति का अभिधायक शब्द है। जाति अभिधायक होने से कु तृण— इस दशा में कु को कत् आदेश हुआ— कु तृण > कत् तृण > कत्तृण जस् > कत्तृणाः।
जाति का अभिधान न किया जा रहा हो तो आदेश नहीं होगा। जैसे कुत्सितानि तृणानि कुतृणानि।

(91) " का पथ्यक्षयोः " (6.3.103)

पथिन् तथा अक्ष शब्द उत्तरपद हो तो कु शब्द को 'का' आदेश हो जाता है।
उदा.— कापथः, काक्षः।
कापथः — कुत्सितः पन्थाः।
कु पथ। पथ परे रहते कु को का आदेश हो— कापथ, कापथ सु > कापथः।
काक्षः — कु एवं अक्ष का समास होने पर अक्ष उत्तरपद होने से 'कु' को 'का' आदेश प्राप्त हुआ— का अक्ष > काक्ष। काक्ष सु > काक्षः।

(92) " ईषदर्थे च " (6.3.105)

ईषत् के अर्थ में वर्तमान कु शब्द को 'का' आदेश हो जाता है।
उदा.— काममधुरम्, कालवणम्, काम्लमम्, कोष्णम्।
काममधुरम् — ईषन्मधुरं। ईषत् अर्थ में विद्यमान कु का मधुर के साथ

समास होने पर 'कु' को प्रकृत सूत्र से 'का' आदेश होकर – कामधुर बना। कामधुर सु > कामधुर अम् > कामधुरम् शब्द बनता है।
काम्लम् – ईषदम्लम्। ईषत् अर्थ में विद्यमान 'कु' को 'का' आदेश होकर – का अम्ल: > काम्ल, काम्ल सु > काम्ल अम् > काम्लम् शब्द निष्पन्न हुआ।

(93) " विभाषा पुरुषे " (6.3.105)

पुरुष शब्द उत्तरपद हो तो 'कु' शब्द को विकल्प से 'का' आदेश होता है।
उदा.– कापुरुष:, कुपुरुष:।
कापुरुष: –––– कुत्सित: पुरुष:। कु एवं पुरुष का समास हो उत्तरपद रहते विकल्प से "का" आदेश प्राप्त हुआ। आदेश हो – का पुरुष, कापुरुष सु > कापुरुष:। आदेश के अभाव पक्ष में कु एवं पुरुष का समास हो कुपुरुष बनता है जिसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा एकवचन में कुपुरुष: शब्द बनता है।

(94) " कवंचोष्णे " (6.3.106)

उष्ण शब्द उत्तरपद रहते कु को कव आदेश भी होता है। चकारात् वैकल्पिक का आदेश भी होता है।
उदा.– कवोष्णम्, कोष्णम्, कदुष्णम् कवोष्णम् – कु और उष्ण का समास होने पर 'कु' को उष्ण परे रहते सूत्र द्वारा 'कव' आदेश हो – कव उष्ण > कवोष्ण बनता है। कवोष्ण सु > कवोष्ण अम् > कवोष्णम्।
कोष्णम् – सूत्रस्थ चकार से पक्ष में वैकल्पिक 'का' आदेश भी प्राप्त होता है। 'का' आदेश हो – का उष्ण > कोष्ण, कोष्ण सु > कोष्ण अम् > कोष्णम्। का आदेश वैकल्पिक है अत: जब 'का' आदेश नहीं होगा तो उष्ण के अजादि होने से कत् आदेश प्राप्त होता है कत् आदेश हो – कत् उष्ण > कदुष्ण सु > कदुष्णम् बनता है।
इस प्रकार सूत्र द्वारा 'ईषत् उषणम्' अर्थ में 'कु' को कव हो कवोष्णम् पक्ष में का एवं कत् हो कोष्णम् एवं कदुष्णम् ये तीन शब्द प्रयोग सिद्ध होते हैं।

(95) " पथि च च्छन्दसि " (6.3.107)

पथिन् शब्द उत्तरपद रहते पर भी वेद विषय में कु को 'कव' आदेश विकल्प करके हो जाता है। चकार बल से पक्ष में का आदेश भी प्राप्त है।
उदा.– कवपथ:, कापथ:, कुपथ:।
'कुत्सित: पन्था:, इस अर्थ में कु एवं पथिन् का समास होने पर कु को विकल्प से कव, का और कु आदि आदेश प्राप्त हुए। कव आदेश हो – कव पथिन् कवपथिन् जस् > कवपथ: शब्द निष्पन्न होता है। का आदेश हो कापथिन् जस् > कापथ: तथा कु पक्ष में कुपथिन् जस् > कुपथ: शब्द बनते हैं।

(96) " संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहनन्यतरस्यां ङौ " (6.3.109)

संख्या, वि तथा साय पूर्व में हों जिस अह्न के उसे ङि. परे रहने पर अहन् आदेश विकल्प से हो जाता है।

उदा.- द्व्यह्नि: द्व्यहनि, द्व्यह्ने त्र्यह्नि, त्र्यहनि त्र्यह्ने। सायाह्नि, सायाहनि, सायाह्ने।

द्व्यह्नि, द्व्यहनि, द्व्यह्ने --- द्वि एवं अहन् का समास हो, समास हुए शब्द से ङस्, ङस् का लोप हो, शब्द से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ। अब अहन् को सू. 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' से अह्न आदेश हो-द्वि अह्न टच् ऐसी दशा हुई। इससे सप्तमी एकवचन में ङि. प्रत्यय आने पर प्रकृत सूत्र द्वारा अह्न को अहन् आदेश प्राप्त हुआ। आदेश् होकर-द्वि अहन् टच् ङि. स > द्वि अहन् टच् ङि., ऐसी दशा हुई। अब अहन् के अन् के अकार का वैकल्पिक लोप प्राप्त है। लोप पक्ष में द्वि अह्न् अ इ > द्व्यह्नि तथा लोप के अभाव में 'द्व्यहनि' ये रूपद्वय सिद्ध हुए। सूत्र विहित अहन् आदेश वैकल्पिक विहित है अतः आदेश के अभाव में द्वि अह्न अच् ङि. > 'द्व्यह्ने' शब्द बनता है।

इसी प्रकार वि एवं साय से परे अह्न को अहन् हो त्र्यह्नि, त्र्यहनि। तथा सायाह्नि, सायाहनि- दो दो रूप बने और आदेश के अभाव में त्र्यह्ने तथा सायाह्ने शब्द सिद्ध होते हैं।

(97) " शा हौ " (6.4.35)

शास् अङ्ग् के स्थान में हि परे रहते 'शा' आदेश हो जाता है।

उदा.- अनुशाधि, प्रशाधि।

अनुशाधि - अनुशास् सिप् > अनु शास् हि हि परे रहते 'शास्' अङ्ग के स्थान में 'शा' आदेश होकर - अनु शा हि । अनु शा धि (हि को धि होकर।)

प्रशाधि - प्र शास् सिप् > प्र शास् हि । हि परे रहते शास् को 'शा' आदेश होकर - प्र शा हि । प्र शा हि > प्रशाधि।

(98) " हन्तेर्जः " (6.4.36)

हन् अंग के स्थान में हि परे रहने पर 'ज' आदेश होता है।

उदा.- जहि

जहि- हन् सिप् > हन् हि। हि परे रहते हन् को 'ज' आदेश होकर - जहि।

(99) " इणो यण् " (6.4.81)

इण् अंग को यणादेश होता है, अच् परे रहते।

उदाहरण - यन्ति, यन्तु, आयन्।

यन्ति - इण् शप् अन्ति.(झि > अन्ति) > इ अन्ति। अच् परे रहते इण् अंग को यण् आदेश हो - य् अन्ति > यन्ति।

यन्तु- इण् लोट् > इण् शप् झि > इण् झि > इण् अन्ति। अच् परे रहते इण् को यण् आदेश हो- य् अन्ति > यन्ति। यन्ति> यन्तु (एरुः सू. से)

आयन् – इण् लङ्. > इण् झि > इण् शप् झि > इण् झि > इण् झ > इण् अन्त् > इण् अन्। अच् अकार परे रहते इण् को सूत्रविहित यण् हो– य् अन्। आभीय होने से यण् को असिद्धवत् मान अजादिलक्षण आट् आगम हो– आ य् अन्=आयन् शब्द बना।

(100) " पादः पत् " (6.4.130)

भसंज्ञक पाद् शब्द को पत् आदेश हो जाता है।

उदाहरण – द्विपदः, सुपदः।

द्विपदः – द्विपाद् शस्। शस् का शकार इत्संज्ञक है अतः अजादि प्रत्यय परे होते द्विपाद् शब्द की भसंज्ञा होती है और प्रकृत सूत्र द्वारा पाद् के स्थान पर पद् आदेश होता है। आदेश होकर – द्विपद् अस् > द्विपदः।

सुपदः – सुपाद् अस्। पाद् को सूत्रविहित पद आदेश होकर – सुपद् अस् > सुपदः।

(101) " प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः " (6.4.156)

प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक– इन अंगो को प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द – ये आदेश यथासंख्य करके हो जाते हैं; इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहने पर।

उदाहरण :–

प्रिय – प्रेष्ठः, प्रेमा, प्रेयान्।

स्थिर – स्थेष्ठः, स्थेयान्।

स्फिर – स्फेष्ठः, स्फेयान्।

उरु – वरिष्ठः, वरिमा, वरीयान्।

बहुल – बंहिष्ठः, बंहिमा, बंहीयान्।

गुरु – गरिष्ठः, गरिमा, गरीयान्।

वृद्ध – वर्षिष्ठः, वर्षीयान्।

तृप – त्रपिष्ठः, त्रपीयान्।

दीर्घ – द्राघिष्ठः, द्राघीयान्, द्राघिमा।

वृन्दारक – वृन्दिष्ठः, वृन्दीयान्।

प्रेष्ठः – प्रिय इष्ठन्। सूत्र द्वारा प्रिय को 'प्र' आदेश होकर प्र इष्ठन् >प्रेष्ठ। प्रेष्ठ सु =प्रेष्ठः।

स्थेयान् – स्थिर ईयसुन्। स्थिर को स्थ आदेश होकर – स्थ ईयस् > स्थेयस्। स्थेयस् सु > स्थेयान्।

वरिमा – उरु इमनिच्। उरु को सूत्रविहित वर् आदेश हो – वर् इमनिच् > वरिमन्। वरिमन् सु > वरिमा।

इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी सूत्रोपदिष्ट आदेश हुए हैं।

(102) " बहोर्लोपो भू च बहोः " (6.4.158)

बहु शब्द से उत्तर इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् का लोप होता है, और

उस बहु के स्थान में भू आदेश भी होता है।
उदाहरण् - भूमा, भूयान्।
भूयान् - बहु ईयसुन्। आलोच्य सूत्र द्वारा ईयसुन् को लोप एवं सूत्र में बहु को भू आदेश प्राप्त हुआ। बहोः सूत्र में पंचम्यन्त उपदिष्ट हुआ है अतः 'आदेः परस्य' नियम से लोप बहु के परे जो इष्ठन् ईयसुन् इमनिच् आदि प्रत्यय उनके आदि वर्ण का होगा। लोप एवं आदेश होकर - भू यस्। प्रथमा एकवचन में भूयान् शब्द सिद्ध हुआ।
भूमा - बहु इमनिच्। सूत्रविहित लोप एवं आदेश कार्य होकर - भू मन्। भूमन् सु > भूमा।

(103) " इष्ठस्य यिट् च " (6.4.159)
बहु शब्द से उत्तर इष्ठन् को यिट् आगम होता है तथा बहु शब्द को भू आदेश भी होता है।
उदाहरण - भूयिष्ठः ।
भूयिष्ठः - बहु इष्ठन् । सूत्रविहित आगम एवं आदेश होकर - भू य् इष्ठ। भूयिष्ठ सु>भूयिष्ठः ।

(104) " त्रेस्त्रयः " (7.1.53)
त्रि अंग को त्रय आदेश हो जाता है यदि आम् परे हो तो ।
उदाहरण - त्रयाणाम् ।
त्रयाणाम् - त्रि आम्। आम् परे रहते त्रि को त्रय आदेश हो - त्रय आम्। त्रय आम् > त्रय न् आम् > त्रया नाम् > त्रयाणाम्।

(105) " ह्रु ह्वरेश्छन्दसि " (7.2.31)
ह्वृ कौटिल्ये धातु को निष्ठा परे रहने पर वेद विषय में ह्रु आदेश होता है।
उदाहरण - अह्रुतम् ।
अह्रुतम् - न ह्रुतम्=अह्रुतम्। ह्वृ क्त इस दशा में ह्वृ को ह्रु आदेश हो-ह्रु त। नञ् ह्रुत > अह्रुत। अह्रुत सु > अह्रुतम्।

(106) " युवावौ द्विवचने " (7.2.92)
द्विवचन में युष्मद् एवं अस्मद् अंग के मपर्यन्त को क्रमशः युव, आव आदेश हो जाते हैं।
उदाहरण - युवाम्, आवाम्। युवाभ्याम्, आवाभ्याम् युवयोः आवयोः ।
युवाम् - युष्मद् औ > युष्मद् अम्। युष्म् पर्यन्त को युव आदेश हो- युव अद् अम्। युवद् अम् > युव आ अम् > युवा अम् > युवाम्।
आवाम् - अस्मद् औ > अस्मद् आम्।
सूत्रविहित आदेश हो - आव अद् अम्। आव अद् अम् > आवद् अम् > आव आ अम् > आवा अम् > आवाम्।
युवाभ्याम्, आवाभ्याम् - युष्मद् भ्याम्, अस्मद् भ्याम्। सूत्रविहित आदेश हो - युव अद् भ्याम्, आव अद् भ्याम् । युवद् भ्याम् आवद् भ्याम > युव आ भ्याम् एवं आव आ भ्याम् > युवाभ्याम्, आवाभ्याम्।
युवयोः, आवयोः - युष्मद् ओस्, अस्मद् ओस्। सूत्रविहित आदेश हो

---- युव अद् ओस्, आव अद् ओस् > युवद् ओस्, आवद् ओस् > युवयोः, आवयोः ।

(107) " यूयवयौ जसि " (7.2.93)

जस् विभक्ति परे हो तो युष्मद्, अस्मद् अंग के मपर्यन्त को क्रमशः यूय, वय आदेश होते हैं।

उदा.- यूयम्, वयम् ।

यूयम् - युष्मद् जस् > युष्मद् अम् । युष्म् को यूय आदेश हो- यूय अद् अम् > यूयम् (पररूप हो यूयद् अम्, टि का लोप हो यूय् अम् > यूयम् ।)

वयम् - अस्मद् जस् > अस्मद् अम् । अस्म् को वय आदेश ---वय् अद् अम् > वयम् ।

(108) " त्वाहौ सौ " (7.2.94)

सु विभक्ति परे रहने पर युष्मद्, अस्मद् अंग के मपर्यन्त को क्रमशः त्व तथा अह् आदेश होते हैं।

उदाहरण - त्वम्, अहम् ।

त्वम् - युष्मद् सु > युष्मद् अम् । सूत्र द्वारा विहित आदेश हो - त्व अद् अम् > त्वद् अम् त्व् अम् > त्वम् ।

अहम् - अस्मद् सु > अस्मद् अम् । सूत्र द्वारा प्राप्त आदेश होकर - अह अद् अम् > अहद् अम् > अह् अम् > अहम् ।

(109) " तुभ्यमह्यौ ङयि " (7.2.92)

युष्मद् अस्मद् अंग के मपर्यन्त को क्रमशः तुभ्य, मह्य आदेश हो जाते हैं यदि इनसे परे ङे. विभक्ति हो।

उदाहारण - तुभ्यम्, मह्यम् ।

तुभ्यम् - युष्मद् ङे. > युष्मद् अम् । युष्मद् के मपर्यन्त को सूत्रविहित तुभ्य आदेश हो - तुभ्य अद् अम् > तुभ्यद् अम् > तुभ्य् अम् > तुभ्य् अम् > तुभ्यम् ।

मह्यम् - अस्मद् ङे.>अस्मद् अम् । अस्म् को सूत्रविहित मह्य आदेश हो - मह्य अद् अम् > मह्यम् ।

(110) " तवममौ ङसि " (7.2.96)

युष्मद् अस्मद् अंग के मपर्यन्त को क्रमशः तव तथा मम आदेश होते हैं यदि इनसे परे ङस् विभक्ति हो तो ।

उदाहरण - तव, मम ।

तव - युष्मद् ङस् > युष्मद् अस् । युष्मद् के मपर्यन्त को 'तव' आदेश हो - तव अद् अ > तवद् अ > तव् अ > तव ।

मम - अस्मद् ङस् । अस्म् को मम आदेश हो- मम अद् ङस् । मम अद् अस् > ममद् अ > मम् अ = मम ।

(111) " त्वमावेकवचने " (7.2.97)

एकवचन का कथन करने वाले युष्मद् तथा अस्मद् अंग के मपर्यन्त को क्रमशः त्व, म आदेश होते हैं।

उदाहरण - त्वाम्, माम् ।

त्वाम् – युष्मद् अम् । सूत्रविहित आदेश होकर– त्व अद् अम् > त्वद् अम् > त्व अ अम् > त्व् आ अम् > त्वा अम् > त्वाम् ।

माम् । – अस्मद् अम् । 'अस्म' को 'म' आदेश हो – म अद् अम् > मद् अम् > माम् ।

(112) " प्रत्ययोत्तरपदयोश्च " (7.2.98)

प्रत्यय तथा उत्तरपद परे रहते भी एकत्व अर्थ में वर्तमान युष्मद् अस्मद् अंग के मपर्यन्त को क्रमशः त्व, म आदेश होते हैं ।

उदाहरण – त्वदीयः, मदीयः ।

त्वदीयः – युष्मद् छ > युष्मद् ईय् अ । युष्मद् के मपर्यन्त को त्व आदेश होगा क्योंकि इससे परे प्रत्यय है । आदेश हो– त्व अद् ईय् अ > त्वदीय । त्वदीय सु > त्वदीयः ।

मदीयः – अस्मद् छ । अस्मद् के मपर्यन्त को म आदेश होकर – म अद् छ > मद् ईय् अ > मदीय, मदीय सु=मदीयः ।

(113) " त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ " (7.2.99)

त्रि तथा चतुर् अंग को स्त्रीलिंग में क्रमशः तिसृ, चतसृ आदेश विभक्ति परे रहने पर होते हैं ।

उदाहरण – तिस्रः, चतस्रः, तिसृभिः, चतसृभिः ।

तिस्रः – त्रि जस् । जस् विभक्ति प्रत्यय है अतः त्रि को तिसृ आदेश हो – तिसृ जस् । तिसृ जस् > तिस्रः ।

चतस्रः – चतुर् जस् । विभक्ति प्रत्यय परे रहते चतुर् को सूत्रविहित चतसृ आदेश हो– चतसृ जस् > चतसृ अस् > चतस्रः।

'स्त्रियाम्' इस नियम के कारण पुल्लिंग में त्रि एवं चतुर् को तिसृ, चतसृ आदेश नहीं होंगे । और त्रि जस् > त्रयः, चतुर् जस् > चतुरः आदि शब्द सिद्ध होंगे ।

(114) " जराया जरसन्यतरस्यां " (7.2.101)

अजादि विभक्ति प्रत्यय परे हो तो जरा को विकल्प से जरस् आदेश हो जाता है ।

उदा.– जरसा दन्ताः शीर्यन्ते । जरया दन्ताः शीर्यन्ते । जरसे, जरायै इत्यादि ।

जरसा – जरा टा > जरा आ । अजादि विभक्ति प्रत्यय परे रहते जरा को सूत्रविहित जरस् आदेश होकर – जरस् आ > जरसा ।

जरया –जरा टा । सूत्रविहित आदेश वैकल्पिक है अतः जब आदेश नहीं होगा तो जरा टा > जरे आ > जरय् आ > जरया शब्दरूप बनेगा ।

(115) " किमः कः " (7.2.103)

किम् अंग को विभक्ति परे रहते पर क आदेश होता है ।

उदा.– कः, कौ, के ।

कः – किम् सु । सु विभक्ति–प्रत्यय है अतः इसके परे रहते किम् को सूत्र द्वारा क आदेश प्राप्त हुआ । --- क सु > कः ।

कौ – किम् औ । किम् को क आदेश हो – क औ > कौ ।

(116) " कु तिहो: " (7.2.104)

तकारादि तथा हकारादि विभक्तियों के परे रहने पर किम् को कु आदेश होता है।

उदा.- कुतः, कुत्र, कुह।

कुतः - किम् ङसि तसिल् > किम् तस्। तकारादि तसिल् परे रहते किम् को कु आदेश होकर कु तस् > कुतः।

कुत्र - किम् ङसि त्रल्>, किम् त्रल्।त्र(तकारादि प्रत्यय है इसलिए इसके परे रहने से किम् को कु आदेश होकर - कु त्र=कुत्र।

(117) " क्वाति " (7.2.105)

अत् विभक्ति के परे रहने पर किम् अंग को क्व आदेश होता है।

उदाहरण - क्व।

क्व - किम् ङि. अत् > किम् अत्। अत्-विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय परे होने से किम् को क्व आदेश हो - क्व अत् > क्व अ > क्व।

त्रल्, तसिल् अत् इत्यादि प्राग्दिशीय प्रत्यय हैं।

"प्राग्दिशो: विभक्ति:" सू. से इनकी विभक्ति संज्ञा होती है जिसके फलस्वरूप किम् को यहाँ क्व आदेश प्राप्त हो जाता है।

(118) " इदोऽय् पुंसि " (7.2.111)

इदम् शब्द के इद् रूप को पुल्लिंग में अय् आदेश हो जाता है। विभक्ति परे हो तो।

उदाहरण - अयम्।

अयम् - इदम् सु > इद अ सु > इद सु > इद अम्। विभक्ति परे रहते इद् को अय् आदेश हो - अय् अ अम् > अय अम् > अयम्।

(119) " अनाप्यक: " (7.2.112)

ककार से रहित इदम् शब्द के इद् भाग को अन आदेश होता है आप् विभक्ति परे रहने पर। आप् अर्थात् आङ्. से सुप् तक।

उदाहरण - अनेन, अनयो:।

अनेन - इदम् टा > इद अ टा > इद टा इद् को सूत्रविहित अन् आदेश हो - अन् अ टा > अन टा > अन इन > अनेन।

अनयो: - इदम् ओस् > इद ओस्। इद को अन् आदेश हो- अन् अ ओस् > अन ओस् > अने ओस् > अनय् ओस् > अनयो: 'अक:' प्रतिषेध कथन से साकच्क इदम् को यह आदेश नहीं होगा यथा - इमकेन, इमकयो:।

(120) " केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरिय: " (7.3.2)

केकय, मित्रयु, प्रलय - इन अंगों के यकारादि भाग को इय आदेश होता है ञित्, णित् तथा कित् तद्धित परे रहने पर।

उदाहरण- कैकेय:, मैत्रेयक:, प्रालेय:।

कैकेय :- केकय अञ्। अञ् ञित् तद्धित प्रत्यय है अत: य को इय आदेश हो - केक इय अन् > कैकेय। कैकेय सु > कैकेय:।

मैत्रेयक:- मित्रयु ठञ्। ञित् तद्धित परे रहते अंग के यकारादि यु भाग

को इय आदेश हो–मित्र इय ठञ् > मैत्रेयक शब्द बनता है। मैत्रेयक सुं = मैत्रेयकः ।

प्रालेयः – प्रलय अण्। य को सूत्रविहित इय आदेश हो – प्रल इय अ > प्रालेय शब्द बना। प्रालेय सु > प्रालेयः ।

(121) " पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्त्तिसर्त्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः " (7.3.78)

पा, घ्रा, ध्मा, स्था, म्ना, दाण्, दृशिर्, ऋ, सृ, शदलृ तथा षदलृ इन्हें शित् प्रत्यय परे रहते पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय, सीद – ये आदेश हो जाते हैं।

उदाहरण – पिबति, जिघ्रति, धमति, तिष्ठति, मनति, यच्छति, पश्यति, ऋच्छति, धावति, शीयते, सीदति आदि।

पिबति – पा शप् तिप्। पा को सूत्र-विहित पिब आदेश हो – पिब अ ति > पिबति।

जिघ्रति – घ्रा शप् तिप्। घ्रा को जिघ्र आदेश हो – जिघ्र अ ति > जिघ्रति।

धमति – ध्मा शप् तिप्। ध्मा को धम आदेश हो – धम अ ति > धमति।

तिष्ठति – स्था शप् तिप्। स्था को तिष्ठ आदेश हो – तिष्ठ अ ति > तिष्ठति।

मनति – म्ना शप् तिप्। म्ना को मन आदेश हो – मन अ ति > मनति।

यच्छति – दाण् शप् तिप्। यच्छ अ ति दा को यच्छ आदेश हो। यच्छति।

पश्यति – दृशिर् शप् तिप्। दृशिर् को पश्य आदेश हो – पश्य अ ति=पश्यति।

ऋच्छति – ऋ शप् तिप्। ऋ को सूत्र द्वारा ऋच्छ आदेश हो– ऋच्छ अ ति > ऋच्छति।

धावति – सृ शप् तिप्। सृ को धौ आदेश हो – धौ अ ति > धावति।

शीयते – शदलृ शप् त। शदलृ को शीय आदेश हो – शीय अ त >शीयते।

सीदति – षदलृ शप् तिप्। षदलृ को सीद आदेश हो– सीद अ ति > सीदति।

(122) " ज्ञाजनोर्जा " (7.3.79)

ज्ञा तथा जनी धातु को शित् प्रत्यय परे रहते जा आदेश होता है।

उदाहरण – जानाति, जायते।

जानाति – ज्ञा श्ना तिप् > ज्ञा ना ति। शित् श्ना परे रहते ज्ञा को प्रकृत सूत्र से जा आदेश होकर – जा ना ति=जानाति।

जायते – जन् श्यन् त > जन् य त। शित् श्यन् परे रहते जन को जा

आदेश होकर – जा य त > जायते ।

(123) " वयतेर्विगि लिटि " (7.4.9)

वेड्. (रक्षणे) धातु को लिट् परे रहते विगि आदेश होता है ।
उदा.– अवविग्ये, अवविग्याते, अवविग्यिरे ।
अवविग्ये – अववेड्. लिट् > अव वेड्. त>अव वेड्. एश् । लिट् परे रहते वेड्. को विगि आदेश हो – अव विगि ए >अवविग् य ए= अवविग्ये ।

(124) " दधातेर्हिः " (7.4.42)

डुधाञ् अंग को हि आदेश तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते होता है ।
उदा.– हितः, हितवान्, हित्वा ।
हितः – धा क्त > धा त । क्त तकारादि कित् प्रत्यय है अतः इसके परे होते 'धा' अंग को हि आदेश हो – हि त । हित सु > हितः ।
हितवान् – धा क्तवत् > धा तवत् । क्तवत् कित् एवं तकारादि प्रत्यय है अतः धा को हि आदेश हो – हि तवत् । हितवत् सु=हितवान् ।
हित्वा – धा क्त्वा । धा को सूत्रविहित हि आदेश हो – हि क्त्वा > हि त्वा । हित्वा सु > हित्वा ।

(125) " जहातेश्च क्त्वि " (7.4.43)

ओहाक् (त्यागे) अंग को भी क्त्वा प्रत्यय परे रहते 'हि' आदेश होता है ।
उदाहरण – हित्वा ।
ओहाक् क्त्वा > हा त्वा । हा अंग को सूत्र द्वारा विहित हि आदेश होकर – हि त्वा । हित्वा सु > हित्वा ।

(126) " विभाषा छन्दसि " (7.4.44)

ओहाक् अंग को विकल्प से वेद विषय में क्त्वा प्रत्यय परे रहने पर 'हि' आदेश हो जाता है ।
उदा.– हित्वा, हात्वा । हित्वा शरीरं यातव्य । हित्वा, हात्वा – हा क्त्वा > हा त्वा । सूत्र विहित हि आदेश पक्ष में– हि त्वा तथा आदेश के अभाव में 'हात्वा' शब्द बनते हैं ।

(127) " दो दद् घोः " (7.4.46)

घुसंज्ञक दा धातु के स्थान में दद् आदेश होता है, तकारादि कित् प्रत्यय परे रहने पर ।
उदा.– दत्तः, दत्तवान्, दत्तिः ।
दत्तः – दा क्त । तकारादि कित् प्रत्यय क्त परे रहते दा धातु को दद् आदेश हो – दद् त > दत्त । दत्त सु > दत्तः ।
दत्तिः– दा क्तिन् > दा ति । घुसंज्ञक दा को सूत्रविहित दद् आदेश हो – दद् ति । दद् ति > दत् ति > दत्ति । दत्ति सु > दत्तिः ।

(128) " अच उपसर्गात्तः " (7.4.47)

अजन्त उपसर्ग से उत्तर घुसंज्ञक दा अंग को तकारादि कित् प्रत्यय परे रहने पर तकारादेश होता है । तकार में अकार उच्चारणार्थ है ।

उदा.- प्रत्तम्, अवत्तम्, नीत्तम् ,परीत्तम् ।

प्रत्तम् - प्र दा क्त । अजन्त उपसर्ग प्र से परे घुसंज्ञक दा को सूत्रविहित त आदेश होगा क्योंकि दा से परे तकारादि कित् क्त प्रत्यय है । आदेश हो - प्र द् त् त > प्रत्त । प्रत्त सु > प्रत्त अम् > प्रत्तम् ।

विशेष - यह आदेश यद्यपि एकवर्णात्मक है तथापि सम्पूर्ण अंग के स्थान पर होने से इसे 'प्रकृत्यादेश प्रकरण' में रखा गया । एकाल् आदेश होने से इसका स्थानी भी एकवर्णात्मक ही होना चाहिए । 'उपसर्गात्' यह पद पञ्चम्यन्त निर्दिष्ट हुआ है अतः 'आदेः' 'परस्य' नियम से उपसर्ग के पर जो है उसके आदि अल् को अर्थात् द् को यह आदेश होना चाहिए । इस तरह दा को आदेश हो- नि त् आ क्त ऐसी स्थिति होती और नीत्तम् आदि रूप बनना संभव न होता । इस हेतु समाधान सुझाया गया - 'अचः' इत्येतद् द्विरावर्तयितव्यम्; तत्रैकं पंचम्यन्तम् उपसर्गविशेषणार्थम् अपरमपि षष्ठ्यन्तं स्थानिनिर्देशार्थमित्याकारस्य स्थाने तकारो भवति ।[19] दूसरा समाधान प्रस्तुत करते हुए काशिकाकार का कहना है- द्वितकारो वा संयोगोऽयमादिश्यते ।"[20]

इस प्रकार व्याख्याकारों ने दो समाधान सुझाया । प्रथम - 'अचः' इस पद की दो बार सूत्र मे आवृत्ति हो । तब प्रथम आवृत्ति के पद को पंचम्यन्त माना जाय और इसे उपसर्गात् पद का विशेषण माना जाय । इसका अर्थ होगा 'अजन्त उपसर्ग से परे' (जो घुसंज्ञक दा) तथा द्वितीय अचः को षष्ठ्यन्त माना जाय तथा इसे स्थानी का निर्देशक माना जाय जिसका अर्थ निकलेगा-घुसंज्ञक दा के अच् को तकार अन्तादेश हो । समुदायार्थ होगा- अजन्त उपसर्ग से परे जो घुसंज्ञक दा उसके अच् को तकार अन्तादेश हो । इस प्रकार अभीष्ट रूपसिद्धि संभव होगी ।

काशिकाकार का दूसरा समाधान है आदेश को संयुक्त - द्वितकारात्मक, माना जाय तब अनेकाल्त्वेन संपूर्ण स्थानी के स्थान पर हो जाने पर - नि त्त क्त > नि त्त त इस दशा में संयोगान्त लोप हो- नि त् त, नित्त सु > नीत्तम् रूप बन सकेगा ।

इस सूत्र का परवर्ती सूत्र है 'अपो भि' । उस सूत्र में इस सूत्र से आदेश की अनुवृत्ति होती है वहाँ अप् के पकारमात्र को त् आदेश अपेक्षित है । सूत्र के उपर्युक्त दोनों समाधानों से 'अद्भिः' आदि रूपसिद्धि न हो सकेगी । इसका समाधान करते हुए काशिकाकार ने कहा - 'अपो भि' इत्यत्र पंचम्यन्तं अचः इत्यनुवर्तते तेन पकार मात्रस्य भविष्यति ।[21] अर्थात् 'अपो भि' सूत्र में पंचम्यन्त 'अचः' की अनुवृत्ति होगी । और 'तस्मादित्युत्तरस्य' के नियम से पकारमात्र को ही आदेश होगा सम्पूर्ण अप् को नहीं । द्वितकारात्मक आदेश विधान की अनुवृत्ति में भी कठिनाई नहीं । अनेकाल् होते हुए भी यह आदेश पूर्व सूत्र के पंचम्यन्त 'अचः' की अनुवृत्ति होने से 'तस्मादित्युत्तरस्य' नियम से पकारमात्र को ही होगा । दोनों तकारों में अन्त्य तकार का संयोगान्त लोप हो जायगा तथा अत् भिस् > अद्भिः आदि रूपसिद्धि हो सकेगी ।

(129) " युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ " (8.1.20)

पद से उत्तर षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्ति में स्थित (अर्थात् षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त तथा द्वितीयान्त जो अपदादि में वर्तमान) युष्मद् अस्मद् शब्द उनके सम्पूर्ण के स्थान में क्रमशः वाम्, नौ आदेश होते हैं एवं उन आदेशों को अनुदात्त भी होता है।

उदा.- ग्रामो वां स्वम्। जनपदो नौ स्वम्। ग्रामो वां दीयते, जनपदो नौ दीयते। ग्रामो वां पश्यति। जनपदो नौ पश्यति ।

ग्रामो वां स्वम् - यहाँ 'ग्रामः' पद से उत्तर षष्ठी-द्विवचनान्त युष्मद् को वाम् आदेश हुआ है जनपदो नौ स्वम् - यहाँ जनपदः पद से उत्तर षष्ठी द्विवचनान्त अस्मद् को नौ आदेश हुआ। ग्रामो वां दीयते - यहाँ चतुर्थी द्विवचन में युष्मद् को वाम् आदेश हुआ।

ग्रामो नौ दीयते - यहाँ चतुर्थी-द्विवचनान्त अस्मद् को नौ आदेश हुआ।

इसी प्रकार पद से उत्तर षष्ठी द्विवचनान्त युष्मद् को वाम् तथा अस्मद् को नौ आदेश हो 'ग्रामो वां पश्यति' जनपदो नौ पश्यति' आदि में वां नौ आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'षष्ठीचतुर्थीद्वितीयान्त' को आदेश विहित होने से इनके व्यतिरिक्त विभक्ति में ये आदेश नहीं होंगे। जैसे पंचमी में स्थित युष्मद् को आदेश नहीं होता - ग्रामे युवाभ्यांकृतम्।

(130) " बहुवचनस्य वस्नसौ " (8.1.21)

पद से उत्तर अपदादि में वर्तमान जो बहुवचन में षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त एवं द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् पद उनको क्रमशः वस् नस् आदेश होते हैं और वे आदेश अनुदात्त होते हैं।

उदा.- ग्रामो वः स्वम्, जनपदो नः स्वम्। ग्रामो वो दीयते , जनपदो नो दीयते । ग्रामो वः पश्यति, जनपदो नः पश्यति।

ग्रामो वः स्वम् - 'ग्रामः' पद से उत्तर षष्ठी बहुवचनान्त युष्मद् को वस् आदेश होकर - वः प्रयोग बनता है।

जनपदो नः स्वम् - षष्ठी बहुवचनान्त अस्मद् को नस् आदेश हो 'नः' प्रयोग सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार चतुर्थ्यन्त एवं द्वितीयान्त अस्मद् युष्मद् शब्द को नस्, वस् आदेश हुए हैं।

(131) " तेमयावेकवचने " (8.1.22)

पद से उत्तर एकवचन में वर्तमान षष्ठ्यन्त एवं चतुर्थ्यन्त युष्मद् अस्मद् पद को क्रमशः ते, मे आदेश होते हैं और ये आदेश अनुदात्त होते हैं।

उदा.- ग्रामस्ते स्वम्। ग्रामो मे स्वम्। ग्रामस्ते दीयते। ग्रामो मे दीयते।

यहाँ द्वितीयान्त, चतुर्थ्यन्त अस्मद् एवं युष्मद् को एकवचन में मे, ते आदेश हुए हैं।

(132) " त्वामौ द्वितीयायाः " (8.1.23)

पद से उत्तर अपदादि में वर्तमान जो द्वितीया- एकवचनान्त युष्मद्, अस्मद् पद उसे यथाक्रम त्वा, मा आदेश हो जाते हैं।

उदा.- ग्रामस्त्वा पश्यति। ग्रामो मा पश्यति। यहाँ द्वितीयाएकवचनान्त

युष्मद् अस्मद् को क्रमेण त्वा, मा आदेश हुए हैं।
वस्, नस्– इत्यादि आदेशों के स्थानी अस्मद्, युष्मद् हों या षष्ठी बहुवचनान्त युष्मद् अस्मद् के रूप युष्माकम् अस्माकम्, द्वितीयाबहुवचन के अस्मान्, युष्मान्; चतुर्थी बहुवचन के अस्मभ्यम्, युष्मभ्यम् तथा वाम्, नौ, ते, मे, त्वा, मा के स्थानी अस्मद् युष्मद् शब्द हों या अस्मद् युष्मद् के द्वारा निष्पन्न विभक्ति प्रत्ययान्त पद? इस विषय में स्पष्ट होता है कि यहाँ स्थानी अस्मद् युष्मद् प्रकृति नहीं अपितु अस्मद् युष्मद् प्रकृति से निष्पन्न द्वितीया चतुर्थी षष्ठी इत्यादि विभक्तियों में निष्पन्न होने वाले पद हैं। इस प्रकार वस्, नस्, ते, मे, वाम्, नौ आदि आदेशों के विधायक ये सूत्र अन्य की अपेक्षा कुछ भिन्न प्रकार के हैं क्योंकि इनके द्वारा सम्पूर्ण प्रकृतिप्रत्यय को अर्थात पद को आदेश विहित किया गया है। न कि प्रकृतिमात्र, प्रत्ययमात्र या प्रकृत्यंश अथवा प्रत्ययांश को। इस विषय में बालमनोरमाकार ने कहा है – "बलात्ते मेऽपि शर्म स इति, अत्र तुभ्यम्, मह्यम् इति चतुर्थी–एकवचनान्तयोः ते, मे इत्यादेशौ। स्वामी ते मेऽपि स हरिरिति। अत्र तव मम इति षष्ठ्येकवचनान्तयोः ते मे आदेशौ।"[22] इत्यादि।

सन्दर्भ–सूची

1. द्र. सूत्र का भाष्य।
2. द्र. अजेर्व्यघञपोः की हरदत्तविरचित पदमञ्जरी टीका।
3. द्र. वि माधवीय धातुवृत्ति पृ. 362 सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, प्राच्य भारती प्रकाशन, कामाच्छा, वाराणसी 1964।
4. "अन्तर्घनः, संज्ञीभूतो वाहीकेषु देशविशेष उच्यते।" – सूत्र की काशिका व्याख्या।
5. द्र. सूत्र की पदमञ्जरी एवं न्यास टीकाएँ।
6. सूत्र की काशिकावृत्ति की पदमञ्जरी टीका।
7. प्राग्दिशीय प्रत्यय हैं – तस्, तसिल्, त्रल्, ह, अत्, दा, र्हिल्, दानीं, थमु, था आदि।
8. दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः (5.3.26) सू. अस्ताति प्रत्यय का विधायक है।
9. सूत्र पर की गई इष्टि। द्र.-काशिकावृत्ति में (5.4.118) की काशिका व्याख्या। भाष्य में यह इष्टि नहीं प्राप्त होती।
10. सूत्र की काशिका व्याख्या।
11. सिद्धान्त कौमुदी – बहुव्रीहि समास प्रकरण में वार्तिक "वेर्ग्रो वक्तव्यम्" की व्याख्या।
12. सूत्र की तत्त्वबोधिनी टीका – सिद्धान्त कौमुदी बहुव्रीहि समास प्रकरण।

13. काशिकावृत्तिः चतुर्थो भागः । सं. डा. श्रीनारायणमिश्रः । प्रकाशक – रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी 1985 । पृष्ठ 412 पदमन्जरी व्याख्या की टिप्पणी ।
14. बहुव्रीहि में न ही पूर्वपद का अर्थ प्रधान होता है न ही उत्तरपद का अपितु इनसे भिन्न किसी अन्य पद का अर्थ प्रधान होता हैं। इसी अन्य पदार्थ के विषय में सूत्र द्वारा आदेश विहित हुआ है।
15. सूत्र –"क्तक्तवतू निष्ठा" क्त एवं क्तवतू ये प्रत्यय निष्ठासंज्ञक हैं।
16. द्र.– सूत्र की काशिका व्याख्या ।
17. न्यास टीका –"उदकादिना द्रव्येणान्तर्व्याप्तिव्यः पूरयितव्य इत्युच्यते ।"
18. इयत्–इदम् वत् > इदम् घ त् > इदम् इय् अत् > इदम् इयत् > ई इयत् > इयत् । ई इयत् इस दशा में 'यस्येति च' सेः पूर्ववर्ती ईकार का लोप प्राप्त होता है। प्रकृति के एकाल् होने से सम्पूर्ण प्रकृति का लोप हो जाता है और मात्र प्रत्यय ही अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार 'इयत्' एक ऐसा शब्द है जिसमें सम्पूर्ण प्रकृति का लोप हो जाता हैं।
19. सूत्र की काशिकावृत्ति ।
20. सूत्र की काशिकावृत्ति ।
21. काशिकावृत्ति ।
22. द्र. सिद्धान्त कौमुदी, बालमनोरमा टीका सू. त्यामो द्वितीयायाः ।

समास प्रकरण

(1) " सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि " (5.3.6)

'सर्व' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश होता है यदि दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे हो तो।

उदा.- सदा, सर्वदा।

सदा - सर्वस्मिन् काले अर्थ में सर्व सर्वनाम सेदा प्रत्यय हुआ - सर्व दा। सर्व को सूत्र द्वारा प्राप्त 'स' आदेश हो - स दा = सदा शब्द बना।

सर्वदा - आदेश के अभाव में सर्व दा = सर्वदा शब्द बना।

(2) " सहस्य सः संज्ञायाम् " (6.3.77)

सह शब्द को स आदेश होगा यदि सिद्ध हुआ शब्द संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हो।

उदा.- साश्वत्थम्, सपलाशम्, सशिंशपम् आदि।

साश्वत्थम् - सह अश्वत्थ। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' सू. से अश्वत्थेन सह इस अर्थ में सह एवं अश्वत्थ शब्दों का बहुव्रीहि समास हुआ। आलोच्य सूत्र द्वारा 'सह' को 'स' आदेश प्राप्त होगा। आदेश होकर - स+अश्वत्थ = साश्वत्थ = साश्वत्थम्।

(3) " ग्रन्थान्ताधिके च " (6.3.78)

उत्तरपद परे रहते सह शब्द को स आदेश होगा यदि सह का अर्थ 'अमुक ग्रन्थ पर्यन्त' या 'अधिक' हो।

उदा.- सकलं ज्यौतिषमधीते (कला-ग्रन्थपर्यन्त ज्यौतिषशास्त्रमधीते)। सद्रोणा खारी (द्रोण परिमाणमधिकं खारी)।

सकलं --- सह कला। सह का स आदेश हो - स कला। पुंवद्भाव, ह्रस्व स्, सु को अम् हो 'सकलं' सिद्ध होगा।

सद्रोणा - सह द्रोण। स आदेश हो स द्रोण > सद्रोण। स्त्रीलिंग में सद्रोणा हुआ।

(4) " द्वितीये चानुपाख्ये " (6.3.79)

अप्रधान अनुमेय को कहना हो तो सह को स आदेश हो जाता है।

उदा.- सपिशाचा वात्या। सराक्षसीका शाला। साग्निः कपोतः।

सपिशाचा - सह पिशाच टाप्। यहाँ द्वितीय अनुपाख्य अर्थात् अप्रधान अनुमेय के साथ सह शब्द प्रयुक्त हुआ है। आदेश होने पर - सपिशाच शब्द बना। स्त्रीत्व विवक्षा में 'सपिशाचा' बना।

साग्निः- सह अग्नि। स आदेश होकर - स अग्नि = साग्नि > साग्निः (सु होकर)।

विशेष - सूत्र में आये 'अनुपाख्य' का अर्थ है- अनुमित। जो प्रत्यक्ष उपलब्ध हो वह 'उपाख्य' है उससे अन्य अर्थात् जो प्रत्यक्ष न हो, अनुमित हो 'अनुपाख्य' है। जब एक वस्तु के साथ किसी ऐसे दूसरे पदार्थ को दिखाना हो जिसका उस पदार्थ से अनुमान लगाया जाय तो

वहाँ प्रयुक्त 'सह' शब्द को स आदेश होता है। 'साग्निः कपोतः' – इस उदाहरण में कपोत के द्वारा अग्नि का अनुमान लगाया जाता है क्योंकि ऐसी मान्यता है कि जहाँ कबूतर रहता है वहाँ अग्नि अवश्य पायी जाती है। इस प्रकार अग्नि एवं कपोत का साहचर्य प्रसिद्ध है अतः अनुमित वस्तु 'अग्नि' (जो अप्रधान भी है) के साथ प्रयुक्त सह को स आदेश हुआ। इसी प्रकार वात्या में पिशाच होना तथा शाला में राक्षसी का होना भी प्रसिद्ध है। पिशाच एवं राक्षसी प्रत्यक्ष उपलब्धनहीं होते अपितु अनुमित होते हैं अतः इनके साथ प्रयुक्त सह को 'स' आदेश होता है।

(5) " अव्ययीभावे चाकाले " (6.3.80)

कालवाची शब्दों से भिन्न शब्द के उत्तरपद रहते अव्ययीभाव समास में सह शब्द को स आदेश होता है।

उदा.– सचक्रं धेहि। सधुरं प्राज। सचक्रं – सह चक्र। "चक्रेण युगपत्" इस अर्थ में सह एवं चक्र शब्द का समास हुआ। सह को आलोच्य सूत्र द्वारा स आदेश प्राप्त हुआ। आदेश होकर – स चक्र। सचक्र। स्वादिकार्य हो 'सचक्रं' बना।

सधुरं – सह धुर। सह को स आदेश होकर – 'सधुर'। सु, सु को अम् हो सधुरं।

(6) " वोपसर्जनस्य ": (6.3.81)

जिस समास के सारे अवयव उपसर्जन हैं तदवयव सह शब्द को विकल्प से स आदेश होता है।

उदा.– सपुत्रः,सहपुत्रः; सच्छात्रः, सहच्छात्रः।

सपुत्रः, सहपुत्रः – सह पुत्र सु > सह पुत्र। समास के सारे अवयव उपसर्जन होने से समास के अवयव सह को स आदेश प्राप्त हुआ। आदेश वैकल्पिक है अतः कहीं आदेश होगा कहीं नहीं।

आदेश होकर – स पुत्र > सपुत्र सु = सपुत्रः।

आदेश के अभाव में – सह पुत्र सु = 'सहपुत्रः।

विशेष – 'सर्वावयव उपसर्जन समास' बहुव्रीहि समास है अतः बहुव्रीहि समास में उत्तरपद परे रहते सह शब्द को स आदेश होगा"– ऐसा सूत्रार्थ फलित होता है।

(7) " समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु " (6.3.83)

वेद विषय में समान शब्द को स आदेश हो जाता है यदि मूर्धन्, प्रभृति, उदर्क – ये उततरपद न हों तो।

उदा.– अनुभ्राता सगर्भ्यः। अनुसखा सयूथ्यः।

सगर्भ्यः– समान गर्भः > समान गर्भ। समान को स आदेश होकर– स गर्भ=सगर्भ से यत् प्रत्यय होकर=सगर्भ्यः।

सयूथ्यः – समानोयूथः= समान यूथ। सह को सभाव होने पर – सयूथ्य। यत् प्रत्यय हो=सयूथ्यः।

(8) " ज्योतिषजनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु " (6.3.84)
ज्योतिष्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु – इन शब्दों के उत्तरपद रहते समान को स आदेश हो जाता है।
उदा.– सज्योतिः, सजनपदः, सरात्रिः, सनाभिः, सनाम, सगोत्रः, सरूपः, सस्थानः, सवर्णः, सवयाः, सवचनः, सबन्धुः आदि।
सज्योतिः – 'समान' 'ज्योतिरस्य' इस विग्रह अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु समान एवं ज्योति शब्द का समास हुआ और विभक्ति का लोप होकर – समान ज्योति, ऐसी स्थिति हुई। अब सूत्र विहित आदेश होकर– स ज्योति बना। विभक्ति कार्य होकर 'सज्योतिः' शब्द सिद्ध हुआ।
इसी प्रकार समान जनपद > सजनपद, समान रात्रि > सरात्रि आदि शब्दों में भी समान को स आदेश हुआ है।

(9) " चरणे ब्रह्मचारिणी " (6.3.85)
चरण गम्यमान हो तो ब्रह्मचारी उत्तरपद रहते समान शब्द को स आदेश हो जाता है।
उदा.– सब्रह्मचारी।
सब्रह्मचारी – समानो ब्रह्मचारी। 'चरण' का मुख्य अर्थ है– कठ–कलापादि शाखा[1]। "समाने ब्रह्मणि व्रतचारी" इस अर्थ में समान, ब्रह्म एवं व्रत का समास तथा व्रत शब्द का लोप हो समान ब्रह्म ऐसी स्थिति हुई। अब सूत्र द्वारा विहित कार्य– समान को सभाव् होकर – स ब्रह्मचारी =सब्रह्मचारी शब्द बना।

(10) " तीर्थे ये " (6.385)
तीर्थ शब्द उत्तरपद में हो तो यत् प्रत्यय परे रहते समान शब्द को स आदेश होता है।
उदा.– सतीर्थ्यः।
सतीर्थ्यः – समान तीर्थ्यः – समान तीर्थ यत्। यहाँ उत्तरपद 'तीर्थ' शब्द है इससे परे यत् प्रत्यय है और पूर्वपद समान शब्द है। सूत्र में वर्णित सभी लक्षण घटित होने से समान को सभाव होगा–– स तीर्थ य सतीर्थ्य। स्वादिकार्य हो सतीर्थ्यः बना।

(11) " विभाषोदरे " (6.3.87)
यदि उदर शब्द उत्तरपद हो और उसके परे यत् प्रत्यय हो तो समान शब्द को स आदेश होता है।
उदा.– सोदर्यः, समानोदर्यः वा।
समाने उदरे भवः। इस विग्रह में समान शब्द और उदर शब्द का समास तथा समस्त शब्द से यत् प्रत्यय हुआ समान उदर यत्। सूत्रविहित स–आदेश होकर – स उदर य > सोदर्य बना। स्वादिकार्य होकर 'सोदर्य' बना। यतः स–आदेश वैकल्पिक है अतएव आदेश के अभाव पक्ष में समान उदर यत् सु=समानोदर्यः बना।

(12) " दृग्दृशवतुषु " (6.3.88)

दृक्, दृश् और वतु – ये परे हों तो समान को स आदेश होता है।

उदा.– सदृक्, सदृशः ।

सदृक् – 'समानमात्मानं पश्यति' अर्थ में समान पूर्वपद से परे दृक् शब्द आया– समान दृक्। अब सूत्र द्वारा समान शब्द को स आदेश विहित हुआ। आदेश होकर – सदृक् शब्द हुआ।

सदृशः – समान दृशः। इस प्रयोग मे भी समान को स आदेश हुआ है।

विशेष – समान के साथ वतुप् का प्रयोग नहीं मिलता । सूत्र मे 'वतु' का ग्रहण परवर्ती सूत्र 'इदङ्किमोरीश्की:' मे वतुप् की अनुवृत्ति हो इस हेतु किया गया है।

सन्दर्भ–सूची

1. सूत्र की 'काशिका' व्याख्या की 'न्यास' टीका।

पंचम अध्याय

'प्रत्ययादेश'

(1) "नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपंचम्याः" (2.4.83)

अदन्त (अकारान्त) अव्ययीभाव समास से उत्तर सुप् का लोप नहीं होता अपितु उस सुप् को अम् आदेश हो जाता है। किन्तु पंचमी विभक्ति को छोड़कर यह आदेश होता है।

उदा. उपकुम्भं तिष्ठति। उपकुम्भं पश्य। उपकुम्भं तिष्ठति। यहाँ समीप अर्थ में विद्यमान 'उप' अव्यय का कुम्भ के साथ समास हुआ और अव्ययीभाव समास में उपकुम्भ शब्द बना। इसकी "कृत्तद्धितसमासाश्च" से प्रातिपदिक संज्ञा हुई और प्रथमा एकवचन में सु विभक्ति आई। अव्ययीभाव समास में विभक्ति का लोप प्राप्त हुआ अब इस सूत्र से लोप को बाधकर 'सु' के स्थान पर अम् आदेश हुआ - उपकुम्भ अम्>उपकुम्भम्।

उपकुम्भं पश्य - अव्ययीभाव समास में बने उपकुम्भ प्रातिपदिक से द्वितीया विभक्ति एकवचन में अम् प्रत्यय हुआ। इस प्रत्यय का सू. "अव्ययादाप्सुपः" से लोप प्राप्त था जिसको बाध कर प्रकृत सूत्र द्वारा प्रत्यय को अम् आदेश हो 'उपकुम्भं' शब्द बना। अन्यथा 'उपकुम्भ' ऐसा दोषयुक्त शब्द बनने लगता। पंचमी में आदेश का प्रतिषेध होने से उपकृष्ण ङसि - इस अवस्था में सूत्र द्वारा प्रत्यय का अलुक् मात्र होकर 'उपकुम्भात्' प्रयोग बनता है।

(2) "तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्" (2.4.84)

अदन्त अव्ययीभाव से उत्तर तृतीया, सप्तमी विभक्ति के स्थान में बाहुलकात् अम् आदेश होता है।

उदा. उपकृष्णम्, उपकृष्णेन। उपकुम्भे, उपकुम्भम्।

उपकृष्णम्, उपकृष्णेन - समीप अर्थ में विद्यमान अव्यय उप का कृष्ण के साथ समास हो उपकृष्ण शब्द बना। अव्ययसंज्ञक होने से इसके परे विभक्ति प्रत्यय का लोप होता है जिसका पूर्ववर्ती सूत्र द्वारा बाध हो पंचमी को छोड़ शेष विभक्ति प्रत्यय को अमादेश प्राप्त हुआ। नित्य रूप से प्राप्त अमादेश आलोच्य सूत्र द्वारा तृतीया एवं सप्तमी विभक्ति परे रहते विकल्प से विहित हुआ अतः - उपकृष्ण टा, इस तृतीयान्त शब्द प्रयोग में टा को अमादेश एवं अमादेश के अभाव में टा ही रहकर क्रमशः उपकृष्ण अम्>उपकृष्णम् तथा उपकृष्ण टा>उपकृष्णेन - ये दो रूप बने।

उपकुम्भे, उपकुम्भम् - उपकुम्भ ङि। आलोच्य सूत्र द्वारा अमादेश पक्ष में उपकुम्भ अम्>उपकुम्भम् तथा अमादेश के अभाव पक्ष में उपकुम्भ ङि>उपकुम्भे - ये दो शब्दप्रयोग सिद्ध होते हैं।

(3) "लुटः प्रथमस्य डारौरसः" (2.4.85)

प्रथम पुरुष के जो लुडादेश उनको यथासङ्ख्य डा, रौ, रस् आदेश हो

जाते हैं। प्रथम पुरुष के लुडादेश हैं– तिप् तस् झि – परस्मैपद में तथा त, आताम् झ– आत्मनेपद में। तिप् एवं त को डा, तस् एवं आताम् को रौ, झि तथा झ को रस् आदेश होते हैं।

उदा. कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः। अध्येता, अध्येतारौ, अध्येतारः। कर्ता – कृ लुट्> कृ तास् तिप्। लुडादेश तिप् को डा आदेश हो – कृ तास् डा। कृ तास् डा >कर्ता।

कर्तारौ – कृ तास् तस्। तस् को रौ आदेश हो – कृ तास् रौ। कृ तास् रौ>कर्तारौ।

कर्तारः – कृ तास् झि। झि को रस् आदेश हो कृ तास् रस्। कृ तास् रस्>कर्तारः।

अध्येता – अधि इङ्. तास् त। त को सूत्र द्वारा प्राप्त डा आदेश हो – अधि इ तास् डा। अधि इ तास् डा>अधि ए त् आ>अध् य् ए ता=अध्येता।

अध्येतारौ – अधि इङ्. तास् आताम्। आताम् को रौ आदेश हो – अधि इ तास् रौ>अध् य् ए ता रौ =अध्येतारौ।

अध्येतारः – अधि इङ्. तास् झ। झ को रस् आदेश हो – अधि इङ्. तास् रस्। अधि इङ्. तास् रस्>अध् य् ए ता रस् =अध्येतारः।

(4) **"च्लेः सिच्" (3.1.44)**

च्लि इस विकरण के स्थान पर सिच् आदेश होता है लुङ्. परे रहते।

उदा. अकार्षीत्, अहार्षीत्।

अकार्षीत् – अट् कृ च्लि तिप्। च्लि विकरण को सूत्र द्वारा सिच् आदेश प्राप्त हुआ। आदेश हो – अ कृ सिच् ति। अ कृ सिच् ति>अ कार् स् इ ट् >अ कार् ष ई त्=अकार्षीत्।

अहार्षित् – अट् हृ च्लि तिप्। सूत्र द्वारा प्राप्त सिच् आदेश हो – अ हृ सिच् ति। अ हृ सिच् ति>अ हार् ष ई त्= अहार्षीत्।

शप्, श्यन् ,च्लि, स्य, तास्, श्ना, श्नम् इत्यादि प्रत्यय कर्ता अर्थ में सार्वधातुकप्रत्यय परे रहते धातु से विहित किए जाते हैं ये प्रत्यय विकरण कहे जाते हैं।[1] इनकी विशेषता यह है कि ये धातु एवं प्रत्यय के बीच होने वाले प्रत्यय हैं। धातु से विहित प्रत्यय होने से इनके पूर्व जो धातु होती है उसकी अंग संज्ञा होती है तथा विकरण से परवर्ती जो प्रत्यय उसके संदर्भ में विकरण सहित धातु की अंग संज्ञा होती है।[2]

(5) **"शल इगुपधादनिटः क्सः" (3.1.45)**

शलन्त–इगुपधधातु जो अनिट् हो उससे परे जो च्लि उसके स्थान में क्स आदेश होता है।

उदा. अधुक्षत्, अलिक्षत्।

अधुक्षत् – अट् दुह् च्लि तिप्>अ दुह् च्लि त्। च्लि को सूत्रविहित क्स आदेश हो – अ दुह् क्स त्। अ दुह क्स त्> अ धुक् ष त्=अधुक्षत्।

अलिक्षत् – अट् लिह् च्लि तिप्। च्लि को सूत्र द्वारा विहित क्स आदेश हो – अट् लिह् क्स तिप्।अट् लिह् क्स तिप्>अ लि क् ष त्=अलिक्षत्।

(6) "श्लिष आलिंगने" (3.1.46)

श्लिष् धातु यदि आलिंगन अर्थ में हो तो उससे परे लुङ् में होने वाले विकरण च्लि को क्स आदेश होता है।

उदा. अश्लिक्षत्।

अश्लिक्षत् – अट् श्लिष् च्लि तिप् > अ श्लिष् च्लि त्। च्लि को क्स हो – अ श्लिष् क्स त्। अ श्लिक् ष त् = अश्लिक्षत्।

आलिंगन अर्थ में विद्यमान श्लिष् लुङ् में च्लि विकरण को ही क्सि आदेश विहित होने से "श्लिषु श्लिषु प्रुषु प्लुषु दाहे" के श्लिष्=परक च्लि को क्सादेश नहीं होगा और – आश्लिषत् (च्लि को अङ् हो) इत्यादि रूप बनेंगे।

(7) "णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्" (3.1.48)

ण्यन्त धातुओं श्रि, द्रु, स्रु– इनसे परे च्लि को चङ् आदेश होता है कर्ता में लुङ् परे रहते।

उदा. अचीकरत्, अजीहरत्। अशिश्रियत्। अदुद्रुवत्। असुस्रुवत्।

अचीकरत् – अट् कृ णिच् लुङ् > अ कृ इ च्लि तिप्। च्लि को ण्यन्त कृ के परे होने से सूत्रविहित चङ् आदेश हो – अ कृ चङ् त् > अ ची कर् अत् = अचीकरत्।

अजीहरत् – अट् हृ णिच् लुङ् > अट् हृ णिच् तिप् > अट् हृ च्लि त्। ण्यन्त हृ के परे च्लि को चङ् आदेश हो – अ हृ अङ् त् > अ जी हर् अ त् = अजीहरत्।

(8) "विभाषा धेट्श्व्योः" (3.1.49)

धेट् तथा टुओश्वि धातुओं से उत्तर च्लि के स्थान में चङ् आदेश होता है विकल्प से, कर्तावाची लुङ् परे रहते।

उदा. अदधत्, अशिश्वियत्। चङ् अभाव पक्ष में – अधात्, अधासीत्। अश्वत्, अश्वयीत्।

अदधत् – अट् धेट् च्लि तिप् > अ धा च्लि त्। च्लि को सूत्रविहित चङ् हो – अ धा चङ् त् > अ धा अ त् > अ द धा अ त् > अ द ध् अ त् > अदधत्।

आशिश्वियत् – अट् श्वि च्लि तिप। च्लि को चङ् हो – अ श्वि चङ् तिप्। अ श्वि चङ् तिप् > अ शि श्व् इय अ त् > अशिश्वियत्।

अधात्, अधासीत् – धेट् से परे च्लि को विहित चङ् वैकल्पिक है अतएव चङादेश के अभाव में सिच् ही रहा। सिच् को वैकल्पिक अङ् आदेश प्राप्त है। तब अङ् आदेश पक्ष में अ धा अङ् त् > अधात् तथा अङ् के अभाव में सिच् रहकर –अ धा सिच् त्। अ धा सिच् त् >अ धा सक् इट् सिच् ईट् त् > अ धा स् इ ई त् > अ धास् ई त् > अधासीत्।

अश्वत्, अश्वयीत् – अट् श्वि च्लि तिप्। च्लि को चङादेश के अभाव में वैकल्पिक अङ् आदेश प्राप्त हुआ। अङ् पक्ष में – अ श्वि अङ् तिप् > अ श्व अ त् = अश्वत् तथा अङ् आदेश के अभाव में अ श्वि त्

> अ श्वे इट् स ईट् त् > अ श्वय् इ ई त् > अ श्वय् ई त् = अश्वयीत् ।

(9) "गुपेश्छन्दसि" (3.1.50)

गुप् धातु से उत्तर च्लि के स्थान में विकल्प से चङ्. आदेश होता है वेद विषय में ।

उदा. इमान्नो मित्रावरुणौ गृहानजूगुपतम् । पक्ष में अगोपिष्टम् अगोपायिष्टम्, अगौप्तम् आदि भी (चङादेश के अभाव में) बनते हैं ।

अजूगुपतम् – अट् गुप् च्लि तस् । अ गुप् च्लि तम् । च्लि को चङ्. आदेश हो – अ गुप् चङ्. तम् । अ गुप् चङ्. तम् > अ जू गुप् अ तम्= अजूगुपतम् ।

चङ्. के अभाव में सिच् विकरण होने पर सिच् का लोप हो–अ गौप् तम्= अगौप्तम् बना । सिच् को इट् आगम पक्ष में; सिच् का लोप नहीं हुआ और लघुपध गुण हो – अ गौप् इट् सिच् तम् >अगोपिष्टम् शब्द बनता है ।

(10) "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्." (3.1.52)

अस् क्षेपणे, वच परिभाषणे, ख्याञ् (प्रकथने) इन धातुओं से परे च्लि के स्थान में अङ्. आदेश होता है कर्तावाची लुङ्. परे रहते ।

उदा. पर्यास्यत, पर्यास्येताम्, पर्यास्यन्त । अवोचत्, अवोचताम् अवोचन् । आख्यत्, आख्यताम्, आख्यन् ।

पर्यास्यत – परि आट् अस् लुङ्. > परि अस् त परिआस् च्लि त । च्लि को सूत्रविहित अङ्. हो – परि आट् अस् अङ्. त । परि आट् अस् अङ्. त > परि आट् अस थुक् अङ्. त > पर्यास्यत ।

अवोचत् – अट् वच् च्लि तिप् । च्लि को सूत्रविहित अङ्. आदेश हो – अ वच् अङ्. त् । अ वच् अ त् > अ व उम् च् अत् > अवोचत् ।

आख्यत् – आङ्. अ ख्या च्लि तिप् > आ ख्य् च्लि त् । च्लि को अङ्. हो – आ ख्य् अ त् = आख्यत् ।

(11) "लिपिसिचिह्वश्च" (3.1.53)

लिप, सिच, ह्वेञ् – इन धातुओं से भी कर्तृवाची लुङ्. परे रहते च्लि के स्थान में अङ्. आदेश होता है ।

उदा. अलिपत्, असिचत्, अह्वत् ।

अलिपत् – अट् लिप् च्लि तिप् > अ लिप् च्लि त् । च्लि को अङ्. आदेश हो – अ लिप् अङ्. त्>अलिपत् ।

अह्वत् – अट् ह्वेञ् च्लि तिप् > अ ह्वा च्लि त् । सूत्र द्वारा विहित अङ्. आदेश हो – अ ह्वा अङ्. त् > अ ह्व् अत् = अह्वत् ।

(12) "आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्" (3.1.54)

लिप् इत्यादि धातुओं से कर्तावाची लुङ्. आत्मनेपद परे रहते विकल्प से च्लि के स्थान में अङ्. आदेश होता है ।

उदा. – अलिपत, अलिप्त, असिचत, असिक्त, अह्वत, अह्वास्त ।

अलिपत – अट् लिप् च्लि त । च्लि को आत्मनेपद का त प्रत्यय परे रहते

सूत्र द्वारा वैकल्पिक अङ्. आदेश प्राप्त हुआ। अङ्. आदेश के भाव पक्ष में - अ लिप् अङ्. त > अ लिपत = अलिपत।

अलिप्त - अट् लिप् च्लि त। च्लि को अङ्. आदेश के अभाव पक्ष में - अ लिप् च्लित। अ च्लि त > अ लिप् सिच् त = अलिप्त।

असिचत, असिक्त - अट् सिच् च्लि त। सूत्र द्वारा प्राप्त अङ्. आदेश हो - अट् सिच् अङ्. त। अ सिच् अङ्. त > अ सिच् अ त = असिचत। अङ्. आदेश के अभाव में - अट् सिच् च्लि त। च्लि को सिच् एवं उसका लोप (सू. 'झलो झलि' से) हो - अ सिच् त > असिक्त।

अह्वत, अह्वास्त-अट् ह्वेञ् च्लि त>अ ह्वा च्लि त। सूत्र द्वारा प्राप्त अङ्. आदेश के भाव पक्ष में - अ ह्वा अङ्. त। अ ह्वा अ त>अ ह्व् अ त=अह्वत। अङ्. आदेश के अभाव में च्लि को सिच् हो - अ ह्वा सिच् त>अ ह्वा स् त = अह्वास्त।

(13) "पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु" (3.1.55)

पुषादि, द्युतादि एवं ऌदित् धातुओं से परे च्लि को अङ्. आदेश होता है कर्तावाची लुङ्. त परे रहते।

उदा. अपुषत्, अद्युतत्, अश्वितत्, अगमत्, अशकत्।

अपुषत् - अट् पुष् च्लि तिप्। अ पुष् च्लि त्। च्लि को सूत्रविहित अङ्. आदेश हो - अ पुष् अङ्. त्>अपुषत्।

अद्युतत् - अट् द्युत् च्लि तिप्। च्लि को अङ्. आदेश हो - अ द्युत् अङ्. तिप् > अ द्युत् अ त् = अद्युतत्।

अश्वितत् - अट् श्वित् च्लि तिप्। द्युतादिगण की श्वित् धातु परे होने से च्लि को अङ्. हो - अ श्वित् अङ्. तिप् > अश्वित् अ त् = अश्वितत्।

अगमत् - अट् गमॢ च्लि तिप्। ऌदित् धातु से परे च्लि को सूत्र द्वारा प्राप्त आदेश हो - अ गम् अङ्. तिप् > अगमत्।

अशकत् - अट् शक्ॢ च्लि तिप्। अङ्. हो अ शक् अङ्. तिप् > अशकत्।

(14) "सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च" (3.1.56)

सृ (गतौ) शासु (अनुशिष्टौ), ऋ (गतौ) - इन धातुओं से परे जो च्लि उसे अङ्. आदेश होता है।

उदा. - असरत्, अशिषत्, आरत्।

असरत् - अट् सृ च्लि तिप्। च्लि को अङ्. आदेश हो - अ सृ अङ्. तिप् > असरत्।

अशिषत् - अट् शास् च्लि तिप्। शास् से परे च्लि को अङ्. हो - अ शास् अङ्. तिप् > अ शिष् अ त् = अशिषत्।

आरत् - आट् ऋ च्लि तिप्। ऋ से परे च्लि को अङ्. हो - आ ऋ अङ्. तिप्। आ ऋ तिप् > आ अर् अ त् = आरत्।

(15) "इरितो वा" (3.1.57)

इरित् जो धातुएँ उनसे उत्तर च्लि के स्थान में विकल्प करके अङ्. आदेश होता है, कर्तावाची परस्मैपद लुङ्. परे रहते।

उदा. अभिदत्, अभैत्सीत् । अच्छिदत्, अच्छैत्सीत् ।

अभिदत् – अट् भिद् च्लि तिप् । च्लि को लुङ्. परस्मैपद तिप् परे रहते अङ्. आदेश होकर – अट् भिद् अङ्. तिप् । अट् भिद् अङ्. तिप् > अ भिद् अ त् = अभिदत् ।

अभैत्सीत् – अङ्. आदेश के अभाव में अट् भिद् च्लि तिप् । च्लि को सिच् हो – अट् भिद् सिच् तिप् > अ भैत् स् ई (ईट्) त् = अभैत्सीत् ।

अच्छिदत् – अट् छिद् च्लि तिप् । च्लि को सूत्र द्वारा विहित अङ्. आदेश हो – अ छिद् अङ्. तिप् = अच्छिदत् ।

अच्छैत्सीत् – अट् छिद् च्लि तिप् । सू. द्वारा विहित अङ्. आदेश वैकल्पिक है अतः अङ्. के अभाव पक्ष में च्लि को सिच् हो – अट् छिद् सिच् ईट् तिप् > अच्छैत्सीत् ।

(16) **"जृस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च" (3.1.58)**

जृष्, स्तम्भु ; म्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु, ग्लुञ्चु, टुओश्वि – इन धातुओं से परे च्लि को अङ्. आदेश विकल्प से होता है कर्तावाची लुङ्. का परस्मैपद प्रत्यय परे रहते ।

उदा. अजरत्, अजारीत् ।, अस्तभत्, अस्तम्भीत् अम्रुचत्, अम्रोचीत् । अम्लुचत्, अम्लोचीत् । अग्रुचत्, अग्रोचीत् । अग्लुचत्, अग्लोचीत् । अग्लुंचत्, अग्लुंचीत् । अश्वत्, अश्वयीत् ।

अजरत्, अजरीत् – अट् जृष् च्लि तिप् । जृष् धातु से परे होने के कारण सूत्र-विहित वैकल्पिक अङ्. आदेश प्राप्त होता है । च्लि को अङ्. आदेश हो – अट् जृष् अङ्. तिप् > अजरत् तथा अङ्. के अभाव में च्लि को सिच् , ईट्, सिच्लोप आदि हो अजारीत् शब्द बनता है ।

अस्तभत्, अस्तम्भीत् – अट् स्तम्भु च्लि तिप् । च्लि को अङ्. हो–अट् स्तम्भु अङ्. तिप् > 'अस्तभत्' तथा अङ्. के अभाव में च्लि को सिच् आदेश हो 'अस्तम्भीत्' शब्द प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

इसी प्रकार सूत्रोपदिष्ट धातुओं से परे लुङ्. के परस्मैपद के प्रत्यय परे रहते धातु से हुए च्लि विकरण को वैकल्पिक अङ्. आदेश प्राप्त होने पर अङ्. आदेश पक्ष के तथा अङ्. के अभाव में च्लि को सिच् हो सिच् प्रत्यययुक्त-दो दो रूप बनते हैं ।

(17) **"कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" (3.1.59)**

डुकृञ् (करणे), मृङ्. (प्राणत्यागे) दृ (विदारणे), रुह् (बीज जन्मनि प्रादुर्भावे च) – इन धातुओं से उत्तर च्लि के स्थान में अङ्. आदेश होता है, कर्तावाची लुङ्. परे रहते वेद विषय में ।

उदा. अकरत्, अमरत्, अदरत्, आरुहत् ।

अकरत् – अट् कृ च्लि तिप् । कर्तावाची लुङ्. तिप् परे रहते तथा कृ से परे रहते च्लि को अङ्. आदेश होकर – अट् कृ अङ्. तिप् > अ कर् अ त् = अकरत् ।

अमरत् – अट् मृङ्. च्लि तिप् । मृङ्. से परे रहते च्लि को सूत्रविहित अङ्. आदेश हो – अ मृङ्. अङ्. तिप् > अ मर् अ त् = अमरत् ।

अदरत् – अट् दृ च्लि तिप्। च्लि को अङ्. आदेश हो – अट् दृ अङ्. तिप् = अदरत्।

आस्थत् – आङ्. अट् स्थ् च्लि तिप्। च्लि को सूत्र द्वारा विहित अङ्. आदेश हो – आङ्. अट् स्थ् अङ्. तिप् > आ स्थ् अ त् = आस्थत्।

लौकिक संस्कृत में कृम्, मृङ्. . दृ के परे च्लि को सिच् हो अकार्षीत्, अमृत्, अदारीत् और स्थ् से परे च्लि को क्स हो – अरक्षत् आदि शब्द सिद्ध होते हैं।

(18) "चिण्ते पद:" (3.1.60)

पद धातु से उत्तर च्लि के स्थान में चिण् आदेश होता है कर्तावाची लुङ्. त शब्द परे रहते।

उदा. उदपादि सस्यम्। समपादि भैक्षम्।

अपादि – अट् पद् च्लि त। लुङ्. में आत्मनेपद का त प्रत्यय परे रहते च्लि को सूत्र द्वारा विहित चिण् आदेश हो – अट् पद् चिण् त। अट् पद् चिण् त > अ पाद् इ त > अपादि ("चिणो लुक्"6.4.104 से त का लोप हो।)

(19) "दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्" (3.1.61)

दीप, जन, बुध, पूरि, तायृ, ओप्यायी – इन धातुओं से उत्तर च्लि के स्थान में, चिण् आदेश विकल्प से हो जाता है, कर्तृवाची लुङ्. त शब्द परे रहते।

उदा. अदीपि, अदीपिष्ट। अजनि, अजनिष्ट। अबोधि, अबुद्ध। अपूरि, अपूरिष्ट। अतायि, अतायिष्ट। अप्यायि, अप्यायिष्ट।

अदीपि, अदीपिष्ट – अट् दीप् च्लि त। च्लि को सूत्र द्वारा वैकल्पिक चिण् आदेश प्राप्त है। चिण् आदेश पक्ष में – अ दीप् चिण् त। अ दीप् चिण् त > अ दीप् इ त > अदीपि। आदेश के अभाव में च्लि को सिच् हो-अ दीप सिच् त > अ दीप् इट् स् त = अदीपिष्ट।

अजनि, अजनिष्ट – अट् जन् च्लि त। च्लि को चिण् आदेश हो – अ जन् चिण् त > अजनि, तथा आदेश के अभाव में च्लि को सिच् हो अ जन इट् सिच् त = अजनिष्ट।

अबोधि, अबुद्ध – अट् बुध् च्लि त। च्लि को सूत्र द्वारा प्राप्त चिण् आदेश हो – अ बुध् चिण् त > अबोधि। चिण् के अभाव में च्लि को सिच् हो-अट् बुध् सिच् त > अ बुध् त > अ बुद् त > अबुद्ध=अबुद्ध।

(20) "अच: कर्मकर्त्तरि" (3.1.62)

अजन्त धातुओं से कर्मकर्ता अर्थ में लुङ्. में त प्रत्यय परे रहते च्लि को विकल्प से चिण् आदेश होगा।

उदा. अकारि कट: स्वयमेव, अकृत कट: स्वयमेव। अलावि केदार: स्वयमेव, अलविष्ट केदार: स्वयमेव।

अकारि, अकृत – अट् कृ च्लि त। च्लि को सूत्रविहित चिण् आदेश होने पर – अट् कृ चिण् त। अट् कृ चिण् त > अ कृ चिण् > अ कार् इ = अकारि।

अकृत – अट् कृ च्लि त। सूत्र-विहित आदेश के अभाव पक्ष में च्लि को सिच् हो अ कृ सिच् त > अ कृ स् त > अ कृत= अकृत।
कर्मकर्ता का अर्थ है- जो कर्म होकर कर्ता हो।[3] जब कोई कर्म शब्द कर्ता के रूप में विवक्षित हो।[4] कर्मकर्ता शब्द त का विशेषण है। कट: वस्तुत: कर्म है जो कर्ता रूप में विवक्षित हुआ है अतएव कर्मकर्तृवाच्य विषय में सूत्र-विहित कार्य संपन्न होता है। शुद्ध कर्मवाच्य विषय में वैकल्पिक चिण् न होकर नित्य चिण् हो जाता है जैसे – अकारि कट देवदत्तेन।

(21) "दुहश्च" (3.1.63)

दुह धातु से उत्तर भी कर्मकर्ता में च्लि के स्थान में चिण् आदेश विकल्प से होता है, त शब्द परे रहते।
उदा. अदोहि गौ: स्वयमेव। अदुग्ध गौ: स्वयमेव।
अदोहि, अदुग्ध – अट् दुह च्लि त। च्लि को सूत्र द्वारा वैकल्पिक चिण् आदेश प्राप्त होने पर च्लि को चिण् आदेश के भाव पक्ष में अट् दुह चिण् त। अट् दुह् चिण् त > अ दुह् इ त > अ दुह् इ > अ दोह् इ = अदोहि। चिण् आदेश के अभाव पक्ष में च्लि को क्स हो अ दुह् क्स त > अ दुह् त > अ दुघ् त > अ दुघ् ध > अ दुग् ध = अदुग्ध।
शुद्ध कर्म अर्थ में च्लि को चिण् आदेश नित्य होगा विकल्प से नहीं अतएव – "अदोहि गौर्गोपालकेन" इत्यादि स्थल में चिण् नित्य ही होगा।

(22) "चिण् भावकर्मणो:" (3.1.66)

भाव और कर्म में धातु मात्र से उत्तर च्लि के स्थान में चिण् आदेश होता है, लुङ्. का त शब्द परे रहते।
उदा. भाव में – अशायि भवता।
कर्म में – अकारि कटो देवदत्तेन।
अशायि भवता – यहाँ भाववाच्य में आत्मनेपद की शीङ्. धातु से लकार हुआ और लुङ्. के प्रथम पुरूष एकवचन में त प्रत्यय हुआ। अट् शीङ्. च्लि त। अब सूत्र द्वारा च्लि को चिण् आदेश प्राप्त हुआ। चिण् आदेश होकर – अ शी चिण् त। अ शी इ त > अ शै इ त > अ श् आय् इ त > अशायि त = अशायि।
अकारि कटो देवदत्तेन – यहाँ कर्म में कृ धातु से लकार हुआ और लुङ्. के प्रथम पुरूष एकवचन में त प्रत्यय हुआ – अट् कृ च्लि त। च्लि को सूत्र द्वारा चिण् आदेश हो – अ कृ चिण् त। अ कृ चिण् त > अ कार् इ त > अकारि त > अकारि।

(23) "हल: श्न: शानज्झौ" (3.1.83)

हलन्त धातु से उत्तर श्ना प्रत्यय के स्थान में शानच् आदेश हो जाता है हि परे हो तो।
उदाहरण – मुषाण रत्नानि।, पुषाण।
मुषाण – मुष् लोट् > मुष् सिप् > मुष् श्ना हि। मुष् हलन्त धातु है अत: इससे उत्तर श्ना को सूत्र द्वारा शानच् आदेश हो – मुष् शानच्

हि । मुष् शानच् हि > मुष् आन हि > मुष् आन > मुषाण ।
पुषाण – पुष् लोट् > पुष् सिप् > पुष् श्ना हि । श्ना को शानच् हो – पुष् शानच् हि । पुष् शानच् हि > पुषाण ।

(24) **"छन्दसि शायजपि" (3.1.84)**

वेद में श्ना के स्थान में शायच् तथा शानच् भी होता है।
उदा. गृभाय जिह्वया मधु । बधान् पशुम् ।
गृभाय – ग्रह् श्ना हि । सूत्र द्वारा श्ना को शायच् तथा पक्ष में शानच् भी प्राप्त होता है। श्ना को शायच् आदेश हो – ग्रह् शायच् हि । ग्रह् शायच् हि > ग्रह् आय > गृह् आय > गृभ् आय = गृभाय ।
बधान् – बध् श्ना हि । सूत्र द्वारा पक्ष में श्ना को शानच् प्राप्त है। श्ना को शानच् आदेश हो – बध् शानच् हि > बधान ।

(25) **"लिटः कानज् वा" (3.2.106)**

वेद विषय में लिट् के स्थान पर कानच् आदेश विकल्प से होता है।
उदा. अग्निं चिक्यानः ।
चिक्यानः – चिञ् लिट् । चि से परे लिट् को कानच् आदेश हो – चि कानच् । चि चि आन > चि कि आन > चि क्य् आन > चिक्यान ।

(26) **"क्वसुश्च" (3.2.107)**

वेद विषय में लिट् को क्वसु आदेश भी होता है।
उदा. जक्षिवान्, पपिवान् ।
जक्षिवान् – अद लिट् । लिट् को क्वसु आदेश होकर – अद क्वसु । अद क्वसु > घस्लृ क्वसु । घस् इट वस् > ज घस् इ वस् > ज क् ष् इ वस्>जक्षिवस् । जक्षिवस् सु > जक्षिवान् ।
पपिवान् – पा लिट् । लिट् को सूत्र द्वारा प्राप्त क्वसु आदेश हो – पा क्वसु । पा क्वसु >प प् इट् वस् = पपिवस् । पपिवस् सु> पपिवान् ।

(27) **"भाषायां सदवसश्रुवः" (3.2.108)**

लौकिक प्रयोगमें सद, वस, श्रु – इन धातुओं से परे विकल्प से लिट् प्रत्यय होता है और लिट् के स्थान में नित्य क्वसु आदेश होता है भूत काल में।
उदा. उपसेदिवान्, अनूषिवान्, उपशुश्रुवान् । पक्ष में – उपससाद, अनूवास, उपशुश्राव ।
उपसेदिवान् – उपससाद – उप सद लिट् । लिट् को सूत्र-विहित क्वसु आदेश होने पर – उप सद क्वसु >उपसेदिवस्, उपसेदिवस् सु = उपसेदिवान् शब्द बनता है। क्वसु आदेश वैकल्पिक है अतएव पक्ष में लिट् होकर – उप सद् लिट् > उप सद णल् = उपससाद इत्यादि रूप भी बनेंगे।
अनूषिवान्, अनूवास – अन वस लिट् । वस्-पूर्वक लिट् प्रत्यय को क्वसु आदेश प्राप्त है। आदेश वैकल्पिक है अतः आदेश पक्ष में – अन वस क्वसु = अनूषिवस्, अनूषिवस् सु = अनूषिवान् तथा आदेश के अभाव में लिट् > अन वस् णल् = अनूवास, इत्यादि शब्द प्रयोग सिद्ध हुए हैं।

उपशुश्रुवान् –उपशुश्राव – उप श्रु लिट् । लिट् को क्वसु आदेश होकर – उप श्रु क्वसु = उपशुश्रुवस्, उपशुश्रुवस् सु = उपशुश्रुवान् तथा आदेश के अभाव में लिट् में णलादि प्रत्यय होकर–उप श्रु णल् = उपशुश्राव, शब्द बनता है ।

(28) "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" (3.2.124)

धातु से लट् के स्थान में शतृ तथा शानच् आदेश होते हैं (वर्तमान काल में); यदि उसका प्रथमा के साथ समानाधिकरण न हो तो ।

उदा. पचन्तं चैत्रं पश्य । पचमानं देवदत्तं पश्य ।

पचन्तं – पच् लट् । यहाँ द्वितीयासमानाधिकरण पच् धातु से वर्तमान काल में लट् लकार आया जिसे उपर्युक्त सूत्र द्वारा शतृ एवं शानच् आदेश प्राप्त हुए । लट् के स्थान पर शतृ प्रत्यय होने पर – पच् शतृ ऐसी स्थिति हुई । पच् शतृ > पचत्, पचत् अम् = पचन्तम् ।

पचमानं – पच् लट् । उपर्युक्त सूत्र द्वारा लट् के स्थान पर विहित हुए शतृ एवं शानच् आदेशों में शानच् होने पर – पच् शानच् = पचमान शब्द बनता है । पचमान अम् > पचमानं ।

कहीं–कहीं प्रथमा समानाधिकरण्य होने पर भी लट् को शतृ, शानच् आदेश हो जाते हैं यथा – सन् ब्राह्मणः, अस्ति ब्राह्मणः । इसका समाधान करते हुए काशिकाकार ने कहा – 'लट्' इति वर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणमधिकविधानार्थम् – क्वचित् प्रथमासमानाधिकरणेऽपि भवति ।[5] अर्थात् पूर्ववर्ती सूत्र –'वर्तमाने लट्' से लट् की अनुवृत्ति होते हुए भी पुनः सूत्र में जो लट् पद का ग्रहण किया गया उससे प्रथमासमानाधिकरण में भी (यदि आवश्यकता हो तो) उपर्युक्त आदेश हो जाते हैं ।

(29) "सम्बोधने च" (3.2.125)

सम्बोधन के विषय में धातु से लट् के स्थान में शतृ एवं शानच् आदेश हो जाते हैं ।

उदा. हे पचन् । हे पचमान ।

हे पचन् – यहाँ सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हुई है । 'अप्रथमासमानाधिकरणे' प्रतिषेध के कारण पूर्व सूत्र द्वारा लट् के स्थान पर शतृ शानच् आदि प्रत्यय यहाँ प्राप्त नहीं थे अतः उपर्युक्त सूत्र से इस प्रसंग में आदेशों की प्राप्ति कराई गई; तब लट् को शतृ हो – पच् लट् > पच् शतृ = पचन्, हे पचन् । प्रयोग बना ।

हे पचमान – लट् के स्थान पर (सम्बोधन विषयक प्रथमासमानाधिकरण में) उपर्युक्त सूत्र द्वारा शानच् आदेश होने पर – पच् लट् > पच् शानच् = पचमान, हे पचमान प्रयोग बनता है ।

(30) "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (3.2.126)

लक्षण एवं हेतु के अर्थ में वर्तमान जो धातु उससे परे लट् के स्थान पर शतृ एवं शानच् आदेश होते है यदि लक्षण एवं हेतु क्रिया के विषय में हों तो । उदाहरण :–

लक्षण – शयाना भुंजते यवनाः । तिष्ठन्तो अनुशासति गणकाः ।

हेतु— अर्जयन्वसति । अधीयानो वसति ।
शयानाः — यहाँ लक्षण अर्थ में विद्यमान शीङ्. धातु से वर्तमान काल में लट् हुआ है जिसे प्रकृत से शानच् आदेश प्राप्त हुआ । सूत्र-विहित कार्य होकर —शीङ्. लट् > शीङ्. शानच् = शयान जस् = शयानाः ।
तिष्ठन्तः= — स्था लट् । तिष्ठन्तो अनुशासति इस वाक्य में स्था धातु अनुशासन क्रिया के लक्षण अर्थ में विद्यमान है अतः सूत्र द्वारा लट् प्रत्यय के स्थान पर शतृ आदेश होने पर — स्था शतृ > तिष्ठ शतृ = तिष्ठत् । तिष्ठत् सु = तिष्ठन्तः ।
अर्जयन् — अर्ज लट् । 'अर्जयन् वसति' —इस वाक्य में 'वस्' क्रिया का हेतु 'अर्ज' है अतः अर्ज से परे जो लट् उसे शतृ आदेश होने पर — अर्ज शतृ > अर्जयन् शब्द बना ।
अधीयानो वसति— अधि इङ्. लट् । हेतु अर्थ में विद्यमान इङ्. से परे लट् को शानच् आदेश हो — अधि इङ्. शानच् > अधीयानः । 'लक्ष्यते चिह्न्यते येन तल्लक्षणम्' [6] तथा लक्ष्यते ज्ञाप्यतेऽनेनेति लक्षणम् ज्ञापकम्' [7] इन लक्षणों के आधार पर लक्षण शब्द का अर्थ है— ज्ञापक या परिचायक । सिद्धान्त कौमुदी में लक्षण शब्द के लिए 'परिचायक' ' शब्द प्रयुक्त हुआ है —क्रियायाः परिचायके हेतौ चार्थे वर्तमानाद्धातोर्लटः शतृशानचौ स्तः ।[8] शयानाः भुञ्जते यवनाः एवं तिष्ठन्तो अनुशासति गणकाः — इन वाक्यों में शयन एवं अवस्थान लक्षण हैं इनसे क्रमशः भोजनक्रिया एवं अनुशासनक्रिया लक्षित हो रही है (अत्र शयनं, भुजिक्रिया विषयः । तेन हि भुजिक्रिया लक्ष्यते तत्र शीङ्. वर्तते तथा — अत्रावस्थानं लक्षणं, तेनानुशासनक्रिया लक्ष्यते[9] ।) सि. कौ. की बालमनोरमा टीकाकार के अनुसार—अत्र भोजनकालीनं शयनं भोक्तुर्यवनत्वसूचकम् अर्थात् भोजनकालीन शयन भोक्ता के यवनत्व का सूचक है । अर्थात् शीङ्. धातु लक्षण है यवन संबंधी भोजनक्रिया का तथा स्था धातु लक्षण है गणकसंबन्धी अनुशासनक्रिया का । हेतु का अर्थ है कारण । 'हेतुः फलं कारणं [10] 'जनकः = हेतुः' ।[11] 'अर्जयन्वसति ।' , 'अधीयानो वसति ।' —इन वाक्यों में क्रमशः अर्जन एवं अध्ययन् निवास का हेतु है ।

(31) **"लृटः सद्वा" (3.3.14)**

लृट् के स्थान पर सत्संज्ञक शतृ एवं शानच् प्रत्यय विकल्प से होते हैं ।
उदा. करिष्यन्तं देवदत्तं पश्य । करिष्यमाणं देवदत्तं पश्य ।
करिष्यन्, करिष्यति । करिष्यमाणः करिष्यते ।
करिष्यन्तं, करिष्यमाणं —कृ लृट् । लृट को सूत्र द्वारा प्राप्त शतृ एवं शानच् होने पर — कृ शतृ, कृ शानच् >करिष्यन्त, करिष्यमाण अम् = करिष्यन्तं, करिष्यमाणं ।
करिष्यन्, करिष्यति —कृ लृट् सु । लृट् को सतसंज्ञक शतृ होने पर — कृ शतृ सु >करिष्यन् । शतृ के अभाव में कृ लृट्>कृ तिप् > कृ स्य ति > कर् इट् स्य ति > करिष्यति ।
लृट् लकार सामान्य भविष्यत् काल में तथा क्रियार्थ क्रिया उपपद रहते धातु

से विहित किया गया है(सू. ' लृट् शेषे च' 3.3.13) । इन स्थितियों में विहित जो लृट् उसे प्रकृत सूत्र द्वारा वैकल्पिक सत्संज्ञक आदेश होता है। सूत्र द्वारा विहित विकल्प व्यवस्थित विकल्प है अतः अप्रथमासमानाधिकरण विषय में ये आदेश नित्यरूप से तथा प्रथमा समानाधिकरण में विकल्प से होंगे।

(32) "क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः" (3.4.2)

क्रियासमभिहार का विषय हो तो धातु से धात्वर्थसम्बन्ध होने पर सब कालों में सब लकारों का अपवाद ल प्रत्यय हो जाता है और उसके (लोट् के) स्थान में 'हि' तथा 'स्व' आदेश नित्य हो जाते हैं तथा लोडादेश त, ध्वम् होने वाले स्थान पर ये आदेश विकल्प से होते हैं। (पक्ष में त, ध्वम् भी होते हैं।)

उदा. लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति ।–वर्तमान । लुनीहि लुनीहि इत्येवायमलावीत् ।–भूत । लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लविष्यति ।–भविष्यत् । अधीष्व अधीष्व इत्येवायमधीते ।– वर्तमान । अधीष्व अधीष्व इत्येवायमध्यैत ।– भूतकाल । अधीष्व अधीष्व इत्येवायमधीष्यति ।–भविष्यत् ।

लुनीहि, लुनीहि – यहाँ क्रिया–समाभिहार का विषय होने से लूञ् धातु से वर्तमान, भूत, भविष्यत् इत्यादि कालों में लट्, लङ्., लृट् इत्यादि सभी लकारों का अपवाद लोट् लकार हुआ और लोट् के स्थान पर 'हि' आदेश प्राप्त हुआ। आदेश होने पर – लू हि > लू श्ना हि > लुनीहि । लुनीहि लुनीहि ।

अधीष्व अधीष्व – अधि पूर्वक इङ्. धातु से क्रियासमाभिहार में सभी काल में सब लकारों का अपवाद लोट् एवं लोट् के स्थान पर 'स्व' आदेश होकर – अधि इङ्. स्व > अधीष्व > अधीष्व अधीष्व शब्द बनें।

इस सूत्र द्वारा दो कार्य उपदिष्ट हुए हैं प्रथम क्रियासमभिहार जैसे विशेष सन्दर्भ में धातु से सभी कालों में सब लकारों का अपवाद लोट् लकार का विधान तथा द्वितीय लोट् के स्थान पर क्रमशः 'हि' एवं 'स्व' आदेश–विधान ।'हि' आदेश परस्मैपद में एवं 'स्व' आदेश आत्मनेपद में होते हैं। ये आदेश सभी अठारह लादेशों में सोलह को नित्यरूप से होंगे पर त एवं ध्वम् को विकल्प से होंगे अतएव त एवं ध्वम् प्रत्यय के प्रसंग में दो दोरूप बनेंगे एक हि प्रत्ययान्त दूसरा त प्रत्ययान्त तथा एक स्व प्रत्ययान्त दूसरा ध्वम् प्रत्ययान्त। सभी कालों में सभी लकारों को मात्र दो आदेश विहित किए जाने से सभी वचनों, लिंगों में एक से ही रूप बनेंगे। केवल आत्मनेपद एवं परस्मैपद के भेद से हि–प्रत्ययान्त अथवा स्व–प्रत्ययान्त रूप बनेंगे।

क्रियासमभिहार का अर्थ है एक ही क्रिया का पुनः पुनः या बार–बार होना ।"पौनः पुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः ।"[12] लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति –यहाँ लूञ् क्रिया का बार–बार या पुनः–पुनः होना प्राप्त होता है अतः यहाँ क्रियासमभिहार का विषय है।

(33) "समुच्चयेऽन्यतरस्याम्" (3.4.3)

समुच्चीयमान क्रिया को कहने वाली धातु से लोट् प्रत्यय विकल्प से होता है। उस लोट् के स्थान में 'हि', एवं 'स्व' आदेश होते हैं पर त, ध्वम् के स्थान में ये विकल्प से होते हैं।(पक्ष में त, ध्वम् भी होते हैं।)

उदा. भ्राष्ट्रमट मठमट खदूरमट स्थाल्यपिधानमटेत्येवायमटति। अथवा भ्राष्ट्रमटति, मठमटति, खदूरमटति, स्थाल्यपिधानमटत्येवायमटति।

छन्दोऽधीष्व व्याकरणमधीष्व निरुक्तमधीष्वेत्येवायमधीते। अथवा — छन्दोऽधीते व्याकरणमधीते निरुक्तम् अधीते इत्येवायमधीते।

भ्राष्ट्रमट, भ्राष्ट्रमटति — यहाँ भाड़ के पास जाना, मठ को जाना, चावल पकाने के पात्र को धोकर रखे जाने वाले स्थान पर जाना इन सभी क्रियाओं का समुच्चय हुआ है अतः समुच्चीयमान क्रिया की बोधक धातु से विकल्प से लोट् लकार प्राप्त होना है। लोट् पक्ष में— अट लोट् > अट तिप् > अट हि > अट। भ्राष्ट्रमट खदूरमट आदि तथा लोट् के अभाव में लट् ही अट तिप् > अटति। भ्राष्ट्रमटति, खदूरमटति आदि शब्द प्रयोग सिद्ध हुए।

छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व; छन्दोऽधीते, व्याकरणमधीते — यहाँ क्रियासमुच्चय के प्रसंग के उपस्थिति होने से अधिपूर्वक इङ्. धातु से वैकल्पिक लोट् प्राप्त होता है। लोट् पक्ष में — अधि इङ्. लोट् > अधि इङ्. स्व्=अधीष्व। छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व आदि शब्द सिद्ध हुए। लोट् के अभाव में लट् लकार में तिबादि ही छन्दोऽधीते, व्याकरणमधीते आदि शब्द प्रयोग बनते हैं।

भ्राष्ट्रमटत खदूरमटत मठमटत स्थाल्यपिधानमटत इत्येवायंमटत। त प्रत्यय के विषय में हि आदेश का विधान विकल्प से हुआ है अतः 'हि' आदेश के अभाव में 'त' प्रत्यय ही होकर 'अटत' रूप बनेंगे। इसी प्रकार 'स्व' आदेश के अभाव पक्ष में ध्वम् प्रत्यय के योग में निरुक्तमधीध्वम् इत्येव यूयमधीध्वे रूप बनेंगे।

'क्रियासमुच्चय' शब्द का अर्थ है अनेक क्रियाओं का अध्याहार। क्रियासमभिहार में एक ही क्रिया का बार बार या पुनः पुनः होना पाया जाता है तो क्रिया-समुच्चय में अनेक क्रियाओं का एकीकरण। जैसे — लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति। यहाँ एक ही क्रिया लूञ्(काटना) का बार-बार होना दिखाया गया है। अधीष्व अधीष्व इत्येवायमधीते यहाँ अध्ययनक्रिया का पुनः पुनः होना देखा गया है। ये सभी क्रिया-समभिहार के उदाहरण हैं। दूसरी ओर-छन्दोऽधीष्व व्याकरणमधीष्व निरुक्तमधीष्व इत्येवायमधीते; यहाँ कई क्रियाएँ — छन्द-अध्ययनक्रिया, व्याकरण-अध्ययनक्रिया, निरुक्त अध्ययनक्रिया— इन सब का एकत्र कथन किया गया है (इत्येवायमधीते।) भ्राष्ट्रमट खदूरमट, स्थाल्यपिधानमटति मठमटति इत्येवायमटति — इस उदाहरण में भी भाड़ पर जाना मठ को जाना, कमरे मे जाना इस तरह कई क्रियाओं का एक ही सम्बन्ध में कथन कर दिया गया है — इत्येवायमटति अतः यह क्रियासमुच्चय का

उदाहरण है।

(34) "तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथाम्ध्वमिड्वहिमहिङ्." (3.4.78)

धातु से तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्. – ये अठारह लादेश होते हैं।

उदा. भवति, भवतः, भवन्ति, भवसि, भवथः, भवथ, भवामि, भवावः, भवामः। एधते, एधाते, एधन्ते, एधसे, एधेथे, एधध्वे, एधे, एधावहे, एधामहे।

भवति – भू धातु से वर्तमान काल में लट् लकार आया और भू लट् ऐसी स्थिति हुई। अनुबन्ध लोप हो भू ल् शेष रहा। अब भू धातु से उपर्युक्त सूत्र द्वारा विहित आदेश 'ल्' के स्थान पर प्राप्त हुए और प्रथमा एकवचन में 'तिप्' होकर भू तिप् = भवति शब्द बना। इसी प्रकार लट् प्रथम पुरुष द्विवचन में तस् लट् प्रथम पु. बहुवचन में झि, लट् म.पु. एकवचन में सिप्, लट् मध्यमपुरुष द्विवचन में थस्, लट् मध्यमपुरुष द्विवचन में थ, लट् उत्तम पुरुष एकवचन में मिप्, लट् उत्तम पुरुष द्विवचन में वस् लट् उत्तम पुरुष बहुवचन में मस् आदेश होंगे। इसी प्रकार उपर्युक्त विषय में त से लेकर महिङ्. पर्यन्त नौ आदेश आत्मनेपदी धातुओं से हो जाते हैं।

सूत्र में कुल अठारह आदेश उपदिष्ट हुए हैं तिप् से लेकर मस्–पर्यन्त नौ आदेश परस्मैपदसंज्ञक एवं त से लेकर महिङ्. तक नौ आदेश आत्मनेपदसंज्ञक होते हैं। लट् लिट् लुट्, लृट्, लेट् लोट्, लङ्., लिङ्. लुङ्., लृङ्. – ये दश लकार हैं। टकार, इकार, उकार, ऋकार, ओकार, अकार तथा ङकार इत्यादि का लोप होने पर इन सब में केवल 'ल्' अक्षर अवशिष्ट रह जाता है। 'ल्' के स्थान पर पुरुष एवं वचन के अनुसार ये आदेश हो जाते हैं। 'ल्' के स्थान पर होने से इन्हें 'लादेश' भी कहते हैं। तिप्, सिप्, मिप्, इन आदेशों के अनुबंध पकार का विशेष प्रयोजन है। इससे सू. 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' से अनुदात्त स्वर तथा सार्वधातुकमपित् से ङिद्वद्भावातिदेश इत्यादि कार्य हो जाते हैं।

(35) "थासस्से" (3.4.80)

टित् लकार सम्बन्धी जो 'थास्' आदेश उसे 'से' आदेश हो जाता है।

उदा. पचसे, पेचिषे, पक्तासे, पक्ष्यसे।

पचसे – पच् लट् >पच् थास्। लट् टित् लकार है अतएव टित् लादेश 'थास्' को 'से' आदेश हो जाएगा – पच् से। पच् शप् से = पचसे।

पेचिषे – पच् लिट्। पच् थास्। थास् को सूत्रविहित 'से' आदेश हो –पच् से। पेच् इट् से = पेचिषे।

पक्तासे – पच् लुट्। पच् थास् >पच् तास् थास्। लुट् टित् लकार है इसलिए टित् लादेश 'थास्' के स्थान पर 'से' हो जाएगा। पच् तास् से > पक् ता से = पक्तासे।

पक्ष्यसे – पच् लृट्। पच् थास् > पच् स्य थास्। थास् को से आदेश हो

– पच् स्य से > पक् ष्य से = पक्ष्यसे ।

(36) **"लिटस्तझयोरेशिरेच्" (3.4.81)**

लिडादेश त एवं झ को क्रमशः एश् तथा इरेच् आदेश हो जाते हैं ।.

उदाहरण. पेचे, पेचिरे आदि ।

पेचे – पच् लिट् । पच् त । त को एश् आदेश हो पच् एश् । पच् एश्>पेच् ए = पेचे ।

(37) **"परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः" (3.4.82)**

लिट् लकार के परस्मैपदसंज्ञक जो नौ तिबादि आदेश उनके स्थान पर क्रमशः णल्, अतुस् उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व, म–ये नौं आदेश हो जाते हैं ।

उदा. पपाच, पेचतुः, पेचुः, पेचिथ, पेचथुः, पेच, पपाच, पचाव, पचाम ।

पपाच – पच् लिट् । पच् तिप् । तिप् को सूत्रविहित णल् आदेश होने पर – पच् णल् > प पच् णल्>प पाच् अ=पपाच ।

पेचतुः – पच् लिट्>पच् तस् 'तस्' को 'अतुस्' आदेश हो – पच् अतुस्>पेचतुः ।

पेचुः– पच् लिट्>पच् झि । झि को सूत्रविहित 'उस्' आदेश हो पच् उस्>पेचुः ।

पेचिथ – पच् लिट् > पच् सिप् > पच् थल् > पेचिथ ।

पेचथुः– पच् थस् > पच् अथुस् = पेचथुः ।

पेच – पच् थ > पच् अ > पेच् अ= पेच ।

पपाच – पच् मिप् > पच् णल् > प पच् अ >प पाच् अ = पपाच ।

पेचिम – पच् लिट् > पच् मस् = पेचिम ।

(38) **"विदो लटो वा" (3.4.83)**

विद् धातु से परे लडादेश जो परस्मैपदसंज्ञक उनके स्थान में क्रम से णल् आदि नौ आदेश विकल्प से हो जाते हैं ।

उदा. वेद, वेत्ति । विदतुः, वित्तः ।

वेद, वेत्ति – विद् लट् । विद् से परे लट् को वैकल्पिक णल् आदि आदेश प्राप्त हुए । णल् आदेश पक्ष में प्र.पु. एकवचन में – विद् णल् = वेद । णल् आदेश के अभाव में तिप् प्रत्यय होनेपर विद् तिप् > वेद् ति > वेत् ति = वेत्ति ।

विदतुः, वित्तः – विद् से सूत्रविहित णलादि आदेशों के भाव पक्ष में प्र.पु. द्वि.व. में अतुस् हो – विद् अतुस् = विदतुः । अतुस् के अभाव में तस् हो–विद् तस् = वित्तः शब्द प्रयोग सिद्ध होगा ।

णलादि आदेश के अभाव में पक्ष में प्र.पु. बहु व. में विदुः, म. पु. में वेत्थ, विदथुः, विद, उत्तम पु. में वेद, विद्व, विद्म तथा आदेश के अभाव में उपर्युक्त पुरुषों एवं वचनों में क्रमशः विदन्ति तथा वेत्सि, वित्थः, वित्थ और वेद्मि, विद्वः तथा विद्मः शब्द बनते हैं ।

(39) "ब्रुवः पंचानामादित आहो ब्रुवः" (3.4.84)

ब्रू धातु के परे जो लट् लकार के पाँच आदि के तिबादि प्रत्यय (तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्) उनके स्थान में क्रम के पाँच णलादि आदेश (णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्) विकल्प से हो जाते हैं। इसके साथ ही 'ब्रू' धातु को 'आह्' आदेश भी हो जाता है।

उदा. आह, आहतुः, आहुः, आत्थ, आहथुः। आदेश के अभाव में–ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति, ब्रवीषि, ब्रूथः।

आह – ब्रू लट् > ब्रू तिप्। तिप् को सूत्र द्वारा विहित णल् आदेश तथा ब्रू को आह आदेश होने पर – आह् णल् > आह शब्द बना।

आहतुः – ब्रू तस्। तस् को अतुस् एवं ब्रू को आह् आदेश होने पर – आह् अतुस् > आहतुः।

आहुः – ब्रू लट् > ब्रू झि। ब्रू को आह्, झि को उस् आदेश हो – आह् उस् > आहुः।

आत्थ – ब्रू सिप्। सिप् को थल् एवं ब्रू को आह आदेश होने पर – आह थल् >आथ् थ>आत् थ=आत्थ।

आहथुः– ब्रू थस्। थस् को अथुस् तथा अथुस् के सन्नियोग में थस् को आह् आदेश होने पर – आह् अथुस् = आहथुः। शब्द बना।

इस सूत्र में पूर्वसूत्र 'विदो लटो वा' से 'वा' की अनुवृत्ति होती है इसलिए तिप् इत्यादि को होने वाले णलादि आदेश विकल्प से होते हैं। 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' नियम से जब णलादि आदेश नहीं होंगे तो ब्रूम् को आह आदेश भी नहीं होगा। तब ब्रू तिप् > ब्रवीति, ब्रू तस् > ब्रूतः, ब्रू झि > ब्रुवन्ति। ब्रू सिप् > ब्रवीषि, ब्रू थस् > ब्रूथः इत्यादि धातुरूप सिद्ध होंगे।

(40) "सेर्ह्यपिच्च" (3.4.87)

लोडादेश सिप् के स्थान में 'हि' आदेश हो और हि अपित् हो। (यहाँ 'हि' को स्थानिवद्भाव से पित् होना चाहिए था जिसका निषेध कर दिया गया। इससे हि को अपित् माना गया।)

उदा. लुनीहि, पुनीहि, राध्नुहि।

लुनीहि–लूञ् लोट्> लूञ् सिप्। लोडादेश 'सिप्' को उपर्युक्त सूत्र द्वारा विहित 'हि' आदेश होने पर–लू हि > लु श्नु हि > लु नी हि=लुनीहि शब्द बना।

राध्नुहि – राध् सिप् > राध् श्नु सिप्। 'सिप्' को 'हि' आदेश होने पर – राध् नु हि = राध्नुहि शब्द सिद्ध हुआ।

'हि' के अपित् होने से 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र से ङिद्वद्भाव हो जाने से 'ई हल्यघोः' सू. द्वारा ईत्व हो लु नी हि, लुनीहि इत्यादि शब्द बनते हैं। अपित् करने का दूसरा प्रयोजन है गुणनिषेध। अपित् 'हि' को ङिद्‌वद् कर दिया गया। ङित् हो जाने से 'क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध हो गया।

(41) "मेर्निः" (3.4.89)

लोडादेश 'मि' के स्थान पर 'नि' आदेश हो जाता है।

उदा. पठानि, पचानि।

पठानि –पठ् मिप् > पठ् शप् मिप्। 'मि' को 'नि' आदेश होने पर–पठ नि > पठ आट् नि > पठानि।

पचानि – पच मिप्। 'मि' को 'नि' आदेश होकर – पच नि > पच आट् नि > पचानि।

(42) "तस्थस्थमिपां तांतंतामः" (3.4.101)

ङित् लकारसम्बन्धी तस्, थस्, थ, मिप् को क्रमशः ताम्, तम्, त, अम् –ये आदेश हो जाते हैं।

उदा. अपचताम्, अपचतम्, अपचत, अपचम्। भूयास्ताम्, अभूतम्, अभविष्यत्, अभवम् आदि।

अपचताम्–अट् पच् लङ्.>अ पच् तस्। लङ्.ङित लकार है अतएव इसके तस् को सूत्रविहित ताम् आदेश प्राप्त है। ताम् हो – अ पच् ताम् = अपचताम्। इसी प्रकार लङ्. में थस् को तम्, थ को त और मिप् को अम् आदेश हो अपचतम्, अपचत, अपचम् शब्द सिद्ध हुए हैं।

अभूतम् – अट् भू लुङ्. > अ भू थस्। ङित लकार होने से लुङ्.सम्बन्धी थस् को तम् आदेश होकर–अ भू तम् = अभूतम् शब्द बना।

अभविष्यत – अट् भू इट् स्य थ। लृङ्. ङित् लकार हैं अतएव तत्संबन्धी 'थ' को 'त' आदेश होनेपर अ भू इ स्य त > अभविष्यत।

अभवम् – भू लङ्. > अट् भू मिप्। लङ्.सम्बन्धी मिप् को अम् आदेश होकर – अ भू अम् > अभवम्।

(43) "झस्य रन्" (3.4.105)

लिङादेश जो 'झ' उसे 'रन्' आदेश हो जाता है।

उदा. पचेरन्, यजेरन्।

पचेरन् – पच् लिङ्. > पच् झ > पच् शप् सीयुट् झ > पच् अ ईय् झ। 'झ' को सूत्रविहित 'रन्' आदेश होकर पच् अ ईय् रन् > पच ईय् रन् = पचेरन्।

यजेरन् – यज् शप् ईय झ > यजेय् झ यजे झ। 'झ' को सूत्रविहित रन् आदेश होने पर 'यजेरन्' शब्द बना।

(44) "इटोऽत्" (3.4.106)

लिङादेश जो 'इट्' उसके स्थान में 'अत्' आदेश होता है।

उदाहरण – पचेय, यजेय आदि।

पचेय – पच् लिङ्.> पच् इट् पच् शप् सीयुट् इट् > पच ईय् इट् > पचेय् इट्। इट् को 'अत्' आदेश होने पर पचेय् अत् = पचेय।

यजेय – यज् शप् सीयुट् इट्> यजेय् इट्। 'इट्' को 'अत्' आदेश होने पर – यजेय् अत् = यजेय।

(45) "झेर्जुस्" (3.4.108)

लिङादेश जो 'झि' उसे 'जुस्' आदेश हो ।

उदाहरण – पचेयुः, यजेयुः ।

पचेयुः –पच् शप् यासुट् झि > पच यास् झि > पच इय् झि > पचेय् 'झि' । 'झि' को जुस् आदेश होने पर –पचेय् जुस् > पचेय् उस् = पचेयुः ।

(46) "सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च" (3.4.109)

सिच् से उत्तर अभ्यस्तसंज्ञक तथा विद् से उत्तर झि को जुस् आदेश होता हैं।

उदा. अकार्षुः, अहार्षुः । अबिभयुः, अजागरुः । अविदुः ।

अकार्षुः – कृ लङ् > अट् कृ झि > अ कृ च्लि झि > अ कृ सिच् झि । अ कार् स् झि । सिच् से परे झि को उपर्युक्त सूत्र द्वारा जुस् आदेश प्राप्त हुआ । झि को जुस होने पर – अ कार् स् जुस् > अ कार्ष उस् = अकार्षुः ।

अबिभयुः – अट् भी भी झि । अभ्यस्तसंज्ञक भी से परे झि को जुस् आदेश होने पर – अ भी भी जुस् = अबिभयुः ।

अविदुः – अट् विद् झि । झि को जुस् आदेश प्राप्त है क्योंकि यह विद् से परे हैं। आदेश होने पर – अ विद् जुस् > अ विद् उस् अविदुः ।

(47) "लङः शाकटायनस्यैव" (3.4.111)

आकारान्त धातुओं से उत्तर लङ् के स्थान में जो 'झि' आदेश उसको 'जुस्' आदेश होता है, शाकटायन आचार्य के मत में ही।

उदा. अयुः, अवुः । अन्य आचार्यों के अनुसार अयान् ।

अयुः – या लङ् > अट् या झि । 'या' आकारान्त धातु है अतएव लङ् के स्थान पर हुए झि को उपर्युक्त सूत्र द्वारा विहित जुस् आदेश प्राप्त होता है। आदेश होकर अ या जुस् >अ या उस् > अ युस् = अयुः ।

अयान् – झि को आकारान्त धातु से परे रहते जो जुस् आदेश विहित हुआ वह मात्र शाकटायनाचार्य को ही अभीष्ट है। अन्य आचार्य इस आदेश विधान के पक्षधर नहीं है। अतः आदेश के अभाव में अट् या झि > अ या अन्ति > अ या अन्त् अ या अन् > अयान् रूप ही उन्हें अभीष्ट है।

(48) "द्विषश्च" (3.4.112)

द्विष् धातु से उत्तर लङादेश झि को जुस आदेश होता है शाकटायनाचार्य के मत में ही।

उदा. अद्विषुः, अद्विषन् ।

अद्विषुः –अट् द्विष् झि । झि को जुस् आदेश होने पर – अ द्विष् जुस् = अद्विषुः ।

अद्विषन् – शाकटायनाचार्य को छोड़ शेष वैयाकरण आदेश के पक्ष में नहीं हैं। अतः 'झि' ही रहने पर – अ द्विष् झि > अ द्विष् अन्ति > अ द्विष् अन्त् > अ द्विष् अन् = अद्विषन् प्रयोग सिद्ध हुआ ।

(49) "अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे" (4.1.78)

गोत्र में विहित जो ऋष्यपत्य से भिन्न अण् और इञ् प्रत्ययान्त उपोत्तम गुरु वाले प्रातिपदिक उन्हें स्त्रीलिंग में ष्यङ्. आदेश होता है।

उदा. कौमुदगन्ध्या, वाराह्या।

कौमुदगन्ध्या "कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्री" इस अर्थ में कुमुदगन्धि शब्द से अण् प्रत्यय हुआ है और कौमुदगन्ध शब्द बना। प्रातिपदिक के अण् को ष्यङ्. आदेश होकर - कौमुदगन्ध् ष्यङ्. > कौमुदगन्ध्य चाप् = कौमुदगन्ध्या। वाराह्या - "वराहस्यापत्यं स्त्री" इस अर्थ में वराह इञ् > वाराहि शब्द बना। वाराहि के इञ् को ष्यङ्. आदेश होकर-वाराह् ष्यङ्. वाराह्यः वाराह्य चाप् = वाराह्या।

विशेष - उपोत्तम=उप+उत्तम। उत्तम के समीप। "गुरूपोत्तम" शब्द का अर्थ है उत्तम केसमीप गुरुवाला"। उत्तम शब्द व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न दोनों प्रकार का है। व्युत्पन्न मानने पर उत् से तमप् प्रत्यय होकर "अतिशयेन उद्गतम्" इत्यादि अर्थ में उत्तम शब्द बनता है। इस प्रकार के व्युत्पन्न शब्द के अर्थावबोध के लिए कम से कम चार का होना आवश्यक है जिनमें प्रथम की अपेक्षा अन्य तीन उद्गत होंगे प्रथम अनुद्गत होगा, तीनों में एक उद्गत दूसरा उसकी अपेक्षा उद्गत अर्थात् तरप् प्रत्ययान्त तथा तीसरा अतिशय उद्गत अर्थात् तमप् प्रत्ययान्त (उत्तम) होगा। अर्थात् प्रथम अनुद्गत, द्वितीय उद्गत, तृतीय उद्गत तरप् (उत्तर) तथा चतुर्थ उद्गत तमप् (उत्तम)। न्यासकार के अनुसार इस स्वरूप का ग्रहण करने पर "वाराह्या" नहीं सिद्ध होगा।[13] अव्युत्पन्न उत्तम शब्द के लिए तीन अक्षरों का होना ही पर्याप्त है तब तीनों में अन्त्य अक्षर को उत्तम कहेंगे। (उत्तमशब्दः स्वभावात् त्रिप्रभृतीनामन्त्यमक्षरमाह।[14] पदमंजरी में स्वभावात् का तात्पर्य "अव्युत्पन्न होना"[15] लिया गया है।) इस प्रकार तीन प्रभृति में जो अन्त्य अक्षर है वह उत्तम कहलाता है। अब "गुरूपोत्तम" शब्द का अर्थ निकलता है-जिस प्रातिपदिक के उत्तम अक्षर के समीप गुरु हो। वाराहि एवं कौमुदगन्ध शब्दों के उत्तमक्षर के समीप गुरु है अतः इनके इञ् एवं अण् को ष्यङ्. आदेश हुआ है।

(50) "गोत्रावयवात्" (4.1.79)

गोत्रावयव (गोत्र रूप से लोक में स्वीकृत कुल संज्ञा रूप से प्रख्यात) जो प्रातिपदिक उनसे विहित जो अनार्ष अण् और इञ् प्रत्यय उनको ष्यङ्. आदेश होता है स्त्रीलिंग में।

उदा. पौणिक्या, भौणिक्या, मौखर्या आदि।

पौणिक्या - पुणिक इञ् > पौणिकि। इञ् को ष्यङ्. आदेश होने पर - पौणिक् ष्यङ्. > पौणिक्य, पौणिक्य टाप् > पौणिक्या। इसी प्रकार भुणिक, मुखर से गोत्र में इञ् एवं इञ् को ष्यङ्. से भौणिक्या, मौखर्या आदि प्रयोग सिद्ध होंगे।

गोत्रावयव शब्द का अर्थ काशिकाकार ने गोत्राभिमत किया है। इसे स्पष्ट करते हुए "पदमंजरी" टीका में कहा गया-गोत्रमित्येवमभिमताः,

गोत्राभिधायिन इत्येव लोके प्रसिद्धाः न पुनः प्रवराध्याये पठिता इत्यर्थः। इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि गोत्ररूप में जो पठित नहीं है लेकिन कुल के अभिधायक रूप में जो लोक मे प्रसिद्ध हैं उन्हें ही सूत्र में गोत्रावयव कहा गया है।

(51) "द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा" (5.2.43)

'द्वि' एवं 'त्रि' से षष्ठी के अर्थ में विहित जो तयप् प्रत्यय उसे विकल्प से अयच् आदेश हो।

उदा. द्वौ अवयवौ अस्य द्वयम्, द्वितयम्। त्रयम्, त्रितयम् आदि।

द्वयम्, द्वितयम् – 'द्वौ अवयवौ अस्य' इस अर्थ में सू. 'संख्यायाम् अवयवे तयप्' से प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक द्वि से षष्ठी के अर्थ में तयप् प्रत्यय हुआ– द्वि तयप्। अब उपर्युक्त् सूत्र द्वारा तयप् को विकल्प से अयच् आदेश प्राप्त हुआ। आदेश होने पर द्वि अयच्> द्वि अय= द्वय सु= द्वयम् तथा आदेश के अभाव में – द्वि तयप् > द्वितय सु> द्वितयम् शब्द बने।

इसी प्रकार त्रि से तयप् प्रत्यय होने पर तयप् को अयच् होकर त्रयम् तथा अयच् के अभाव में तयप् रहने पर त्रितयम् शब्द बनते हैं।

(52) "उभादुदात्तो नित्यम्" (5.2.44)

प्रथमा समर्थ उभ प्रातिपदिक से उत्तर तयप् को अयच् आदेश नित्य ही होता है और वह उदात्त होता है।

उदा. उभयो मणिः। उभये देवमनुष्याः।

उभयः– 'उभौ अवयवौ अस्य' इस अर्थ में उभ प्रातिपदिक से षष्ठी के अर्थ में तयप् एवं उस तयप् को प्रकृत सूत्र से अयच् आदेश होने पर – उभ तयप् > उभ अयच्। 'उभय' शब्द बना। स्वादिकार्य होकर उभयः शब्द बनता है।

'उभौ अवयवौ येषाम्' इस अर्थ में उभय शब्द से बहुत्व की विवक्षा में उभये शब्द बना।

अधिकांश व्याख्याकार इस सूत्र को आदेश विधायक सूत्र मानते है। भाष्य में सूत्र द्वारा आदेश विधान अथवा प्रत्ययविधान के संबंध में कोई चर्चा नहीं हुई हैं। भाष्यकर ने सूत्र के उदात्त कथन के बारे में ही विचार किया है। सम्पूर्ण विवरण इस प्रकार है----

किमर्थमुदात्त इत्युच्यते?

उदात्तो यथा स्यात्।

नैतदस्ति प्रयोजनम्, प्रत्ययस्वरेणाप्येष स्वरः सिद्धः।

न सिध्यति। चितोऽन्त उदात्तो भवतीति अन्तोदात्तत्वं प्रसज्येत।

अथ उदात्त इत्युच्यमाने कुत एतत् आदेरुदात्तम् भविष्यति न पुनरन्तस्येति।

उदात्तवचनसामर्थ्यात् यस्याप्राप्तः स्वरस्तस्य भविष्यति।

कस्य चाप्राप्तः?

आदेः।

अन्तस्य पुनिश्चित्स्वरेणैव सिद्धम्।

"प्रत्ययस्वरेणाप्येष स्वरः सिद्धः" इसका आशय ग्रंथकार ने –

स्थानिवद्भावात्प्रत्ययत्वात् किया है। अर्थात् तयप् प्रत्यय है अतः उसके स्थान पर विहित अयच् भी प्रत्यय है। इस प्रकार अयच् का आदेश होना स्पष्ट होता है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात भाष्यकार ने प्रत्यय के आद्युदात्तत्व या अन्तोदात्तत्व विषय पर विचार किया है। भाष्यकार के प्रकृत सूत्र पर किए गए भाष्य में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि 'अयच्' आदेश है प्रत्यय नहीं किन्तु 'स्थानिव्.' सूत्र के भाष्य में इन्होंने अयच् को प्रत्यय मानकर अभीष्ट शब्द की सिद्धि की है। वहाँ तयप् को स्थानी एवं अयच् को आदेश मानने पर 'प्रथमचरमतयाल्प.' सूत्र से वैकल्पिक सर्वनामसंज्ञा होने लगती है जब कि 'सर्वादीनि सर्वनामानि' से नित्य सर्वनामसंज्ञा इष्ट है। इस प्रसंग में दोष से मुक्त होने का एक उपाय उभय शब्द की सिद्धि में अयच् को स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध करना भी है किन्तु भाष्यकार ने इस प्रतिषेध की आवश्यकता नहीं समझी और कहा – "अयच् प्रत्ययान्तरम्" अर्थात् उभय में तयप् को अयच् आदेश न मानकर एक (तयप् जैसा ही एक अन्य) स्वतन्त्र प्रत्यय मानेंगे। इस प्रकार अयच् को स्वतन्त्र प्रत्यय मान लेने से 'उभयी' शब्द की सिद्धि नहीं होती क्योंकि स्थानिवद्भाव से तयप् प्रत्ययान्त मान 'टिड्ढाणञ.' सूत्र से ङीप् की प्राप्ति हो जाती जो स्वतन्त्र प्रत्यय मानने पर नहीं होती। इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार ने कहा कि मात्रच् प्रत्याहारान्त मानकर ङीप् प्राप्त हो जायगा। मात्रच् को प्रत्यय न मान प्रत्याहार मानेंगे। यह प्रत्याहार मात्रच् प्रत्यय के 'मात्र' से लेकर अयच् के चकार तक होगा और प्रत्याहार मात्रच् में अयच् प्रत्यय का भी ग्रहण होकर मात्रच् प्रत्याहारान्त होने से अयच्-प्रत्ययान्त को भी 'टिड्ढाणञ्' सू. से ङीप् हो जायगा। इस प्रकार कुल मिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि भाष्यकार इसे प्रत्यय मानने के पक्ष में है। इसीलिए 'उभादुदात्तो' सूत्रभाष्य में इन्होंने 'उदात्तकथन' एवं 'उदात्त किसे हो– प्रत्यय के आदि को या अन्त को' इत्यादि पर विचार किया है अयच् के आदेशत्व या प्रत्ययत्व पक्ष का नहीं

(53) "तसेश्च" (5.3.8)

कि, सर्वनाम तथा बहु से उत्तर जो तसि उस तसि के स्थान में भी तसिल् आदेश हो जाता है।

उदाहरण – कुतः यतः, ततः, बहुतः आदि।

कुतः – किम् तसि। किम् से परे तसि को तसिल् आदेश होने पर – किम् तसिल् > कु तस् > कुतः।

यतः, ततः, बहुतः इत्यादि में यत् तत् इत्यादि सर्वनामसंज्ञक तथा बहु शब्द से परे तसि को तसिल् आदेश हो यतः, ततः, बहुतः इत्यादि प्रयोग सिद्ध हुए।

प्रत्यय चाहे तसि करें या तसिल् रूप एक जैसे ही बनेंगे। तसि को तसिल् आदेश का फल है 'लिति' सूत्र द्वारा विहित प्रत्यय से पूर्व को उदात्त

स्वर की प्राप्ति तथा 'प्राग्दिशो विभक्तिः' सूत्र से विभक्ति संज्ञा की प्राप्ति। तसि प्राग्दिशीय प्रत्यय नहीं है जब कि तसिल् प्राग्दिशीय प्रत्यय है। विभक्ति संज्ञा के फलस्वरूप 'त्यदादीनामः' से अत्व होकर यद् तद् से यतः, ततः इत्यादि रूप सिद्ध हो जाते हैं अन्यथा ये रूप सिद्ध ही नहीं होते।

'तसि' प्रत्यय के विधायक सूत्र हैं- 'प्रतियोगे पंचम्यास्तसिः' 5.4.44 तथा 'अपादाने चाहीयरुहोः' 5.4.45। ये दोनों ही सूत्र "दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपंचमीप्रथमाभ्यो दि कालेष्वस्तातिः।" 5.3.26 से परवर्ती हैं अतः इनसे विहित प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा नहीं हो पाती। इस उद्देश्य की पूर्ति एवं लित्स्वर की प्राप्ति हेतु प्रकृत सूत्र का उपस्थापन किया गया।

(54) "एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम्" (5.3.44)

एक शब्द से उत्तर जो धा प्रत्यय उसके स्थान में ध्यमुञ् आदेश होता है।

उदा. ऐकध्यं। पक्ष में - एकधा।

एकध्यं - एक धा। धा को प्रकृत सूत्र द्वारा विहित ध्यमुञ् आदेश के भाव पक्ष में - एक ध्यमुञ् > ऐक ध्यम्=ऐध्यं।

एकधा - ध्यमुञ् आदेश के अभाव पक्ष में 'धा' ही रहेगा और एक धा=एकधा शब्द ही सिद्ध होगा।

(55) "द्वित्र्योश्च धमुञ्" (5.3.45)

विधा एवं अधिकरणविचाल अर्थ में द्वि एवं त्रि से हुए धा प्रत्यय के स्थान में धमुञ् आदेश विकल्प से हो जाता है।

उदा. द्वैधम्, त्रैधम्। अभाव पक्ष में द्विधा, त्रिधा।

द्विधा, द्वैधम् - द्वि धा। धा को धमुञ् आदेश होने पर - द्वि धमुञ् > द्वै धम् = द्वैधम्। धमुञ् आदेश वैकल्पिक है अतः पक्ष में 'धा' भी होगा। 'धा' प्रत्यय होने पर - द्वि धा = द्विधा शब्द बना।

'धा' प्रत्यय 'विधा' तथा 'अधिकरणविचाल' -इन दो अर्थों में होता है। 'विधा' का अर्थ है 'प्रकार'।[16] पदमंजरीकार के अनुसार 'विधा' शब्द का अर्थ 'ओदनपिण्ड' भी होता है। यहाँ 'विधा' शब्द के सुप्रसिद्ध अर्थ 'प्रकार' का ही ग्रहण हुआ है। अतः एकधाः द्विधा इत्यादि का अर्थ एक प्रकार दो प्रकार (एक तरह, दो तरह) इत्यादि हुआ। अधिकरणविचाल का अर्थ है द्रव्य का विचालन। काशिकाकार के अनुसार- अधिकरणम्= द्रव्यम्; तस्य विचालः= संख्यान्तरापादनम् - एकस्यानेकीकरणम्, अनेकस्य वा एकीकरणम्।[17] अतः एकं राशिं पंचधा कुरु; अष्टधा कुरु तथा अनेकमेकमधा कुरु इत्यादि का अर्थ है एक ही राशि को पाँच राशि करो, आठ राशि करो तथा अनेक राशि को एक करो।

(56) "एधाच्च च" (5.3.46)

विधार्थ एवं अधिकरणविचाल अर्थ में विहित द्वि, त्रि से परे जो धा

प्रत्यय उसे विकल्प से एधाच् आदेश भी होता है।
उदाहरण – द्वैधा, त्रैधा। पक्ष में द्वैधम्, द्विधा; त्रैधम् त्रिधा।
द्वैधा, त्रैधा – द्वि या त्रि से धा प्रत्यय होने पर द्वि एधाच्, त्रि एधाच् > द्वैधा, त्रैधा इत्यादि सिद्ध होंगे। एधाच् आदेश के अभाव में धा को वैकल्पिक धमुञ् होकर धमुञ् एवं धमुञ् के अभाव में धा होकर द्वैधम्, द्विधा; त्रैधम्, त्रिधा दो दो रूप बनेंगें। इस प्रकार विधा एवं अधिकरणविचाल अर्थ में द्वि एवं त्रि शब्दों के तीन तीन रूप बनेंगें – द्वैधम्, द्वैधा, द्विधा तथा त्रैधम्, त्रैधा, त्रिधा।

(57) "अयामन्ताल्वाय्येत्विष्णुषु" (6.4.55)

आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु – इनके परे रहते णि को अय् आदेश होता है।
उदा. कारयाञ्चकार, गण्डयन्तः स्पृहयालुः, गृहयाय्यः, स्तनयित्नुः, पारयिष्णवः।
कारयांचकार – कृ णिच् आम् लिट् आम् परे रहते णि को सूत्र द्वारा अय् आदेश होकर – कृ अय् लिट्>कारयांचकार।
गण्डयन्तः – गडि णिच् झच् > गाड् णि अन्त। अन्त परे रहते णि को अय् आदेश होने पर – गाड् अय् अन्त > ग न् ड् अय् अन्त= गण्डयन्त, गण्डयन्त सु= गण्डयन्तः।
स्पृहयालुः – स्पृहि णिच् आलुच् > स्पृह् णिच् आलु। आलु परे रहते णि को अय् आदेश हो – स्पृह् अय् आलु = स्पृहयालु। स्पृहयालु सु = स्पृहयालुः।
गृहयाय्यः – गृहि णि आय्य। णि को अय् आदेश होने पर – गृह् अय् आय्य = गृहयाय्य। गृहयाय्य सु = गृहयाय्यः।
स्तनयित्नुः – स्तन णिच् इत्नुच् > स्तन णि इत्नु। णि को इत्नु परे रहते अय् आदेश होकर – स्तन अय् इत्नु > स्तनयित्नु। स्तनयित्नु सु = स्तनयित्नुः।
पारयिष्णवः – पार णिच् इष्णुच्। इष्णु परे रहते णि को अय् आदेश हो – पार अय् इष्णु = पारयिष्णु। पारयिष्णु सु = पारयिष्णुः।

(58) "ल्यपि लघुपूर्वात्" (6.4.56)

लघु है पूर्व मे जिससे ऐसे वर्ण से उत्तर णि के स्थान मे ल्यप् परे रहते अयादेश हो जाता है।
उदा. प्रणमय्य, प्रदमय्य, सन्दमय्य।
प्रणमय्य – प्र नम् णिच् ल्यप्। णि को अय् आदेश होने पर – प्र नम् अय् य = प्रणमय्य।
प्रदमय्य– प्र दम् णिच् ल्यप्>प्र दम् णि य। णि से पूर्व म् वर्ण है जो लघुपूर्व है अतः णि को सूत्रविहित अय् आदेश प्राप्त होता है – प्र दम् अय् य = प्रदमय्य।

(59) "विभाषाऽऽपः (6.4.57)

आप् से उत्तर ल्यप् परे रहते विकल्प से णि के स्थान में अयादेश होता

है ।

उदा. प्रापय्य ।

प्रापय्य , प्राप्य - प्र आप् ल्यप् > प्र आप् णिच् ल्यप् । णि को सूत्रविहित अय् आदेश होने पर - प्र आप् अय् य = प्रापय्य । अय् आदेश के अभाव में - प्र आप् णिच् ल्यप् > प्र आप् ल्यप् > प्र आप् य = प्राप्य ।

(60) **"इरयो रे" (6.4.76)**

इरे के स्थान में वेद में बहुल करके रे आदेश होता है ।

उदा. या अस्य परिदध्रे । चक्रिरे ।

दध्रे - धा लिट् > धा झ > धा इरेच् > दधा इरे । इरे को सूत्र द्वारा प्राप्त रे आदेश होने पर - दधा रे > द ध् रे = दध्रे ।

चक्रिरे -इरे को रे आदेश बाहुलकात् उपदिष्ट है अतः "चक्रिरे" इस प्रयोग में उपर्युक्त आदेश नहीं हुआ है । रे के अभाव में कृञ् से लिट् बहु व. प्रथम पुरुष में इरे ही होकर चक्रिरे शब्द बनेगा ।

(61) **"अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (6.4.77)**

श्नु प्रत्ययान्त अंग तथा इवर्णान्त उवर्णान्त धातु एवं भ्रू शब्द को इयङ्. उवङ्. आदेश होते हैं अच् परे रहते ।

(62) **"हुझल्भ्यो हेर्धिः" (6.4.101)**

"हु" तथा झलन्त से उत्तर हलादि "हि" के स्थान मे "धि" आदेश होता है ।

उदा. जुहुधि, भिन्धि, छिन्धि ।

जुहुधि - हु लोट् > हु सिप् > हु हि । हि हलादि है अतः उपर्युक्त सूत्र द्वारा इसे धि आदेश होगा - हु धि > जु हु धि । जुहुधि ।

भिन्धि - भिद् सिप् > भिद् हि । झलन्त भिद् से उत्तर हि को धि आदेश होकर - भिद् धि > भिन्धि ।

(63) **"श्रुश्रृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" (6.4.102)**

श्रु, श्रृणु, पृ, कृ, वृ, - इनसे उत्तर वेद विषय मे हि को धि आदेश होता है ।

उदा. श्रुधी हवमिन्द्र । श्रृणुधी गिरः । पूर्धि । उरूणस्कृधि । अपावृधि ।

श्रुधी - श्रु लोट् > श्रु सिप् > श्रु हि । हि को धि आदेश होकर - श्रु धि > श्रुधी ।

श्रृणुधी - श्रु श्नु सिप् > श्रु नु हि > श्रृ णु हि । हि को धि हो - श्रृणुधि > श्रृणुधी ।

पूर्धि - पृ सिप् > पृ हि । हि को धि आदेश हो - पृ धि । पृ धि > पुर् धि > पूर् धि > पूर्ध् धि >पूर् व् धि = पूर्धि ।

उरूणस्कृधि - कृधि - कृ सिप् > कृ हि । "हि" को "धि" आदेश होने पर - कृ धि = कृधि ।(उरु अस्माकं कृधि = उरु नस् कृधि > उरु नः कृधि > उरु नस् कृधि > उरूणस्कृधि ।)

वृधि - वृ सिप् > वृ हि । हि को सूत्रविहित धि आदेश हो - वृधि रूप सिद्ध हुआ ।

(64) "अङितश्च" (6.4.103)

अङित् हि को भी धि आदेश होता है, वेद विषय में।

उदाहरण – सोम रारन्धि। अस्मभ्यं तद्धर्यश्व प्रयन्धि।

रारन्धि – रम् शप् सिप् > रम् सिप् > रम् हि > र रम् हि > रा रम् हि। हि को धि आदेश हो – रा रम् धि > रारन्धि। 'वा' छन्दसि' से 'हि' पित् हो जाता है और इससे हि अङित् हो गया फलतः उपर्युक्त सूत्र द्वारा हि को धि आदेश हुआ।

(65) "युवोरनाकौ" (7.1.1)

यु तथा वु के स्थान में अन तथा अक आदेश यथासङ्ख्य करके हो जाते हैं।

उदा. नन्दनः, लवणः, कारकः, सायन्तनः, चिरन्तनः, वासुदेवकः।

नन्दनः – नद् णि = नन्दि। नंदि ल्युट् > नन्द् यु। यु को अन आदेश हो – नन्द् अन > नन्दन। नन्दन सु = नन्दनः।

कारकः – कृ ण्वुल् > कार् वु। वु को सूत्रविहित अक आदेश हो – कार् अक > कारक। कारक सु = कारकः।

(66) "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" (7.1.2)

प्रत्यय के जो आदि के फ, ढ, ख, छ, घ, उन्हें यथाक्रम आयन्, एय्, ईन्, ईय् तथा इय् आदेश होते हैं।

उदा. नाडायनः, वैनतेयः, कुलीनः, गार्गीयः, क्षत्रियः।

नाडायनः – नड् फक्। नड् फ। फ् को आयन् आदेश हो – नड् आयन >नाड् आयन = नाडायन नाडायन। सु = नाडायनः।

वैनतेयः – विनता ढक्। ढ को एय् आदेश हो –विनता एय् अ > वैनत् एय = वैनतेय। वैनतेयः।

कुलीनः – कुल ख। ख् को ईन् आदेश होने पर – कुल ईन > कुल् ईन = कुलीन। कुलीन सु = कुलीनः।

गार्गीय = गार्ग्य छ > गार्ग्य छ। छ् को ईय् आदेश हो – गार्ग्य ईय। गार्ग्य ईय > गार्ग् ईय = गार्गीय। गार्गीय सु = गार्गीयः।

क्षत्रियः – क्षत्र घ। घ् को इय् आदेश हो – क्षत्र इय > क्षत्र् इय = क्षत्रिय। क्षत्रिय सु = क्षत्रियः।

(67) "झोऽन्तः" (7.1.3)

प्रत्यय के अवयव झ् के स्थान में अन्त् आदेश होता है।

उदा. भवन्ति, जरन्तः आदि।

भू झि > भू शप् झि > भव झि। झि को अन्त् आदेश हो – भव अन्त् इ> = भवन्ति।

जरन्तः –जॄ झच्। झ् को अन्त् आदेश हो – जॄ अन्त > जर् अन्त > जरन्त सु = जरन्तः।

(68) "अदभ्यस्तात्" (7.1.4)

अभ्यस्त अंग से उत्तर प्रत्यय के झकार को अत् आदेश होता है।

उदा. ददत्, दधत्।

ददतु - दा शप् झि > दा झि । दा दा झि । द दा झि । झ् को अभ्यस्त अंग होने के कारण अत् आदेश होकर - द दा अत् इ > द द् अति > ददति > ददतु ।

दधतु - धा लोट् > धा झि > द धा झि । झको अत् आदेश हो - द धा अत् इ । द धा अति > द ध् अतु = दधतु ।

(69) "आत्मनेपदेष्वनतः" (7.1.5)

अनकारान्त अंग से उत्तर आत्मनेपद में वर्तमान जो प्रत्यय का आदि झकार उसके स्थान में अत् आदेश होता है ।

उदा. अचिन्वत, अलुनत ।

अचिन्वत- अ चि नु झ > अ चि नु झ । झ् को अत् आदेश हो > अ चि नु अत > अ चिन्वत ।

अलुनत - लूञ् लङ्. > अ लू ना झ1 झ् को अत् आदेश हो - अ लू ना अत त । अ लू ना अत > अ लु न् अत = अलुनत ।

(70) "अतो भिस् ऐस्" (7.1.9)

अकारान्त अंग से उत्तर भिस् के स्थान में ऐस् आदेश होता है ।

उदा. वृक्षैः, प्लक्षैः इत्यादि ।

वृक्षैः - वृक्ष भिस् । वृक्ष अकारान्त अंग है अतः इससे उत्तर भिस् को सूत्र द्वारा ऐस् आदेश प्राप्त हुआ । आदेश होने पर - वृक्ष ऐस् > वृक्षैः रूप बना ।

(71) "बहुलं छन्दसि" (7.1.10)

वेद के विषय में भिस् को ऐस् आदेश बाहुलकात् होता है ।

उदा. नद्यैरिति । देवेभिः, सर्वेभिः ।

नद्यैः - नदी भिस् । भिस् को ऐस् होने पर - नदी ऐस् > नद्यैः ।

देवेभिः, सर्वेभिः - देव भिस्, सर्व भिस यहाँ भिस् को ऐसादेश नहीं हुआ और देव भिस् = देवेभिः, तथा सर्व भिस् = सर्वेभिः रूप बने ।

(72) "टाङसिङसामिनात्स्याः" (7.1.12)

अकारान्त अंग से उत्तर टा, ङ.सि, ङ.स् इन विभक्ति प्रत्ययों को क्रम इन, आत, स्य, ये आदेश हो जाते हैं ।

उदा. रामेण, रामात्, रामस्य ।

रामेण - राम टा । राम अकारान्त अंग है । इसके परे टा विभक्ति है जिसे उपर्युक्त सूत्र द्वारा इन आदेश प्राप्त होता है । आदेश होकर - रामइन । राम इन > रामेन > रामेण ।

रामात् - राम ङ.सि ।'ङ.सि' को सूत्र द्वारा विहित 'आत्' आदेश होने पर - राम आत् । राम आत् > रामात् ।,

रामस्य - राम ङ.स् । राम अकारान्त अंग है इससे परे ङ.स् प्रत्यय है । 'ङ.स्' को सूत्र द्वारा 'स्य' आदेश प्राप्त होता है । स्य आदेश होकर - राम स्य = रामस्य ।

(73) "ङे.र्यः" (7.1.13)

अकारान्त अंग से उत्तर 'ङे.' के स्थान में 'य' आदेश होता है ।

उदा. वृक्षाय, प्लक्षाय ।

वृक्षाय – वृक्ष ङे. । वृक्ष अकारान्त अंग है इसके परे ङे. को य आदेश होकर – वृक्ष य > वृक्षाय शब्द बना ।

प्लक्षाय – प्लक्ष ङे. । ङे. को य आदेश हो–वृक्ष य । वृक्ष य > वृक्षा य = वृक्षाय ।

(74) **"सर्वनाम्नः स्मै" (7.1.14)**

अकारान्त सर्वनाम अंग से उत्तर 'ङे.' के स्थान में 'स्मै' आदेश होता है ।

उदा. सर्वस्मै, तस्मै, कस्मै ।

सर्वस्मै – सर्व ङे. । सर्व अकारान्त सर्वनाम है अतः इसके परे ङे. को स्मै आदेश होगा । आदेश होने पर – सर्व स्मै = सर्वस्मै शब्द बना ।

तस्मै – तद् ङे. > त ङे. । ङे. को स्मै आदेश – त स्मै । तस्मै ।

(75) **"ङ.सिङ्.योः स्मात्स्मिनौ" (7.1.15)**

अकारान्त सर्वनाम अंग से उत्तर ङ.सि तथा ङि. के स्थान में क्रमशः स्मात् तथा स्मिन् आदेश होते हैं ।

उदा. सर्वस्मात्, सर्वस्मिन् । यस्मात् । तस्मिन् ।

सर्वस्मात् – सर्व ङ.सि । ङ.सि को स्मात् आदेश होकर – सर्व स्मात् = सर्वस्मात् शब्द सिद्ध हुआ ।

सर्वस्मिन् – सर्व ङि. । ङि. को स्मिन् आदेश होने पर – सर्व स्मिन् = सर्वस्मिन् ।

यस्मात् – यद् ङ.सि >य ङ.सि । य अकारान्त अंग है इससे पर ङ.सि को सूत्रविहित स्मात् आदेश होकर – य स्मात् = यस्मात् ।

तस्मिन् – तद् ङि.> त ङि. । अकारान्त अंग से उत्तर 'ङि.' को सूत्र द्वारा प्राप्त 'स्मिन्' आदेश हो – त स्मिन् = तस्मिन् ।

(76) **"पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" (7.1.16)**

पूर्व है आदि में जिनके ऐसे नौ सर्वनामों से उत्तर ङ.सि तथा ङि. के स्थान में क्रमशः स्मात् तथा स्मिन् आदेश विकल्प से होते हैं ।

उदा. पूर्वस्मात् पूर्वात् । पूर्वस्मिन्, पूर्वे । .

परस्मात्, परात् । परस्मिन्, परे । अवरस्मात्, अवरात् । अवरस्मिन्, अवरे । दक्षिणस्मात्, दक्षिणात् । दक्षिणस्मिन्, दक्षिणे । उत्तरस्मात्, उत्तरात् । उत्तरस्मिन् । उत्तरे । अपरस्मात्, अपरात् । अपरस्मिन्, अपरे । अधरस्मात्, अधरात् । अधरस्मिन्, अधरे । स्वस्मात्, स्वात् । स्वस्मिन्, स्वे । अन्तरस्मात्, अन्तरात् । अन्तरस्मिन् अन्तरे ।

पूर्वस्मात्, पूर्वात् – पूर्व ङ.सि । ङ.सि को स्मात् आदेश हो – पूर्व स्मात् = पूर्वस्मात् । आदेश के अभाव में –पूर्व ङ.सि>पूर्वात् ।

परस्मिन्, परे – पर ङि. । पूर्वादि में पठित 'पर' सर्वनाम, पूर्वादि नौ सर्वनामों में एक है । इससे परे ङि. को सूत्रविहित 'स्मिन्' आदेश होता है । आदेश हो – पर स्मिन् = परस्मिन् आदेश के अभाव में–पर ङि.> परे ।

(77) "जसः शी" (7.1.17)

अकारान्त सर्वनाम अंग से उत्तर जस् के स्थान में शी आदेश होता है।
उदा. सर्वे, विश्वे, ये, के, ते।
सर्वे – सर्व जस्। 'सर्व' अकारान्त सर्वनाम है अतः इसके परे जस् को 'शी' आदेश होगा – सर्व शी= सर्वे।
ते– तद् जस् > त जस्। 'त' के अकारान्त सर्वनाम होने से इसके परे जस् को शी आदेश होगा। आदेश हो – त शी = ते।

(78) "औङ. आपः" (7.1.18)

आबन्त अंग से उत्तर औ तथा औट् के स्थान में शी आदेश होता है।
उदा. खट्वे तिष्ठतः। खट्वे पश्य। बहुराजे, कारीषगन्ध्ये।
खट्वे – खट्वा औ। प्रथमा द्विवचन की 'औ' विभक्ति आकारान्त अंग से परे है अतः औ को सूत्र द्वारा शी आदेश प्राप्त होता है। शी आदेश हो – खट्वा शी > खट्वे।
खट्वे – खट्वा औट्। आकारान्त अंग से परे द्वितीया विभक्ति का औट् प्रत्यय है जिसे आलोच्य सूत्र द्वारा शी आदेश प्राप्त है। औट् को शी आदेश होकर – खट्वा शी > खट्वे।

(79) "नपुंसकाच्च" (7.1.19)

नपुंसक अंग से उत्तर भी 'औङ.' के स्थान में 'शी' आदेश होता है।
उदा.- कुण्डे तिष्ठति। कुण्डे पश्य।
कुण्डे–कुण्ड औ। 'औ' को 'शी' आदेश हो–कुण्ड शी कुण्डे।
कुण्डे – कुण्ड औट्। 'औट्' को 'शी' आदेश हो कुण्ड शी > कुण्डे।

(80) "जश्शसोः शिः" (7.1.20)

नपुंसकलिंग वाले अंग से उत्तर जस् और शस् के स्थान में शि आदेश होता है।
उदा. कुण्डानि तिष्ठन्ति। कुण्डानि पश्य। दधीनि। मधूनि।
कुण्डानि – कुण्ड जस्। 'जस्' को 'शि' आदेश होने पर – कुण्ड शि।
कुण्ड शि > कुण्ड नुम् शि। कुण्डन् इ > कुण्डानि।
दधीनि – दधि शस्। नपुंसकलिंग से उत्तर शस् के स्थान में शि आदेश होकर – दधि शि > दधि न् ई > दधि नि > दधीनि।

(81) "अष्टाभ्य औश्" (7.1.21)

आत्व किए हुए अष्टन् शब्द से उत्तर जस् और शस् के स्थान में औश् आदेश होता है।
उदा.- अष्टौ।
अष्टौ – अष्टन् जस्, अष्टन् शस् > अष्टा जस्, अष्टा शस्। कृत आत्व अष्टन् शब्द से परे जस् एवं शस् को औश् आदेश होकर अष्टा औ, अष्टा औ = अष्टौ।

(82) "अतोऽम्" (7.1.24)

अकारान्त नपुंसकलिंग वाले अंग से उत्तर सु और अम् के स्थान में अम् आदेश होता है।

उदा. फलम् आनय । कुण्डं तिष्ठति ।

फलम् – फल अम् । अकारान्त अंग से उत्तर अम् को अमादेश हो – फल अम् = फलम् शब्द सिद्ध होता है ।

कुण्डम् – कुण्ड सु । अकारान्त नपुंसकलिंग कुण्ड से परे सु को अम् आदेश हो –कुण्ड अम् = कुण्डम् ।

(83) "अद्ड् डतरादिभ्यः पंचभ्यः" (7.1.25)

डतर आदि में है जिनके ऐसे सर्वादिगण पठित पाँच शब्दों से परे सु, अम् को अद्ड् आदेश होता है ।

उदा. दधि कतरत्तिष्ठति । कतरत्पश्य । कतमत्तिष्ठति कतमत्पश्य । इतरत् । अन्यतरत् । अन्यत् ।

कतरत् – कतर सु । कतर = किम् डतर । कतर से परे सु को आदेश होने पर –कतर अद्ड् > कतर अट् > कतरत् ।

कतमत् – किम् डतम् > कतम । कतम सु अथवा अम् । सु अम् को अद्ड् आदेश हो – कतम अद्ड् । कतम् अद्ड् > कतम अद् > कतमद् > कतमत् ।

इतरत् – इतर सु अथवा अम् । सु, अम् को अद्ड् > इतरत् ।

अन्यतरत् – अन्यतर सु । सु अम् को अद्ड् आदेश होने पर – अन्यतर अद्ड् > अन्यतर अद् = अनयतरत् ।

अन्यत् – अन्य सु या अम् । अन्य से परे सुअथवा अम् को अद्ड् आदेश होने पर – अन्य अद्ड् = अन्यत् ।

(84) "युष्मदस्मद्भ्यां ङ.सोऽश्" (7.1.27)

युष्मद् तथा अस्मद् अंग से उत्तर ङ.स् के स्थान में अश् आदेश होता है ।

उदा. तव, मम ।

तव – युष्मद् ङ.स् > तव अद् ङ.स् > तव अ ङ.स् > तव ङ.स् । ङ.स् को अश् आदेश होने पर – तव अश् > तव अ = तव ।

मम– अस्मद् ङ.स् > मम ङ.स् । ङ.सु को अश् आदेश होने पर – मम अश् = मम ।

(85) "ङे. प्रथमयोरम्" (7.1.28)

युष्मद् तथा अस्मद् अंग से उत्तर ङे. विभक्ति के स्थान में तथा प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के स्थान में अम् आदेश होता है ।

उदा. तुभ्यं, मह्यम् । त्वम्, अहम्; युवाम्, आवाम्; यूयम्, वयम्; त्वाम् आम् युवाम्, आवाम् ।

तुभ्यं – युष्मद् ङे. । ङे. के स्थान में सूत्र द्वारा अम् आवेश होने पर – युष्मद् अम् । युष्मद् अम् > तुभ्य अद् अम् > तुभ्यद् अम् > तुभ्य अम् = तुभ्यम् ।

मह्यम् – अस्मद् ङ.स् > मह्य ङ.स् । ङ.स् को अम् आवेश होने पर – मह्य अम् > मह्यम् ।

त्वम् – युष्मद् सु । सु प्रथमा एकवचन की विभक्ति है अतः युष्मद् से परे सु को सूत्रद्वारा अम् आदेश प्राप्त होता है । आदेश होकर – युष्मद् अम्

> त्वद् अम् > त्व अम् > त्वम् ।

आवाम् – अस्मद् औ । अस्मद् औ > आव औ । औ को अम् आदेश होने पर – आव अम् । आव अम् > आवम् > आवाम् ।

यूयम्– युष्मद् जस् > यूय जस् । जस् को अम् आदेश होने पर – यूय अम् > यूयम् ।

त्वाम्, माम् – युष्मद् अम्; अस्मद् अम् । अम् को सूत्रविहित अमादेश हो – युष्मद् अम्, अस्मद् अम् = त्वाम्, माम् ।

युवाम्, आवाम् – युष्मद् औट्, अस्मद् औट् । औट् को अम् आदेश होने पर –युष्मद् अम्, अस्मद् अम् > युव अम्, आव अम्>युवाम्, आवाम् ।

(86) **"भ्यसोऽभ्यम्" (7.1.30)**

युष्मद्, अस्मद् अंग से उत्तर भ्यस् के स्थान में भ्यम् आदेश होता है ।

उदा. युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् ।

युष्मभ्यम् – युष्मद् भ्यस् । भ्यस् को भ्यम् आदेश हो – युष्मद् भ्यम् । युष्मद् भ्यम्>युष्मभ्यम् = युष्मभ्यम् ।

अस्मभ्यम् – अस्मद् भ्यस् । भ्यस् को भ्यम् आदेश हो – अस्मद् भ्यम् > अस्मभ्यम् = अस्मभ्यम् ।

भाष्यकार ने इस सूत्र के आदेश विधान पर विचार करते हुए लिखा है- कि आदेश भ्यम् हो अथवा अभ्यम् । 'भ्यम्' आदेश पक्ष में 'शेषे लोपः' सूत्र से अन्त्यलोप होने पर सू. 'बहुवचने झल्येत्' से एत्व प्राप्त होता है और 'अभ्यम्' आदेश होने पर टिलोप हो अपेक्षित रूप तो बन जाता है किन्तु स्वरदोष का प्रसंग उठता है । 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' इस सूत्र में 'कर्षात्वतो घञोन्त उदात्तः' सूत्र से अन्तोदात्त पद की अनुवृत्ति होती है । इससे अभ्यम् को अन्तोदात्त स्वर प्राप्त होता है । इन दोनों ही दोषों का परिहार भी उन्होंने प्रस्तुत किया है । एत्व निवृत्ति के लिए इन्होंने कहा – अंगवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्येति न भविष्यति ।[18] ।

न्यासकार के अनुसार– वर्तनं वृत्तम्, अंगे वृतम् यस्य तदंगवृतम् कार्यम्, तस्मिनंगवृते कार्ये पुनस्तरकालमङ्गवृत्तावपरस्य कार्यस्य प्राप्तौ तस्य कार्यस्य अविधिः = अविधानम् । निष्ठितस्येत्यनेन यत्सम्बन्धिनः कार्यस्याविधिर्भवति तदंग्स्य विशिष्यते । निष्ठितम् = परिसमाप्तम्, प्रयोगार्हमंगम् तत्सम्बन्धिनः कार्यस्याविधिर्भवति, नान्यसम्बन्धिन इत्यर्थः ।[19]

इस प्रकार इस नियम से अंग सम्बन्धी एत्व की निवृत्ति हो जाती है और 'शेषे' लोपः' से अन्त्य लोप हो भ्यम् आदेश पक्ष में अभीष्ट शब्दरूप बन जाते हैं ।

अभ्यम् आदेश पक्ष में अन्तोदात्त स्वर की निवृत्ति भी संभव है । 'कर्षात्वतो.' से 'अन्त' पद की अनुवृत्ति नहीं करेंगे और अभ्यम् आद्युदात्त[20] होगा जिससे मध्योदात्त पद प्राप्त होगा ।

(87) **"पञ्चम्या अत्" (7.1.31)**

युष्मद् अस्मद् से उत्तर पंचमी विभक्ति के भ्यस् के स्थान में अत् आदेश होता है ।

उदा. युष्मद् गच्छन्ति । अस्मद् गच्छन्ति ।
युष्मत् – युष्मद् भ्यस् > युष्म भ्यस् । पंचमी के भ्यस् के स्थान पर अत् आदेश होने पर – युष्म अत् > युष्मात् > युष्मद् ।
अस्मद् – अस्मद् भ्यस् । भ्यस् को अत् आदेश होने पर – अस्मद् अत् > अस्मत् ।

(88) **"एकवचनस्य च" (7.1.132)**

युष्मद् अस्मद् अंग से उत्तर पंचमी एकवचन के स्थान में भी अत् आदेश होता है ।
उदा. त्वद्, मद् ।
त्वद् – युष्मद् ङ.सि । पंचमी एकवचन की विभक्ति ङ.सि को अत् आदेश होने पर –युष्मद् अत् । युष्मद् अत् > त्व अद् अत् > त्व अ अत् > त्व अत् > त्वत्>त्वद् ।
मद् – अस्मद् ङ.सि > म अद् ङ.सि > म ङ.सि । ङ.सि को अत् आदेश होने पर – म अत् > मत् >मद् ।

(89) **"साम आकम्" (7.1.33)**

युष्मद् तथा अस्मद् अंग से उत्तर साम् के स्थान में आकम् आदेश होता है । सुट् आम् > स् आम् = साम् ।
उदा. युष्माकम्, अस्माकम् ।
युष्माकम् – युष्मद् आम् । यहाँ आम् को 'द' के (युष्मद् के द के) 'शेषे लोपः' से लोप हो जाने के बाद सुट् आगम प्राप्त है । उस भावी आगम सहित आम् के स्थान पर आकम् आदेश होने पर – युष्मद् आकम् > युष्म आकम् > युष्माकम् शब्द बना ।
अस्माकम् – अस्मद् आम् । भावी सुट् सहित आम् को आकम् आदेश होने पर – अस्मद् > अस्म आकम् = अस्माकम् यहाँ सुट् आगम हुए बिना ही स्थानी के साथ गृहीत हुआ है । भावी आगम को स्थानी के रूप में ग्रहण किए जाने का विवेचन करते हुए काशिकाकार ने कहा है– भावी सुट् की निवृत्ति हो इस हेतु 'साम्' –ऐसा स्थानी गृहीत हुआ है । यदि आम् को आदेश विहित किया जाता तो 'शेषेलोपः' से अस्मद् युष्मद् के अन्त्य दकार का लोप करने के बाद अकारान्त अंग से परे सुट् आगम होता और अनिष्ट रूप बनते ।

(90) **"आत औ णलः" (7.1.34)**

आकारान्त अंग से उत्तर णल् के स्थान में औकारादेश हो जाता है ।
उदा. पपौ, तस्थौ, जग्लौ, मम्लौ ।
पपौ – पा लिट् > पा णल्> प पा अ । णल् को सूत्र द्वारा औकारादेश प्राप्त है क्योंकि यह आकारान्त अंग से परे है । आदेश हो–प पा औ > पपौ ।
तस्थौ – स्था णल् > था स्था णल् > त स्था अ । णल् (अ) को औ आदेश हो – तस्था औ > तस्थौ ।

(91) "तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्" (7.1.35)

आशीर्वाद विषय में 'तु' एवं 'हि' के स्थान में विकल्प से तातङ्. आदेश होता है।

विशेष- यह आदेश ङि.त् होते हुए भी अन्त्य अल् को न होकर सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है।

उदा. भवतु, भवतात्। भव, भवतात्।

भवतु, भवतात्- भू लोट> भू तिप् > भवति > भवतु। आशीर्वाद अर्थ में तु को वैकल्पिक तातङ्. आदेश हो - भव तातङ्. > भवतात्। आदेश के अभाव में - भवतु।

भव, भवतात्- भू लोट्> भू सिप् > भू हि > भव हि। वैकल्पिक तातङ्. आदेश प्राप्त होने पर आदेश पक्ष में - भव तातङ्. = भवतात् तथा आदेश के अभाव में भव हि > 'भव' शब्द बने।

'लोट्' विधि, निमन्त्रण आदि कई विषयों में होता है। जब आशीर्वाद अर्थ में लोट् होगा तभी ये आदेश होंगे। विधि आदि में विहित लोट् को आदेश नहीं होंगे।

'तातङ्.' ङित् आदेश है अतः 'ङिच्च' सूत्र से इसे स्थानी के अन्त्य वर्ण के स्थान पर होना चाहिए इस विषय में काशिकाकार ने कहा है - ङित्करणं गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थमिति अर्थात् आदेश के ङित्करण का प्रयोजन है गुण-वृद्धि का प्रतिषेध। 'हि' को अपित् कर दिया गया है किन्तु तिप् के स्थान पर जो तु है वह स्थानिवद्भाव से पित् है इस स्थानिवद्भाव से प्राप्त पित् के निवृत्यर्थ तात् इस अनेकाल् आदेश का ङित्करण आवश्यक है। ङित्करण के फलस्वरूप 'ब्रूयात्' में गुण का प्रतिषेध, 'मृष्टात्' में वृद्धि का प्रतिषेध हो सका अन्यथा पित्वात् गुण एवं वृद्धि का प्रसंग होता। इसके अतिरिक्त 'ब्रूयात्' में ईट्, तृण्ढात् में इम् इत्यादि आगम होने लगते। तातङ्. के ङित्करण से इन सब अनपेक्षित कार्यों की अप्राप्ति होती है।[21] ङित्करण के लाभों को देखते हुए तातङ्. (अनेकाल् आदेश) के ङित्करण को उचित कहा जा सकता है। अन्य ङित् अनेकाल् आदेशों के विषय में भी इसी प्रकार की धारणा रखना समुचित नहीं क्योंकि जहाँ ङित्करण का विशेष प्रयोजन सिद्ध हो सके वहीं ङित् आदेश को अनेकाल् एवं अनेकाल् के फलस्वरूप सर्वादेश माना जायगा। जहाँ कहीं ऐसा कोई विशेष प्रयोजन नहीं वहाँ ङित्करण का हेतु अन्त्य वर्ण के स्थान पर आदेश होना ही है।

(92) "विदेः शतुर्वसुः" (7.1.37)

विद् (ज्ञाने) धातु से उत्तर शतृ के स्थान में वसु आदेश होता है।

उदा. विद्वान्, विद्वांसौ, विद्वांसः।

विद्वान् - विद् शतृ। शतृ के स्थान में वसु आदेश हो - विद् वसु > विद्वस्।

विद्वस् सु = विद्वान्। विद्वस् औ = विद्वांसौ। विद्वस् जस् = विद्वांसः।

(93) "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" (7.1.37)

नञ्-भिन्न पूर्वपद समास में क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश होता है।

उदा. प्रकृत्य, प्रहृत्य, पार्श्वतः कृत्य, नानाकृत्य, द्विधाकृत्य।

प्रकृत्य – प्र पूर्वक कृ से सूत्र 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' से क्त्वा प्रत्यय हुआ और 'कुगतिप्रादयः' से समास प्राप्त हुआ। प्र कृ क्त्वा। अब आलोच्य सू० द्वारा क्त्वा को ल्यप् आदेश होकर – प्र कृ ल्यप्। प्र कृ ल्यप् > प्र कृ तुक् ल्यप् = प्र कृ त् य = प्रकृत्य।

(94) "क्त्वापि छन्दसि" (7.1.38)

अनञ् -पूर्वपद-समास में क्त्वा को क्त्वा तथा पक्ष में ल्यप् आदेश भी होता है।

उदा. कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा। प्रत्यंचमर्कं प्रत्यर्पयित्वा। उद्धृत्य जुहोति।

परिधापयित्वा, प्रत्यर्पयित्वा – प्रति उपसर्ग पूर्वक धा एवं अर्प से क्त्वा प्रत्यय हुआ और प्रादि समास प्राप्त हुआ। अब नञभिन्नपूर्वपद से परे क्त्वा को ल्यप् प्राप्त होता है जिसे बाधकर आलोच्य सूत्र द्वारा क्त्वा आदेश प्राप्त होता है आदेश होने पर – प्रति धा क्त्वा, प्रति अर्प क्त्वा > प्रतिधापयित्वा, प्रत्यर्पयित्वा शब्द सिद्ध होते हैं।

उद्धृत्य – उत् हृ क्त्वा। सूत्र में 'अपि' ग्रहण से क्त्वा को ल्यप् होने पर – उत् हृ ल्यप् > उत् धृ त् (तुक्) य = उद् धृ त्य = उद्धृत्य।

(95) "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः" (7.1.39)

सुपों के स्थान में सु, लुक्, पूर्वसवर्ण आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल्, ये आदेश होते हैं, वेद विषय में।

उदाहरण . सु– अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः। लुक – आर्द्रे चर्मन्, लोहिते चर्मन्।

पूर्वसवर्ण – धीती, मती आदि।

आ – उभा।

आत् – ताद्।

शे – युष्मे, अस्मे।

या– उरुया।

डा – नाभा।

ड्या – अनुष्ट्या।

याच् – साधुया।

आल् – वसन्ता।

पन्थाः – पथिन् जस्। जस् के स्थान पर सु हो पथिन् सु > पन्थाः। जस् परे रहते पन्थानः रूप बनता जस् को सु होने पर पन्थाः रूप बना।

चर्मन् – चर्मन् ङि.। ङि. को लुक् आदेश हो (लुक् = लोप) चर्मन्. = चर्मन्।

धीती – धीति टा। टा को पूर्व सवर्ण (इकारादेश) हो धीति इ। धीति इ = धीती।

उभा – उभ औ। औ को आकारादेश होने पर – उभ आ > उभा।
ताद्–तत् शस्>त शस्। शस् को आत् आदेश हो– त आत्>तात् > ताद्।
युष्मे – युष्मद् जस्। जस् को 'शे' आदेश होकर – युष्मद् शे > युष्म ए > युष्मे।
उरूया – उरू टा। टा को या आदेश होने पर उरू या = उरूया।
नाभा – नाभि ङि.। ङि. को डा आदेश हो – नाभि डा > नाभ् आ = नाभा।
अनुष्ट्या – अनुष्टुप् टा। टा को इया आदेश होने पर – अनुष्टुप् इया > अनुष्ट् या = अनुष्ट्या।
साधुया – साधु सु > साधु याच् = साधुया।
वसन्त – वसन्त ङि.। ङि. को आल् आदेश होने पर वसन्त आल् > वसन्त आ = वसन्ता।

(96) "अमो मश्" (7.1.40)

अम् के स्थान में मश् आदेश होता है वेद विषय में।
उदा. वधीं वृत्रम्। क्रमीं वृक्षस्य शाखाम्।
वधीम् – वध मिप् > वध अम्। अम् को मश् आदेश होने पर – वध मश् > वधीम्।
क्रमीम – क्रम् अम्। अम् को मश् आदेश होने पर – क्रम् मश् > क्रमीम्।
'क्त्वो यक्' (7.1.42)
वेद विषय में क्त्वम् के स्थान में क्त्वात् आदेश होता है।
उदा. अन्तरेवोष्माणं वारयध्वात्।
वारयध्वात् – वृञ् अथवा वृञ् णिच् लोट् > वृ णिच् ध्वम्। ध्वम् को सूत्रविहित ध्वात् आदेश होने पर – वृ णिच् ध्वात् > वारयध्वात्।

(97) "तस्य तात्" (7.1.44)

लोट्मध्यमपुरुष बहुवचन के 'त' के स्थान में तात् आदेश हो जाता है वेद में।

उदा. गात्रंगात्रमस्या नूनं कृणुतात्। ऊवध्ये 'गोहं पार्थिवं खननात्।
कृणुतात् – कृवि त > कृ णु त। त को सूत्रविहित तात् आदेश हो – कृ णु तात् = कृणुतात्।
खनतात् – खन् थ > खन् शप् थ् > खन त। त को सूत्र द्वारा प्राप्त तात् आदेश हो – खन तात् = खनतात्।

(98) "तप्तनप्तनथनाश्च" (7.1.45)

त के स्थान में तप्, तनप्, तन, थन – ये आदेश भी वेद में होते हैं।
उदा. श्रृणोत ग्रावाणः। संवरत्रा दधातन। जुजुष्टन यदिष्ठन।
श्रृणोत – श्रृ श्नु त > श्रृ णु त। त को तप् आदेश हो श्रृ नु तप्। श्रृ नु तप् > श्रृ नो त > श्रृणोत। तप् पित् है पित्वाद् नु को गुण हो श्रृणोत रूप बना। तप् के अभाव में श्रृणुत बना।
दधातन – धा शप् त > द धा त। त को तनप् आदेश होने पर – दधा तनप् = दधातन।

लुलुष्टन – लुष् श त > लु लुष् त। त को तन आदेश हो – लुलुष् तन > लुलुष्टन।
यदिष्ठन – इष् श त > इ इष् त > य इष् त>य त् इष् त > यदिष् त। त को थन आदेश हो–यदिष् थन >यदिष्ठन।

(99) **"ठस्येकः" (7.3.50)**

अंग के निमित्त ठ को इक् आदेश होता है।
उदा. आक्षिकः, शालाकिकः।
आक्षिकः – अक्ष ठक् > आक्ष ठक्। ठ को सूत्रविहित इक आदेश होने पर – आक्ष इक > आक्ष् इक = आक्षिक। आक्षिक सु = आक्षिकः।
शालाकिकः – शलाका ठक्। ठ को इक आदेश हो – शलाका इक > शालाक् इक > शालाकिक सु = शालाकिकः।

(100) **"इसुसुक्तान्तात्कः" (7.3.51)**

इसन्त, उसन्त, उगन्त (उक् अन्त में हो जिसके) तथा तकारान्त अंग से उत्तर ठ के स्थान में क आदेश होता है।
उदा. सार्पिष्कः, धानुष्कः, नैषादकर्षुकः, औदश्वित्कः।
सार्पिष्कः – सर्पिष् ठक्। सर्पिष् इसन्त है अतः इसके परे ठक् के 'ठ' के स्थान पर 'क' आदेश होगा। ठ को क आदेश होने पर सर्पिष् क = सार्पिष्क। सार्पिष्क सु = सार्पिष्कः।
धानुष्कः – धनुष् ठक्। उसन्त धनुष् से परे ठक् के 'ठ' को 'क' आदेश होकर – धनुष् क = धानुष्क। धानुष्क सु = धानुष्कः।
नैषादकर्षुकः – निषादकर्षु ठञ्। 'ठ' को 'क' आदेश होने पर – निषादकर्षुक क > नैषादकर्षुक। नैषादकर्षुक सु = नैषादकर्षुकः।
औदश्वित्कः – उदश्वित ठक्। ठ को कादेश हो – उदश्वित क > औदश्वित्क। औदश्वित् क सु = औदश्वित्कः।

(101) **"ङेराम्नद्याम्नीभ्यः" (7.3.116)**

नदीसंज्ञक,आबन्त तथा नी से उत्तर ङि. विभक्ति के स्थान में आम् आदेश होता है।
उदा. गौर्याम्, रमायाम्, सेनान्याम्।
गौर्याम् – गौरी ङि.। गौरी दीर्घ–इकारान्त शब्द होने से नदीसंज्ञक है। नदीसंज्ञक गौरी से परे ङि. को सूत्र द्वारा 'आम्' आदेश प्राप्त हुआ। आदेश हो – गौरी आम् > गौर्याम्।
रमायाम् – रमा ङि.। रमा आबन्त अंग है अतः इसके परे ङि. को आम् आदेश होगा। रमा ङि. > रमा या आम् > रमायाम्।
सेनान्याम् – सेनानी ङि.। सेनानी शब्द के अन्त में 'नी' है अतः इसके परे ङि. को आम् आदेश होगा – सेनानी आम्। सेनानी आम् > सेनान्याम्।

(102) **"इदुद्भ्याम्" (7.3.117)**

इकारान्त उकारान्त नदीसंज्ञक से परे ङि. को आम् आदेश होता है।
उदा. कृत्याम्, धेन्वाम्।

कृत्याम् – कृति ङि. । कृति इकारान्त स्त्रीलिंग शब्द है अतः इसके परे ङि. को उपर्युक्त सूत्र द्वारा आम् आदेश प्राप्त हुआ । आदेश होकर । – कृति आम् > कृत्याम् ।

धेन्वाम् – धेनु ङि. । उकारान्त नदीसंज्ञक धेनु शब्द से परे ङि. को सूत्रविहित आम् आदेश होने पर – धेनु आम् = धेन्वाम् ।

(103) "औदच्चघेः" (7.3.118)

इकारान्त उकारान्त अंग से उत्तर ङि. को 'औत्' (=औ) आदेश होता है तथा घिसंज्ञक को अकारादेश भी होता है ।

उदा. सख्यौ, पत्यौ । अग्नौ, वायौ, कृतौ, धेनौ ।

सख्यौ – सखि ङि. । 'सखि' न नदीसंज्ञक है और न ही घिसंज्ञक । ह्रस्व इकारान्त सखि शब्द से परे ङि. को आलोच्य सूत्र द्वारा औ आदेश प्राप्त होता है । आदेश हो – सखि औ > सख्यौ ।

पति से परे 'ङि.' को 'औ' आदेश हो पत्यौ शब्द बना ।

अग्नौ –अग्नि ङि. । अग्नि घिसंज्ञक अंग है अतः इससे परे ङि. को औ आदेश तथा अंग को अत् (=अ) आदेश प्राप्त हुआ । ङि. को औ तथा अंग के अन्त्य अल् को अ आदेश हो – अग्न औ > अग्नौ शब्द बना ।

इसी प्रकार घिसंज्ञक वायु, कृति, धेनु से परे ङि. को औ आदेश तथा अङ्ग को अकार अन्तादेश हो – वाय औ, कृत औ, धेन औ = वायौ, कृतौ, धेनौ आदि शब्द सिद्ध हुए ।

(104) "आङो नाऽस्त्रियाम्" (7.3.119)

घिसंज्ञक अंग से उत्तर आङ्.[22] (टा) के स्थान में ना आदेश होता है स्त्रीलिंग वाले शब्द को छोड़कर ।

उदा. अग्निना, वायुना, पटुना ।

अग्निना – अग्नि टा । अग्नि इकारान्त घिसंज्ञक पुल्लिंग शब्द है अतः इससे परे आङ्. (टा) को ना आदेश होगा – अग्नि ना = अग्निना ।

इसी प्रकार वायु टा, पटु टा = वायुना, पटुना शब्द बने ।

सन्दर्भ-सूची

1. "तिङि. परे धातोर्विहितानां प्रत्ययानां शबादीनां विकरण संज्ञा प्राचीनाचार्यसिद्ध ।" – बालमनोरमा, सि. कौ. । द्र. 'कर्तरि शप्' सू. की बालमनोरमा टीका ।
2. "यस्मात् प्रत्ययाविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्.गम्" सू. की बालमनोरमा टीका ।
3. "यत्कर्म भूत्वा कर्ता भवति तत्रैत्यर्थः" सूत्र की पदमन्जरी टीका, काशिका ।
4. "कर्म चासौ कर्ता चेति कर्मकर्ता । यदा तदेव कर्म सौकर्यात् कर्तृत्वेन विवक्ष्यते तदा तस्य कर्तृत्वं भवति ।" द्र. सूत्र की न्यास टीका,

काशिका ।

5. सूत्र की काशिका व्याख्या ।
6. द्र. सूत्र की काशिका व्याख्या ।
7. द्र. सू. की बालमनोरमाटीका, वै. सि. कौ. ।
8. द्र. सूत्र का सिद्धान्त कौमुदीकारकृत सूत्रार्थ ।
9. द्र. काशिकावृत्ति की न्यास टीका ।
10. द्र. सूत्रार्थ – वै. सि. कौ. ।
11. द्र. सूत्र की काशिकावृत्ति ।
12. द्र. सूत्र की काशिका व्याख्या ।
13. द्र. काशिका की न्यास टीका ।
14. द्र. सूत्र की काशिका व्याख्या ।
15. "स्वभावादिति न व्युत्पत्तिवशादित्यर्थः" काशिका की पदमञ्जरी टीका ।
16. द्र. सू. 'संख्याया विधार्थे धा' की काशिका टीका ।
17. द्र. सू. 'अधिकरणविचाले च' (5.3.43) की काशिका व्याख्या ।
18. द्र. सूत्र का भाष्य – वैयाकरणमहाभाष्य ।
19. द्र. सूत्र की न्यास टीका – काशिकावृत्ति ।
20. 'आदौ सिद्धमिति' भाष्यवचन की प्रदीप टीका के अनुसार – अन्तग्रहणं नानुवर्तते । उच्चारणक्रम प्रत्यासत्तया चादेरेवोदात्तत्वम् ।
21. द्र. सूत्र की काशिका टीका ।
22. सूत्र की काशिकावृत्ति, न्यास टीका आदि के अनुसार ।

अध्याय 6

'प्रकीर्ण' प्रकरण

(1) " टित आत्मेपदनां टेरे " (3.4.79)

टित् लकारों के आत्मनेपदादेशों के टि भाग को एकार आदेश होता है।
उदा.- एधे, एधते, एधन्ते आदि।
एधते - एध त (लट्) एधत। टि को एत्व होकर एधत् ए > एधते।
एधन्ते - एध झ > एधन्त। टि को एत्व हो एधन्त् ए = एधन्ते।
एधे - एध इट् (लट्) > एधे। टि को एत्व हो - एध् ए = एधे।

(2) " आमेतः " (3.4.90)

लोट् सम्बन्धी जो एकार उसे आम् आदेश होता है।
उदा.- पचताम्, पचेताम् पचन्ताम्।
पचताम् - पच् लोट् > पच् त > पचते। एकार को आम् आदेश होने पर - पचत् आम् = पचताम्।
पचेताम् - पच् आताम् > पचेताम् > पचेते। लोट् के एकार को आम् आदेश होने पर - पचेत् आम् = पचेताम्।
पचन्ताम् - पच् झ > पचन्ते। लोट् सम्बन्धी अन्त्य एकार को आम् आदेश हो - पचन्त् आम् = पचन्ताम्।

(3) " सवाभ्याम् वामौ " (3.4.91)

सकार वकार से उत्तर लोट् सम्बन्धी एकार के स्थान में यथाक्रम व, अम् ये आदेश हो जाते हैं।
उदा.- पच् लोट् > पच् थास् > पच् से > पचसे। सकारोत्तरवर्ती एकार को व आदेश होने पर - पचस् व = पचस्व।
पचध्वम् - पच् लोट् > पच् ध्वम् > पचध्वे। वकारोत्तरवर्ती एकार को अम् आदेश होने पर - पचध्व् अम् = पचध्वम्।

(4) " सुधातुरकङ् च " (4.1.97)

सुधातृ शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय तथा प्रत्यय के सन्नियोग में सुधातृ अंग को अकङ् आदेश भी होता है।
उदा.- सुधातुरपत्यं पुमान् = सौधातकिः।
सौधातकिः - सुधातृ से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में इञ् प्रत्यय तथा अंग के अन्त्य को अकङ् हो - सुधात् अकङ् इञ् > सुधातक इञ् = सौधातकि। सौधातकि सु सौधातकिः।

(5) " कल्याण्यादीनामिनङ् " (4.1.126)

कल्याणी - इत्यादि शब्दों से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय तथा कल्याण्यादि को इनङ् आदेश होता है।
उदा.- काल्याणिनेयः, सौभागिनेयः, दौर्भागिनेयः।
कल्याणिनेय : - कल्याण् इनङ् ढक् - सूत्रविहित ढक् प्रत्यय एवं कल्याणी को इनङ् अन्तादेश हो। कल्याण् इनङ् ढक् > काल्याणिनेय। काल्याणिनेय सु = काल्याणिनेयः।

सौभागिनेयः – सुभगा से सूत्रविहित ढक् प्रत्यय तथा अंग को इनङ् अन्तादेश होने पर – सुभग् इनङ् ढक् > सौभागिनेय । सौभागिनेय सु = सौभागिनेयः ।

कल्याण्यादिगणपठित शब्द हैं – कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, बन्धकी अनुदृष्टि, अनुसृष्टि, जरती, बलीवर्दी, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्यमा, परस्त्री ।

इन सभी शब्दों से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय तथा अंग के अन्त्य वर्ण को इनङ् आदेश होगा ।

(6) " कुलटाया वा " (4.1.127)

कुलटा शब्द से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है, तथा कुलटा को विकल्प से इनङ् आदेश भी होता है ।

उदा. – कौलटिनेयः, कौलटेयः ।

कौलटिनेयः – कुलटा शब्द से तस्यापत्यं अर्थ में ढक् प्रत्यय एवं कुलटा शब्द को इनङ् आदेश के पक्ष में – कुलटा इनङ् ढक् > कौलटिनेय, कौलटिनेय सु = कौलटिनेयः शब्द सिद्ध होता है ।

कौलटेयः – कुलटा शब्द से ढक् प्रत्यय होने पर इनङ् आदेश के अभाव में कुलटा ढक् > कौलटेय शब्द बनता है । कौलटेय सु > कौलटेयः ।

(7) " ऊधसोऽनङ् " (5.4.130)

ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि को समासान्त अनङ् आदेश होता है ।

उदाहरण – कुण्डोध्नी, घटोध्नी ।

कुण्डोध्नी – 'कुण्डमिव ऊधोऽस्याः' इस अर्थ में कुण्ड एवं ऊधस् का समास हुआ और सूत्र द्वारा बहुव्रीहि समास के अन्तावयव को अनङ् आदेश प्राप्त हुआ । कुण्डोधस् – इस दशा में समासान्त अनङ् आदेश होने पर – कुण्डोध अनङ् > कुण्डोधन शब्द बना । कुण्डोधन ङीष् – कुण्डोध्नी ।

घटोध्नी – घटमिव ऊधोऽस्याः – इस अर्थ में घट एवं ऊधस् का समास हुआ – घटोधस् । अब सूत्र द्वारा समासान्त अनङ् आदेश प्राप्त हुआ । आदेश होने पर – घटोध अनङ् > घटोधन शब्द बना । घटोधन ङीष् > घटोध्नी ।

(8) " धनुषश्च " (5.4.132)

धनुष शब्दान्त बहुव्रीहि को भी समासान्त अनङ् आदेश होता है ।

उदा. – गाण्डीवधन्वा, पुष्पधन्वा, शार्ङ्गधन्वा ।

गाण्डीवधन्वा – 'गाण्डीवं धनुरस्य' इस अर्थ में गाण्डीव एवं धनुष शब्द का समास हो सूत्र द्वारा समासान्त अनङ् आदेश प्राप्त हुआ । आदेश होकर – गाण्डीवधनु अनङ् > गाण्डीवधन्वन् । स्वादिकार्य हो – गाण्डीवधन्वा ।

(9) " वा संज्ञायाम् " (5.4.133)

धनुष शब्दान्त बहुव्रीहि को संज्ञाविषय में (अर्थात् समास किया हुआ पद

संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हो तो) विकल्प से अनङ्. आदेश होता है।
उदा.– शतधनुः, शतधन्वा। दृढधनुः दृढधन्वा।
शतधनुः, शतधन्वा – शत एवं धनुष शब्दों का समास हो, समास हुए शब्द को प्रकृत सूत्र से अनङ्. आदेश प्राप्त हुआ। आदेश पक्ष में----शतधनु अनङ्. > शतधन्वन् तथा स्वादिकार्य हो शतधन्वा शब्द बना। आदेश के अभाव में शतधनुष सु = शतधनुः शब्द बनता है।

(10) " जायाया निङ्. " (5.4.134)

जाया शब्दान्त बहुव्रीहि को समासान्त निङ्. आदेश होता है।
उदा.– युवतिर्जाया यस्य युवजानिः।
वृद्धा जाया यस्य वृद्धजानिः।
युवजानिः– युवती एवं जाया का समास हो पुंवद्भावादि होकर युवजाया शब्द बना। इस दशा में प्रकृत सूत्र से समासान्त निङ्. आदेश हो – युवजाय् निङ्. > युवजा नि शब्द बना। युवजानि सु = युवजानिः।

(11) " एचोऽयवायावः " (6.1.75)

एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान में क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होते हैं यदि एच् से परे अच् हो तो।
उदा.– चयनम्, लवनम्, चायकः, लावकः।
चयनम् – चिञ् ल्युट् > चि यु > चे अन। एच् एकार से परे अच् अकार को सूत्रविहित अय् आदेश हो – च् अय् अन = चयन। चयन सु = चयनम्।
लवनम् – लूञ् ल्युट् > लो अन। एच् ओकार को अच् अकार परे रहते सूत्र द्वारा प्राप्त अव् आदेश होने पर – ल् अव् अन > लवन। लवन सु > लवनम्।
चायकः – चि ण्वुल् > चै अक। ऐ को सूत्र द्वारा प्राप्त आय् आदेश हो – च् आय् अक = चायक। चायक सु = चायकः।
लावकः – लूञ् ण्वुल् > लौ अक। औ को आव् आदेश होने पर – ल् आव् अक = लावक। लावक सु = लावकः।

(12) " वान्तो यि प्रत्यये " (6.1.76).

यकारादि प्रत्ययों के परे रहते एच् केस्थान में संहिता विषय में (ओ औ को) आव् आदेश होते हैं।
यहाँ पूर्व सूत्र से एच् की अनुवृत्ति हुई है किन्तु एच् में केवल ओ, औ को ही स्थानी के रूप में ग्रहण किया जायगा क्योंकि वकारान्त आदेशों का ही विधान हो रहा है।
उदा.– बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, नाव्यम्।
बाभ्रव्यः – बभ्रु कन् > बाभ्रो य। यकारादि कन् प्रत्यय परे रहते ओकार को अव् आदेश हो – बाभ्र अव् य > बाभ्रव्य। बाभ्रव्य सु = बाभ्रव्यः।
नाव्यम् – नौ यत्। यकारादि यत् प्रत्यय परे रहते औ को आव् आदेश होने पर – न् आव् य > नाव्य। नाव्य सु = नाव्यम्।

(13) " अवङ्. स्फोटायनस्य " (6.1.119)

अच् परे रहते गो को अवङ्. आदेश स्फोटायन आचार्य के मत में (विकल्प से) होता है।

उदा. – गवाग्रम् । गोऽग्रम् । गवाजिनम्, गोऽजिनम् ।

गवाग्रम् – गो अग्रम् । 'गो' से परे 'अग्रम' का अच् अकार है अतः स्फोटायन आचार्य के मत में गो को अवङ्. आदेश हो – ग् अवङ्. अग्रम् > गव अग्रम् = गवाग्रम् ।

गोऽग्रम् – गो अग्रम् । स्फोटायनाचार्य के नाम का कथन करने से विकल्प फलित होता है अतः जब अवङ्. आदेश नहीं होगा तो 'एङ.: पदान्तादति' सू. से पररूप होकर – गोऽग्रम् शब्द सिद्ध होगा ।

इसी प्रकार – गो अजिनम् में अवङ्. हो गवाजिनम् तथा अवङ्. के अभाव में पररूप हो गोऽजिनम् शब्द सिद्ध होगा ।

(14) " इन्द्रे च " (6.1.120)

इन्द्र शब्द में स्थित अच् के परे रहते भी गो को अवङ्. आदेश होता है ।

उदाहरण – गवेन्द्रः ।

गवेन्द्रः – गो इन्द्रः । यहाँ गो से परे इन्द्र शब्द में स्थित अच् इकार है अतः गो को अवङ्. आदेश होने पर – ग् अवङ्. इन्द्रः > गव इन्द्रः > गवेन्द्रः ।

(15) " आनङ्. ऋतो द्वन्द्वे " (6.3.24)

विद्या तथा योनि सम्बन्धवाची ऋकारान्त शब्दों के द्वन्द्व समास में उत्तरपद परे रहते आनङ्. आदेश होता है ।

उदा. – होतापोतारौ नेष्टोद्गातारौ, प्रशास्ताप्रतिहर्तारौ । मातापितरौ, यातानानान्दरौ ।

होतापोतारौ – होतृ तथा पोतृ इन ऋकारान्त शब्दों का द्वन्द्वसमास हुआ । ये दोनों ही विद्या सम्बन्धवाची शब्द हैं अतः इन्हें आलोच्य सूत्र द्वारा आनङ्. आदेश प्राप्त होता है । आदेश होने पर – होत् आनङ्. पोतृ । होतान् पोतृ औ > होतापोतारौ ।

नेष्टोद्गातारौ – नेष्टृ एवं उद्गातृ शब्दों का द्वन्द्व समास हो, इनके विद्यावाची होने से पूर्वपद के अन्त्य अल् को आनङ्. आदेश प्राप्त हुआ । आनङ्. आदेश होकर – नेष्ट् आनङ्. उदगातृ > नेष्टोद्गातृ । नेष्टोद्गातृ औ > नेष्टोद्गातारौ ।

मातापितरौ – मातृ एवं पितृ दोनों योनि सम्बन्धवाची शब्द हैं अतः उत्तरपद परे रहते मातृ को आनङ्. अन्तादेश हो – मातृ आनङ्. पितृ > मातपितृ । मातापितृ औ > मातापितरौ ।

यातानानान्दरौ – यातृ सु > ननान्दृ सु > यातृ ननान्दृ । यातृ, ननान्दृ दोनों योनि सम्बन्धवाची शब्द हैं अतः यातृ को आनङ्. अन्तादेश होने पर – यात् आनङ्. ननान्दृ > यातानानान्दृ शब्द बना । प्रथमा द्विवचन में यातानानान्दरौ शब्द सिद्ध हुआ ।

(16) " देवताद्वन्द्वे च " (6.3.25)

देवतावाची द्वन्द्व समास में भी उत्तरपद परे रहते पूर्वपद को आनङ्. आदेश होता है।

उदा.- इन्द्रावरुणौ, इन्द्रासोमौ।

इन्द्रावरुणौ - इन्द्र एवं वरुण दोनों देवतावाची शब्द हैं इनके द्वन्द्व समास में पूर्वपद इन्द्र के अन्त्य वर्ण को (उत्तरपद वरुण के रहने पर) सूत्र द्वारा आनङ्. आदेश प्राप्त हुआ। इन्द्र आनङ्. वरुण > इन्द्रावरुण शब्द बना। इन्द्रावरुण औ = अन्द्रावरुणौ।

इन्द्रासोमौ - इन्द्र, सोम शब्दों का देवताद्वन्द्वात् समास हो इन्द्र सोम, ऐसी दशा हुई अब सूत्र द्वारा इन्द्र को आनङ्. अन्तादेश प्राप्त हुआ सूत्रविहित आदेश होने पर - इन्द्र आनङ्. सोम > इन्द्रासोम। इन्द्रासोम औ = इन्द्रासोमौ।

(17) " अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङ्.वङौ " (6.4.77)

श्नु-प्रत्ययान्त अंग तथा इवर्णान्त, उवर्णान्त धातु एवं भ्रू शब्द को इयङ्. उवङ्. आदेश होते हैं, अच् परे हो तो।

उदाहरण - आप्नुवन्ति, राध्नुवन्ति, चिक्षियतुः, लुलुवतुः भ्रुवौ, भ्रुवः।

आप्नुवन्ति - आप् श्नु झि > आप्नु अन्ति सूत्र द्वारा 'आप्नु' अंग को उवङ्. अन्तादेश हो - आप्न् उवङ्. अन्ति > आप्नुवन्ति।

चिक्षियतुः - क्षि लिट् > चि क्षि अतुस् > अजादि प्रत्यय परें रहते इकारान्त अंग को सूत्रविहित इयङ्. अन्तादेश हो - चि क्ष् इयङ्. अतुस् = चिक्षियतुः।

लुलुवतुः- लूञ् अतुस् > लु लू अतुस्। लू को उवङ्. आदेश हो - लु ल् उवङ्. अतुस् > लुलुवतुः।

भ्रुवौ - भ्रू औ। अजादि प्रत्यय परे रहते भ्रू को उवङ्. आदेश हो भ्र् उवङ्. औ > भ्रुवौ।

(18) " अभ्यासस्यासवर्णे " (6.4.78)

इवर्णान्त, उवर्णान्त अभ्यास को असवर्ण अच् परे रहते इयङ्., उवङ्. आदेश होते हैं।

उदा.- इयेष, उवोष, इयर्त्ति।

इयेष - इष् णल् > एष् अ > इष् एष् अ > इ एष् अ। इकारान्त अभ्यास को असवर्ण अच् एकार परे रहते इयङ्. आदेश हो - इयङ्. एष > इयेष।

उवोष - उष् णल् >ओष् अ > उ ओष। उकारान्त अंग को उवङ्. आदेश हो - उवङ्. ओष = उवोष।

(19) " स्त्रियाः " (6.4.79)

स्त्री शब्द को अजादि प्रत्यय परे रहते इयङ्. आदेश होता है।

उदा.- स्त्रियौ, स्त्रियः।

स्त्रियौ - स्त्री औ। अजादि प्रत्यय परे रहते स्त्री शब्द को इयङ्. अन्तादेश हो - स्त्र् इयङ्. औ = स्त्रियौ।

(20) " वाऽम्शसो: " (6.4.80)

अम् तथा शस् विभक्ति परे रहते स्त्री शब्द को विकल्प से इयङ् आदेश होता है।

उदा. – स्त्रियम्, स्त्रीम् । स्त्री:, स्त्रिय: ।

स्त्रियम्, स्त्रीम् – स्त्री अम् । अम् परे रहते स्त्री को इयङ् अन्तादेश हो – स्त्र् इयङ् अम् > स्त्रियम् । इयङ् वैकल्पिक है अतः इयङ् के अभाव में – स्त्री अम् > स्त्रीम् ।

स्त्री:, स्त्रिय: – स्त्री शस् > स्त्री अस् । इयङ् आदेश के अभाव में स्त्री अस् = स्त्री: शब्द तथा इयङ् आदेश के भाव पक्ष में स्त्र् इयङ् अस् = स्त्रिय: शब्द सिद्ध हुआ ।

(21) " विभाषर्जोश्छन्दसि " (6.4.162)

ऋजु अंग के ऋकार के स्थान में विकल्प से 'र' आदेश होता है वेद विषय में यदि इष्ठन्, इमनिच् अथवा ईयसुन् परे रहते ।

रजिष्ठमेति पन्थानम् । त्वमृजिष्ठ: ।

रजिष्ठम् – ऋजु इष्ठन् । ऋ के स्थान पर र आदेश हो – रज इष्ठन् । रजिष्ठ सु – रजिष्ठम् ।

ऋजिष्ठ: – ऋजिष्ठ सु = ऋजिष्ठ: । रेफादेश के अभाव में ऋजिष्ठ: शब्द बना ।

(22) " अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्त: " (7.1.75)

अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि – इन नपुंसकलिंग प्रातिपदिक अंगों को तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे रहते अनङ् आदेश होता है, और वह उदात्त होता है ।

उदा. – अस्थ्ना, अस्थ्ने । दध्ना, दध्ने । सक्थ्ना, सक्थ्ने । अक्ष्णा, अक्ष्णे ।

अस्थ्ना, अस्थ्ने – अस्थि टा > अस्थि आ । अस्थि को अनङ् अन्तादेश हो – अस्थ् अनङ् आ > अस्थना । अस्थना > अस् थ् ना = अस्थ्ना ।

दध्ना – दधि आ (टा) । दधि को अनङ् आदेश हो – दध् अनङ् आ । दधन् आ > दध् न् आ = दध्ना ।

सक्थ्ने – सक्थि ङे > सक्थि ए । सक्थि को अनङ् अन्तादेश हो – सक्थ् अनङ् ए । सक्थ् अन् ए = सक्थन ए = सक्थ् न् ए = सक्थ्ने ।

अक्ष् णा – अक्षि टा > अक्षि आ । अक्षि को अनङ् अन्तादेश हो – अक्ष् अन् आ = अक्षन् आ > अक्ष् न् आ = अक्ष्ना > अक्ष्णा ।

(23) " छन्दस्यपि दृश्यते " (7.1.79)

अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि – इन अंगों को वेद विषय में भी अनङ् अन्तादेश देखा जाता है । (होता है ।)

उदाहरण – इन्द्रो दधीचो अस्थभि: । भद्रं पश्येमाक्षभि: ।

अस्थभि: – अस्थि भिस् । अस्थि को अनङ् आदेश हो – अस्थ् अनङ् भिस् । अस्थन् भिस् >अस्थभि: ।

अक्षभि: – अक्षि भिस् । अक्षि को अनङ् आदेश हो – अक्ष् अनङ्

भिस् । अक्षन् भिस् > अक्षिभिः ।
वेद में अजादि प्रत्यय परे होने की अनिवार्यता नहीं है यह उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है । इसके अतिरिक्त तृतीयादि विभक्तियों के परे होने के नियम भी लागू नहीं होते । क्योंकि प्रथमादि विभक्ति परे होने पर भी अनङ्. आदेश होते हुए देखा जाता है । जैसे – अस्थान्युत्कृत्य जुहोति ।

(24) " थो न्थः " (7.1.87)

पथिन् तथा मथिन् अंग के थकार के स्थान में न्थ आदेश होता है ।
उदा.– पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः । मन्थाः मन्थानौ, मन्थानः ।
पन्थाः – पथिन् सु > पथिन् आ सु > पथ आ स् । पथिन् के 'थ' को 'न्थ' आदेश हो – पन्थ आ स > पन्था स् । पन्था स = पन्थाः ।
मन्थानौ – मथिन् औ > मथन् औ । थ को न्थ आदेश हो – म न्थ न औ > मन्थन् औ । मन्थन् औ > मन्थान् औ = मन्थानौ ।

(25) " पुंसोऽसुङ्. " (7.1.89)

पुंस् अंग के स्थान में सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते असुङ्. आदेश होता है ।
उदा.– पुमान्, पुमांसौ, पुमांसः ।
पुमान् – पुंस् सु । पुंस् पुल्लिंग शब्द है अतः इससे परे सुट् की सर्वनाम – स्थान संज्ञा होगी । सर्वनामस्थानसंज्ञक सु के परे रहते पुंस् को असुङ्. आदेश हो – पुं असुङ्. सु । पुं असुङ् सु > पुम् अस् स्> पुम् अ नु म् स् स् > पुमन्स् स् > पुमन्स् > पुमन् > पुमान् ।
पुमांसौ – पुंस् औ । पुंस् को असुङ्. आदेश हो – पुं असुङ्. औ । पुम् अस् औ > पुम न् स् औ > पुमन्सौ > पुमंसौ > पुमांसौ ।

(26) " अनङ्. सौ " (7.1.93)

सखि अङ्. को सम्बुद्धिभिन्न सु परे रहते अनङ्. आदेश होता है ।
उदा.– सखा ।
सखा –सखि सु । 'सखि' को अनङ्. आदेश हो – सख् अनङ्. सु > सखन् सु । सखन् सु > सखान् स् > सखा ।
सम्बुद्धि में (सम्बोधन में) सखि सु > सखि > सखे = हे सखे; अनङ्. आदेश नहीं होता ।

(27) " ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च " (7.1.94)

ऋकारान्त अंग को तथा उशनस्, पुरुदंसस् अनेहस् – इन अंगों को भी संबुद्धिभिन्न सु परे रहते अनङ्. आदेश होता है ।
उदा.– कर्ता, हर्ता । उशना, पुरुदंसा, अनेहा । कर्ता – कर्तृ सु ।
ऋकारान्त अंग को सम्बुद्धि – भिन्न सु परे रहते अनङ्. आदेश होकर – कर्त अनङ्. सु । कर्तन् सु > कर्तन् स् > कर्तान् स् > कर्ता स् > कर्ता ।
उशना – उशनस् सु । उशनस् को सूत्र-विहित अनङ्. अन्तादेश हो – उशन् अनङ्. सु । उशनन् सु > उशना ।
पुरुदंसा – पुरुदंसस् सु । पुरुदंसस् को अनङ्. आदेश हो – पुरुदंस

अनङ्. सु > पुरुदंसा ।

अनेहा – अनेहस् सु । अनेहस् को सूत्र द्वारा प्राप्त अनङ्. आदेश होने पर – अनेह अनङ्. सु । अनेह अन् सु > अनेहा ।

संबोधन की सु विभक्ति परे रहते अनङ्. आदेश नहीं होगा और कर्तृ सु > कर्ता: (हे) कर्त:, (हे) पुरुदंस:, (हे) अनेह:, (हे) उशन: आदि शब्द बनेंगे ।

उशनस् को सम्बुद्धि में भी पाक्षिक अनङ्. अभीष्ट है ताकि 'हे उशनस्' आदि प्रयोग सिद्ध हो ।[1]

(28) " अतो येय: " (7.2.80)

अकारान्त अंग से उत्तर सार्वधातुक या के स्थान में इय् आदेश होता है ।

उदा.– पचेत्, पचेताम्, पचेयु: ।

पचेत्– पच् लिङ्. > पच् शप् तिप् > पच त्>पच यासुट् त् > पच या स् त् > पच या त् । पच आकारान्त अंग है तथा सार्वधातुक तिप् को हुआ यासुट् आगम भी आगमी का अवयव होने से सार्वधातुक हुआ । इस दशा में उपर्युक्त सूत्र द्वारा या को इय् आदेश हो – पच इय् त् । पचेय् त् > पचे त् = पचेत् ।

पचेताम् –पच् शप् यासुट् तस् > पच या ताम् । या को इय् आदेश हो – पच् इय् ताम् । पच इय् ताम् > पचेय् ताम् > पचे ताम् = पचेताम् ।

पचेयु:- पच् झि । पच् शप् यासुट् जुस् > पच या उस् । या को इय् आदेश हो – पच इय् उस् । पच इय् उस् > पचेयुस् > पचेयु: ।

(29) " आतो ङि.त: " (7.2.81)

अकारान्त अंग से उत्तर ङित् सार्वधातुक के अवयव आकार के स्थान में इय् आदेश होता है ।

उदा.– पचेते, पचेथे । पचेताम्, पचेथाम् । यजेते, यजेथे । यजेताम्, यजेथाम् ।

पचेते –पच् शप् लट् > पच आताम् । अकारान्त अंग से परे आताम् केआकार को इय् आदेश हो –पच इय् ताम् > पचेय् ताम् । पचेय् ताम् > पचे ताम् > पचेते ।

पचेथाम् –पच् शप् आथाम् (लोट् > आथाम्) > पच आथाम् । आ को इय् आदेश होने पर –पच इय् थाम् । पच इय् थाम् > पचेय् थाम् > पचे थाम् > पचेथाम् > पचे थे > पचे थ् आम् > पचेथाम् ।

यजेताम् –यज् शप् आताम् > यज् आताम् । आ को इय् आदेश हो – यज इय् ताम् । यज इय् ताम् >यजेय् ताम् >यजे ताम् >यजे ते > यजे त् आम् = यजेताम् ।

(30) " अयङ्. यि क्ङिति " (7.4.22)

यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते शीङ्. अंग को अयङ्. आदेश होता है ।

उदा.– शय्यते, शाशय्यते, प्रशय्य, उपशय्य ।

शय्यते–शीङ्. लट् > शीङ्. त > शीङ्. यक् त > शी य त । यक् यकारादि कित् प्रत्यय है अत: इसके परे रहने पर शीङ्.

अंग को अयङ्. आदेश प्राप्त हुआ। आदेश हो - श् अयङ्. य त > शय्यत। शय्यत > शय्यते।

शाशय्यते - शीङ्. यङ्. त > शी य त। ङित् यङ्. प्रत्यय परे रहते शीङ्. अंग को अयङ्. आदेश हो - श् अयङ्. य त। श य् य त > शय्य त > शाशय्यते।

(31) " रीङ्. ऋतः " (7.4.27)

ऋकारान्त अंग को कृत् भिन्न एवं सार्वधातुक भिन्न यकार परे हो तथा च्वि परे हो तो रीङ्. आदेश होता है।

उदा.- मात्रीयति, मात्रीयते, मात्रीभूतः।

मात्रीयति - मातृ क्यच् तिप्। क्यच् कृत् प्रत्यय नहीं है और यह असार्वधातुक प्रत्यय है और यकारादि है अतः इसके परे रहते ऋकारान्त अंग को रीङ्. अन्तादेश होने पर - मात् री य तिप् > मात्रीयति।

मात्रीयते - मातृ क्यङ्. । क्यङ्. यकारादि अकृत् असार्वधातुक प्रत्यय है अतः इसके परे रहते मातृ के ऋकार को रीङ्. हो - मात् री य = मात्रीय। मात्रीय त > मात्रीयते।

मात्रीभूतः - मातृ च्वि भू क्त सु। च्वि परे रहने मातृ के ऋकार को रीङ्. हो - मात् रीङ्. भू त सु। मात्री भूत सु = मात्रीभूतः।

(32) " रिङ्. शयग्लिङ्क्षु " (7.4.28)

ऋकारान्त अंग को श, यक् तथा यकारादि सार्वधातुक भिन्न लिङ्. परे रहते रिङ्. आदेश होता है।

उदा.- आद्रियते : आध्रियते। क्रियते, ह्रियते। क्रियात्, ह्रियात्।

आद्रियते - आङ्. दृङ्. त > आ दृ श त। श परे रहते ऋकारान्त अंग को रिङ्. अन्तादेश हो - आ द् रि अ त। आ द्रि अ त > आ द्र् इयङ्. अत > आ द्रि य त > आद्रियते।

क्रियते - कृ यक् त। यक् परे रहते ऋकारान्त अंग को रिङ्. आदेश हो - क् रिङ्. य त > क्रि य त। क्रियत > क्रियते।

ह्रियात् - हृ लिङ्. > हृ यासुट् तिप् > हृ यास् त.। लिङ्. परे रहते ऋकारान्त अंग को रिङ्. आदेश होने पर - ह् रिङ्. यास् त् > ह्रि या त् = ह्रियात्।

(33) " सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् " (7.4.54)

मी, मा तथा घुसंज्ञक एवं रभ्, लभ्, शक्, पत पद - इन अंगों के अच् के स्थान में इस् आदेश होता है, सकारादि सन प्रत्यय परे रहते।

उदा.- मित्सति, प्रमित्सति, मित्सते, अपमित्सते, दित्सति, धित्सति; आरिप्सते; आलिप्सते; शिक्षति, पित्सति, प्रपित्सते।

मित्सति - मीञ् सन् तिप् अथवा डुमिञ् सन् > मी स तिप्। सकारादि सन् परे रहते मीञ् अंग के अच् को इस् आदेश हो - म् इस् स ति > मिस् स ति। मिस् स ति > मिस् मिस् स ति > मिस् स ति > मित् स ति = मित्सति।

मित्सते - माङ्. अथवा मेङ्. > मा से सन् हो, सन् परे रहते मा के

अच् को इस हो – म् इस् स। मिस् स त > मित्सत > मित्सते।
मित्सति – मा (माने) से सन्। मा के अच् को इस् हो – म् इस् स> मिस् स। मिस् स तिप् = मित्सति।
दित्सति – दा सन् तिप्। दा घुसंज्ञक है अतः सन् परे रहते इसके अच् को इस् आदेश हो – दिस् स ति > दित्सति।
दा से दो, दाण् ,देङ्., दञ् इन चारों का ग्रहण होगा। देङ्., दो को सन् परे रहते 'आदेच.' सू. से आत्व होने पर इनका स्वरूप 'दा' हो जायगा। देङ्. एवं दञ् से आत्मनेपद के प्रत्यय तथा दो, दाण् दाञ् से परस्मैपद के प्रत्यय होंगे।
आरिप्सते – आङ्. रभ् सन् त। सन् परे रहते रभ् के अच् को इस् आदेश हो – आ रिस् भ् सन् त। आरि स भ् स त > आरि भ् स त > आ रिप् रिप् स त > आरि प् स त > आरिप्सते।
आलिप्सते – आङ्. लभ् सन् त। सन् परे होने पर लभ् के अच् को इस् आदेश हो – आ लिस् भ् स त। आलिस् भ् स त > आ लि भ् स त > आ लिप् लिप् स त>आ लिप् स त > आलिप्सते।
शिक्षति – शक् सन् तिप्। शक् के अच् को इस् आदेश होने पर – शि स् क् स ति। शि स् क् स ति> शि शि क् ष ति > शि क् ष ति = शिक्षति।
पित्सति – पत् सन् तिप्। पत् के अच् को इस् आदेश हो – पिस् त् स तिप् > पित्सति।
प्रपित्सते – प्र पद् सन् त > प्र पद् स ते पद के अच् को इस हो – प्र पिस् द स त। प्र पिस् द् स त > प्र पिद् स ते > प्र पित् पित् स ते = प्र पित् स ते = प्रपित्सते।

(34) " प्रणवष्टेः " (8.2.98)

यज्ञकर्म में अन्तिम पद की टि को प्रणव (ओम्) आदेश होता है। और वह प्लुत उदात्त होता है।
उदा.– अपां रेतांसि जिन्वतोश३म्। देवान् जिगाति सुम्नयो३म्।
जिन्वतो३म् – जिवि लट् > जिव् तिप् > जि नुम् व् ति = जिन्वति। जिन्वति छन्द के पाद का अन्तिम पद है अतः यज्ञकर्म में इस पद की टि को प्लुत, उदात्त ओम् आदेश होगा। आदेश हो – जिन्वत् ओ३म् = जिन्वतो३म् ऐसा शब्द उच्चरित होगा।

(35) " एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ " (8.2.107)

अप्रगृह्यसंज्ञक एच् जो दूर से बुलाने विषय में न हो तो प्लुत करने के प्रसंग में उस एच् के पूर्वार्ध भाग को आकारादेश होता है, और वह प्लुत होता है,। तथा उत्तरार्ध भाग कोइकार, उकार आदेश होते हैं। एक वार्तिक में इस सूत्र द्वारा विहित प्लुत आकारादेश के विषय का परिगणन किया गया है, जो इस प्रकार है–
'प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवादयाज्यान्तेष्विति वक्तव्यम्।'
प्रश्नान्त में – अगम ३: पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३ इ। पटा३ उ।

यहाँ अग्निभूते (अग्निभूति सु) सम्बुद्धि विषयक को प्लुत करने के प्रसंग में पूर्वार्द्ध को प्लुत आकार एवं उत्तरार्ध को इ आदेश हो – अग्निभूता ३ इ हुआ। तथा 'पटो' में एच् के स्थान पर प्लुत आकार एवं उत्तरार्ध में उ आदेश हो – पटा ३ उ हुआ। अभिपूजित अर्थ में – भद्रं करोषि माणवक ३ अग्निभूता ३ इ। पटा ३ उ।

विचार्यमाण अर्थ में – होतव्यं दीक्षितस्य गृहा ३ इ प्रत्यभिवादन में – आयुष्मानेधि अग्निभूता ३ इ पटा ३ उ।

वाक्यान्त – उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे स्तोमैर्विधेमाग्नया ३ इ।

(36) " आतोऽटि नित्यम् " (8.3.3)

अट् परे रहते रु से पूर्व आकार को नित्य अनुनासिक आदेश होता है।

उदा.– महाँ असि। महाँ इन्द्रो य ओजसा। देवाँ अच्छादीव्यत्।

महाँ – असि एवं इन्द्र के अट् – अकार, इकार परे रहते महान् के आकार को सूत्र विहित अनुनासिक आदेश हो – महाँ रु (न् > रु) असि, महाँ रु इन्द्रः ऐसी दशा हुई। महाँ रु असि, महाँ रु इन्द्र > महाँ ; असि, महाँ इन्द्र।

(37) " खरवसानयोर्विसर्जनीयः " (8.3.15)

रेफान्त पद को खर् परे रहते तथा अवसान में विसर्जनीय आदेश होता है संहिता में।

उदा.– वृक्षश्छादयति, प्लक्षस्तरति, वृक्षष्टीकते, वृक्षः, प्लक्षः आदि।

वृक्षश्छादयति – वृक्षः+छादयति। > वृक्ष रु छादयति > वृक्ष र् छादयति। खर् छकार परे रहते रेफान्त पद को विसर्जनीय हो – वृक्षः छादयति। वृक्षः छादयति > वृक्ष स् छादयति > वृक्ष श् छादयति = वृक्षश्छादयति।

प्लक्षस्तरति – प्लक्षः+तरति। रेफान्त पद को खर् त परे रहते विसर्जनीय आदेश हो – पलक्षः तरति। प्लक्ष स् तरति> प्लक्षस्तरति।

वृक्ष – वृक्ष सु > वृक्ष स् > वृक्ष•रु > रेफान्त पद को अवसान में विसर्जनीय हो – वृक्षः।

(38) " रोः सुपि " (8.3.16)

रु के रेफ को सुप् परे रहते विसर्जनीय आदेश होता है।

उदा.– पयःसु, सर्पिः षु, यशःसु।

पयः सु – पयस् सुप्। पय रु सुप् >पय र् सु। सुप् परे रहते रु के रेफ को विसर्जनीय आदेश हो – पयःसु।

सर्पिःषु – सर्पिष् सुप् > सर्पि र् सु। रेफ को विसर्जनीय आदेश हो – सर्पिः सु > सर्पिः षु।

यशः सु – यशस् सुप् > यश र् सु। रेफ को विसर्जनीय आदेश हो – यशः सु = यशःसु।

(39) " नश्चापदान्तस्य झलि " (8.3.24)

अपदान्त नकार तथा चकार से मकार को भी झल् परे रहते अनुस्वार

आदेश होता है।

उदा.— पयांसि, यशांसि, सर्पींषि, धनूंषि, आक्रंस्यते, आचिक्रंस्यते, अधिजिगांसते।

पयांसि — पयस् जस् अथवा शस् > पयस् शि > पय न् (नुम्) स् इ > पयान् स् इ। अपदान्त नकार को झल् सकार परे रहते अनुस्वार आदेश हो — पयां स् इ = पयांसि।

आक्रंस्यते — आङ्. क्रम् स्य त (लृट्) > आ क्रम् स्य ते। अपदान्त मकार को झल् स् परे रहते अनुस्वार आदेश हो — आ क्रं स्य ते = आक्रंस्यते।

(40) " शर्परे विसर्जनीयः " (8.3.35)

शर् परे है जिससे ऐसे खर् के परे रहते विसर्जनीय को विसर्जनीय आदेश होता है।

उदा.— शशः क्षुरम्। पुरुषः क्षुरम्। आद्भिप्सातम्। वासः क्षौमम्। पुरुषः त्सरुः।

शशः क्षुरम् — यहाँ शशः के विसर्जनीय को शर् (ष्) जिससे परे है ऐसे खर् (क्) के परे रहते विसर्जनीय हो — शशः क्षुरम् बना।

विसर्जनीय को विसर्जनीय आदेश अन्य प्राप्त आदेशों (यथा जिह्वामूलीय उपध्मानीय) की निवृत्ति करने हेतु विहित किया गया है।

(40) " वा शरि " (8.3.36)

विसर्जनीय को विकल्प से विसर्जनीय आदेश होता है, शर् परे रहते।

उदा.— वृक्षः शेते, प्लक्षः शेते। पक्ष में — वृक्षश्शेते, प्लक्षश्शेते।

वृक्षः शेते — विसर्जनीय को सूत्रविहित विसर्जनीय आदेश हो — वृक्षः शेते।

वृक्षश्शेते — विसर्जनीय को विसर्जनीय आदेश वैकल्पिक है अतः विसर्जनीय आदेश के अभाव में 'विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग को सकार तथा सकार को श्चुत्व शकार हो वृक्ष श् शेते = वृक्षश्शेते।

(41) " कुप्वोः ≍क ≍पौ च " (8.3.37)

कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को यथासंख्य ≍क (जिह्वामूलीय) तथा ≍प (अर्थात् उपध्मानीय) आदेश होते हैं तथा चकारात् विसर्जनीय भी होता है।

उदा.— वृक्ष ≍खनति, वृक्षः खनति। वृक्ष ≍फलति, वृक्षः फलति।

वृक्ष ≍खनति — वृक्षः खनति। कवर्ग खकार परे रहते विसर्जनीय को जिह्वामूलीय आदेश हो — वृक्ष ≍खनति।

वृक्षः खनति — सूत्र में चकारग्रहण से पक्ष में (विसर्जनीय को) विसर्जनीय भी प्राप्त है। विसर्जनीय पक्ष में — वृक्षः खनति।

वृक्ष ≍फलति, वृक्षः फलति — वृक्षः फलति पवर्ग फकार परे रहते विसर्जनीय को उपध्मानीय आदेश हो — वृक्ष ≍फलति। विसर्जनीय को चकारबल से प्राप्त विसर्जनीय पक्ष में वृक्षः फलति।

एकादेश प्रकरण

(1) 'आद्गुणः' (6.1.84)

यदि अवर्ण से परे अच् वर्ण हो तो पूर्वएवं पर दोनों के स्थान पर गुण एकादेश हो ।

उदा. – उपेन्द्रः, मालेन्द्रः, अपोद्धारः, खट्वोदकम्, कृष्णर्द्धिः, तवल्कारः, सुरेशः, खट्वेषा, नवोढा, खटवोढा, राजर्षिः, वसन्तर्तुः इत्यादि ।

उप+इन्द्रः – यहाँ अवर्ण से परे इकार रहते दोनों को सूत्रविहित गुण एकारादेश हो उप् ए न्द्रः = उपेन्द्रः शब्द बना ।

तवल्कारः – तव+लृकारः। अकार एवं लृकार को गुण अकार एवं रपर होकर तव् अल् कार = तवल्कारः शब्द बना ।

अपोद्धारः – अप+उद्धारः । यहाँ अकार एवं उकार को गुण ओकार होगा – अप् ओ द्धारः = अपोद्धारः ।

(2) 'वृद्धिरेचि' (6.1.85)

अवर्ण से परे यदि एच् (ए, ओ, ऐ, औ) हो तो पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होगें ।

उदा. – कृष्णैकत्वम्, गङ्गौघः।ः, खट्वैलकाः, तण्डुलौदनम्, देवैश्वर्यम्, खट्वैतिकायनः, रामौत्सुक्यम्, खट्वौपगवम् इत्यादि ।

कृष्णैकत्वम् – कृष्ण+एकत्वम् । अकार से परे एकार रहते दोनों को वृद्धि एकादेश हो – कृष्ण् ऐ कत्वम् = कृष्णैकत्वम् बना ।

गङ्गौघः – गङ्गा+ओघः । अकार, ओकार को वृद्धि एकादेश हो गङ्ग् औ घः=गङ्गौघः शब्द सिद्ध हुआ ।

(3) 'एत्येधत्यूठ्सु' (6.1.86)

अवर्ण से परे यदि एजादि इण् धातु हो तो उस अवर्ण एवं इण् धातु के एच् दोनों के स्थान पर तथा अवर्ण से परे एध तथा ऊठ् का अच् हो तो उस एध तथा ऊठ् और पूर्ववर्ती अवर्ण दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है ।

उदा. – उपैति, उपैधते; विश्वौहः आदि ।

उपैति – उप+एति । अवर्ण से परे एजादि इण् धातु है अतः अवर्ण एवं एवर्ण दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होकर उप् ऐ ति = उपैति बनता है ।

उपैधते – उप+एधते । अवर्ण एवं एध के एकार दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होकर उप् ऐ धते =उपैधते बनता है ।

विश्वौहः – विश्व+ऊहः । यहाँ अवर्ण एवं उससे परे ऊठ् (वाह् को ऊठ् हुआ है।) के ऊकार दोनों को वृद्धि औकार हो विश्व् औ हः = विश्वौहः शब्द बनता है ।

(4) 'आटश्च' (6.1.87)

आट् से परे अच् हो तो आट् एवं अच् के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है, संहिता के विषय में ।

उदा.– बहुश्रेयस्यै, बहुश्रेयस्याः आदि ।
बहुश्रेयस्यै – बहुश्रेयसी ङे. > बहुश्रेयसी आट् ङे. > बहुश्रेयसी आ ए ।
आट् एवं अच् ए को वृद्धि एकादेश हो – बहुश्रेयसी ऐ > बहुश्रेयस्यै शब्द बनता है ।

(5) 'उपसर्गादृति धातौ' (6.1.88)

अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि धातु हो तो अवर्ण एवं ऋकार दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होगा संहिता विषय में ।
उदा.– प्रार्च्छति, उपार्छत् आदि ।
प्रार्च्छति – प्र ऋच्छति । यहाँ अवर्णान्त उपसर्ग प्र से परे ऋच्छति का ऋकार है अतः इन दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होगा – प्र आर् च्छति = प्रार्च्छति ।

(6) 'वा सुप्यापिशलेः' (6.1.89)

अकार से परे ऋकारादि सुबन्तावयव धातु हो तो अकार एवं धातु के ऋकार के स्थान पर वृद्धि एकादेश विकल्प से होगा ।
उदा.– प्रार्षभीयति । वृद्धि के अभाव में–प्रर्षभीयति ।
प्रार्षभीयति, प्रर्षभीयति – प्र ऋषभीयति । यहाँ अवर्ण से परे ऋकारादि नाम धातु है अतएव अवर्ण एवं धातु के ऋकार दोनों केस्थान पर विकल्प से वृद्धि एकादेश प्राप्त है । वृद्धि होने पर – प्र आर् षभीयति = प्रार्षभीयति तथा वृद्धि के अभाव में गुण होकर प्रर्षभीयति शब्द बनते हैं ।

(7) 'औतोऽम्शसोः' (6.1.90)

संधि का प्रसंग हो तो ओकारान्त से परे अम् तथा शस् विभक्ति के विषय में ओकार तथा अम् तथा शस् के अकार के स्थान में आकार एकादेश होता है ।
उदा.– गाम्, गाः आदि ।
गाम् – गो अम् । ओकार एवं आकार को आकार एकादेश होकर – ग् आ म् = गाम् शब्द बना ।
गाः – गो शस् > गो अस् । सूत्रविहित आकार एकादेश होने पर ग् आ स् > गास् = गाः शब्द बना ।

(8) 'एङि. पररूपम्' (6.1.91) ,

अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु के रहते उपसर्ग के अकार एवं धातु के एङ्. के स्थान पर पररूप एकादेश होता है ।
उदा.– प्रेजते, उपोषति इत्यादि ।
प्रेजते – प्र+एजते । प्र अवर्णान्त उपसर्ग है और एज् एङादि धातु है अतः अवर्ण एवर्ण दोनों के स्थान पर पररूप एकार एकादेश होने पर – प्र ए जते = प्रेजते शब्द बनता है ।
उपोषति – उप+ओषति । सूत्रविहित पररूप एकादेश होने पर उप् ओ षति =उपोषति ।

(9) 'ओमाङोश्च' (6.1.92)

अवर्ण से परे ओम् और आङ्. हों तो अकार एवं ओकार या आकार के

स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

उदा.— शिवायोंनमः, शिवेहि आदि।

शिवायोंनमः — शिवाय ओम् नमः। यहाँ शिवाय के अन्त्य अवर्ण से परे ओम् का ओकार है दोनों को सूत्रविहित पररूप एकादेश होने पर — शिवाय् ओ म् नमः — शिवायोम् नमः > शिवायोंनमः।

शिवेहि — शिव आ इहि। यहाँ शिव के अकार से परे आङ् का आकार है इन दोनों को सूत्र विहित पररूप एकादेश होने पर — शिव् आ इहि = शिवा इहि > शिवेहि शब्द बनता है।

(10) 'उस्यपदान्तात्' (6.1.93)

अपदान्त अवर्ण और उसके परे उस् के उकार के स्थान में पररूप एकादेश होता है।

उदा.— भिन्द्युः, छिन्द्युः।

भिन्द्युः — भिद् जुस् > भिन्द् या उस् > भिन्द्या उस्। आकार उकार के स्थान पर पररूप एकादेश होने पर भिन्द्य् उस् > भिन्द्युस् = भिन्द्युः शब्द सिद्ध होगा।

छिन्द्युः — छिद् जुस् > छिन्द् यासुट् जुस् > छिन्द्या उस्। सूत्रविहित पररूप एकादेश होने पर छिन्द्युस्=छिन्द्युः शब्द बनता है।

(11) 'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' (61.95)

अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण का जो शब्द उससे उत्तर जो इति उस शब्द के अत् एवं इति केइकार समुदाय को पूर्वरूप एकादेश होता है।

उदा.— पटिति, श्रधिति आदि।

पटिति — पटत् इति। पटत् के अत् एवं इति के इकार को **पररूप** एकादेश होकर पट् इ ति = पटिति शब्द बना।

(12) 'अकः सवर्णे दीर्घः' (6.1.97)

अक् से परे सवर्ण अच् हो तो पूर्वपर दोनों के स्थान पर दीर्घ एकादेश होता है।

उदा.— दैत्यारिः, विद्यालयः, मुनीन्द्रः, लक्ष्मीशः, भानूदयः, वर्णाश्रमः, शिवालयः, विद्याध्ययनम् गिरीशः इत्यादि।

दैत्यारि — दैत्य+अरिः। अवर्ण से परे सवर्ण अच् आकार होने से सूत्रविहित दीर्घ एकादेश होकर दैत्य् आ रिः = दैत्यारिः शब्द बनता है।

मुनीन्द्रः — मुनि+इन्द्रः। सवर्णदीर्घ होकर मुन् ई न्द्रः = मुनीन्द्रः।

भानूदयः — भानु+उदयः। दीर्घ एकादेश हो भान् ऊ दयः = भानूदयः बना।

(13) 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (6.1.98)

अक् के पश्चात् प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के अच् परे हों तो पूर्व तथा पर के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो।

उदा.— रामाः, साधून् आदि।

रामाः — राम जस् > राम अस्। राम के अक् अकार से परे प्रथमा

विभक्ति का अच् अकार है दोनों के स्थान पर पूर्व सवर्णदीर्घ एकादेश होने पर – राम् आ स् > रामास् = रामाः ।
साधून् – साधु शस् > साधु अस् । सूत्र विहित पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो साध् उ स्=साधूस् > साधून् शब्द बना है ।

(14) 'वा च्छन्दसि' (6.1.102)

वेद में दीर्घ से जस् अथवा इच् प्रत्याहारस्थ वर्ण परे रहते विकल्प से पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है ।
उदा.– मारुती: । पक्ष में – मारुत्य: ।
मारुती:, मारुत्य: – मारुती जस् । पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश होने पर – मारुतीस् = मारुती: । पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश के अभाव में – मारुती जस् > मारुत्य: ।

(15) 'अमिपूर्व:' (6.1.103)

अक् से उत्तर अम् विभक्ति हो तो पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होगा ।
उदा.– रामम् ।
रामम् – राम अम् । सूत्रविहित पूर्वरूप एकादेश होने पर – राम् अ म् = रामम् ।

(16) 'संप्रसारणाच्च' (6.1.104)

संहिता विषय में सम्प्रसारणसंज्ञक वर्ण और उससे परे जो अच् उन दोनों के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होगा ।
उदा.– गृह्णाति ।
गृह्णाति – ग्रह् श्ना तिप् > ग् ऋ अ ह् ना ति । संप्रसारणसंज्ञक ऋकार एवं उससे परे जो अकार उसे पूर्वरूप एकादेश होने पर – गृ ह् ना ति > गृह्णाति ।

(17) 'एङ: पदान्तादति' (6.1.105)

पदान्त में जो एङ्. तत्परक जो अकार उन दोनों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है ।
उदा.– हरेऽव, विष्णोऽव ।
हरेऽव – हरे अव । हरे का एकार (एङ्.) पदान्त है तथा इससे परे अकार है दोनों के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होनेपर – ह् र् ए व > हरेऽव ।
विष्णोऽव – विष्णो अव । पूर्वरूप एकादेश हो – विष्ण् ओ व > विष्णोऽव ।
पूर्वरूप एकादेश को दिखाने के लिए अवग्रह (ऽ) का चिह्न लगाने की प्रथा है ।

(18) 'ङसिङसोश्च' (6.1.106)

पदान्त एङ्. से परे यदि ङ.सि और ङ.स् हों अर्थात् इन प्रत्ययों का अकार हो तो उस एङ्. एवं प्रत्यय के अवर्ण के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होगा ।

उदा – हरेः, साधोः आदि।

हरेः – हरि ङ.सि या ङ.स् > हरे अस्। सूत्र द्वारा विहित पूर्वरूप एकादेश होकर – हर् ए स् > हरेस् = हरेः।

(19) **'ऋत् उत्' (6.1.107)**

ऋकार से उत्तर ङ.सि या ङ.स् का अकार हो तो पूर्वपर दोनों के स्थान में उकार एकादेश होगा।

उदा.– मातुः, पितुः।

मातुः – मातृ ङ.सि या ङ.स् > मातृ अस्। ऋकारान्त मातृ के ऋकार के परे ङ.सि एवं ङ.स के अकार के रहने से पूर्वपर दोनों के स्थान में उकार एकादेश होकर – मात् उ स् > मातुः।

पितुः – पितृ ङ.सि या ङ.स् > पितृ अस्। उकार एकादेश हो – पित् उ स् > पितुस् > पितुः।

द्वित्व प्रकरण

'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (6.1.1) तथा 'अजादेर्द्वितीयस्य' (6.1.2) ये दोनों ही अधिकार सूत्र हैं। प्रथम सूत्र का अर्थ है 'प्रथम एकाच् समुदाय को द्वित्व हो जाता है।' (प्रथमस्य एकाचो द्वे भवतः)[2] दूसरे सूत्र का आशय है - अजादि शब्द के द्वितीय एकाच् समुदाय को द्वित्व होता है। (अजादेर्द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनमधिक्रियते)[3]

छठे अध्याय के इस प्रथम सूत्र से लेकर सम्प्रसारण विधायक सूत्र (ष्यङ: सम्प्रसारणम्पुत्रपत्यो स्तत्पुरुषे 6.1.13) के पूर्व सूत्र तक इन सूत्रों का अधिकार है। इससे जिन सूत्रों द्वारा द्वित्वविहित हुआ है उनके प्रथमएकाच् अथवा द्वितीयएकाच् समुदाय को द्वित्व होता है यदि हलादि धातु है तो प्रथम एकाच् और यदि अजादि धातु है तो द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।छठे अध्याय के इस द्वित्वप्रकरण में कुल चार सूत्र हैं जिनके द्वारा द्वित्व विधान किया गया है। ये सभी सूत्र धातु संबंधी द्वित्व विधान करते हैं। नीचे इन सूत्रों का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (6.1.8)

लिट् लकार परे हो तो अनभ्यस्त धातु के प्रथम एकाच् समुदाय (यदि धातु हलादि हो) अथवा द्वितीय एकाच् समुदाय (यदि धातु अजादि हो) को द्वित्व होता है।

उदा. - पपाच। प्रोर्णुनाव।

पपाच - पच् णल्। धातु के प्रथम एकाच् पच् को द्वित्व हो- पच पच णल् >पपाच।

प्रोर्णुनाव - प्र ऊर्णु णल् > प्र ऊ र्नु णल्। धातु के द्वितीय एकाच् नु को द्वित्व हो - प्र ऊ र्नु नु णल् > प्रो र्णु नौ अ = प्रोर्णुनाव।

सन्यङोः (6.1.9)

सन्नन्त तथा यङन्त धातुके अनभ्यस्त अवयव (प्रथम एकाच् अथवा द्वितीय एकाच्) को द्वित्व होता है।

उदा. - पापच्यते, प्रोर्णोनूयते, पिपठिषति, उन्दिदिषति।

पापच्यते - पच् यङ्। यङ् परे रहते हलादि धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हो - पच् पच् यङ् > पापच्य। पापच्य त > पापच्यते।

प्रोर्णोनूयते - प्र ऊर्णु यङ् > प्र ऊर्नु यङ्। अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को यङ् परे रहने पर द्वित्व हो - प्र ऊ र्नु नु य > प्रोर्णुनुय > प्रोर्णोनूय। प्रोर्णोनूय त > प्रोर्णोनूयते।

पिपठिषति - पठ् सन् > पठ् इट् सन्। सन् परे रहते पठ् धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हो - पठ् पठ् इ स> पि पठिष। पिपठिष तिप् > पिपठिषति।

उन्दिदिषति - उन्दी (क्लेदने) सन्। सन् परे रहते अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होने पर - उन् दी दी इट् सन् > उन्दिदिष।

उन्दिदिष तिप् > उन्दिदिषति ।

'श्लौ' (6.1.10)

श्लु होने पर अनभ्यस्त धातु के प्रथम एकाच् (यदि धातु हलादि हो) अथवा द्वितीय एकाच् (यदि धातु अजादि हो) को द्वित्व हो जाता है ।

उदा.- जुहोति, बिभेति आदि ।

जुहोति - हु शप् तिप् । शप् को श्लु हो–हु तिप् । हु से परे श्लु हुआ है अतः हु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हो - हु हु तिप् > जु होति = जुहोति ।

'चङि' (6.1.11)

चङ् परे रहते धातु के अनभ्यस्त अवयव (प्रथम या द्वितीय) एकाच् को द्वित्व होता है ।

उदा.- अपीपचत्, अपीपठत् ।

अपीपचत् - पच् लुङ् > अ पच् च्लि तिप् > अ पच् चङ् त् । चङ् परे रहने पर धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हो - अ पच् पच् अ त् > अपि पचत् > अपीपचत् ।

'एकाचो द्वे प्रथमस्य' सूत्र के द्वित्व विधान को 'स्थानेद्विवचन' मानें या 'द्विःप्रयोग' - इस विषय पर भाष्यकार ने विस्तारपूर्वक विचार किया एवं इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि छठे अध्याय के इस अभ्यासद्वित्व को 'द्विःप्रयोगोद्विवचनम्' माना जाय । इस प्रकार इस प्रकरण का द्वित्व आदेश न होकर द्वि-उच्चारण है अतः आदेशों पर विचार करते समय इन सूत्रों का ग्रहण नहीं होना चाहिए था । तथापि प्रबन्ध में इन सूत्रों के समावेश का कारण है इनका अत्यल्प संख्या में होना । आठवें अध्याय के द्वित्व को आदेश मानने से उनका प्रबन्ध में समावेश हुआ है उनके एवं इन सूत्रों के द्वारा समान कार्य (द्वित्व) होने से इन सूत्रों का भी विवेचन कर दिया गया । अब द्वित्वादेशों का विवेचन किया जाता है ।

(1) 'नित्यवीप्सयोः' (8.1.4)

नित्यता तथा वीप्सा अर्थ में जो शब्द उस सम्पूर्ण शब्द को द्वित्व होता है ।

उदा.- पचतिपचति, स्मारंस्मारं, स्मृत्वा स्मृत्वा, लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति ।

ग्रामो ग्रामों रमणीयः, पुरुषः पुरुषो निधनमुपैति ।

पचति पचति - पच् लट् > पच् शप् तिप् पचति । नित्यता अर्थ में (निरन्तरता अर्थ में) पचति को द्वित्व हो - पचति पचति ।

स्मारं, स्मारं - स्मृ णमुल् > स्म् आर् अम् = स्मारं । बारंबारता द्योत्य होने से सूत्र द्वारा द्वित्व हो - स्मारं स्मारं ।

स्मृत्वा, स्मृत्वा - स्मृ क्त्वा > स्मृत्वा । पौनः पुन्य अर्थ में सूत्र द्वारा सम्पूर्ण शब्द को द्वित्व हो - स्मृत्वा स्मृत्वा ।

लुनीहि, लुनीहि - लूञ् लोट् > लूञ् त > लूञ् हि > लुनीहि । पौनः पुन्य (क्रियासमभिहार) अर्थ में द्वित्व हो - लुनीहि लुनीहि ।

ग्रामो ग्रामो – ग्राम सु = ग्रामः । वीप्सा अर्थ में द्वित्व हो ग्रामः ग्रामः > ग्रामोग्रामो रमणीयः ।
पुरुषः पुरुषो – पुरुष सु = पुरुषः । वीप्सा अर्थ में द्वित्व हो – पुरुषः पुरुषः > पुरुषःपुरुषो निधनमुपैति ।
प्रकृत सूत्र द्वारा 'नित्यता' एवं वीप्सा इन दो अर्थों में सम्पूर्ण शब्द का द्वित्वविहित किया गया। भाष्यकार, काशिकाकार तथा टीकाकारों के अनुसार आठवें अध्याय के प्रथम पाद के 'सर्वस्य द्वे' सूत्र द्वारा विहित द्वित्व 'स्थानेद्विवचन' है। इस प्रकार यह द्वित्वविधि द्वित्वादेश है।
आलोच्य सूत्र इस द्वित्व सम्बन्धी आदेश विधान का प्रथम सूत्र हैं। सूत्र के 'नित्य' पद का अर्थ है – निरन्तरता, बारंबारता, पौनःपुन्य[4] न्यासकार के अनुसार – आभीक्ष्ण्यं हि पुनः पुनः प्रवृत्ति।[5]
'नित्य' शब्द का मुख्य अर्थ है – शाश्वत, कूटस्थ। और गौण अर्थ है 'आभीक्ष्ण्य'। गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः' नियम से मुख्य अर्थ को लेकर ही कार्य सम्पादन होना चाहिए किन्तु पदमंजरीकार के अनुसार – गौणोऽपि चार्थो लक्ष्यदर्शनवशादिहाश्रीयते।[6] व्याकरण का लक्ष्यानुयायित्व प्रसिद्ध है ही। अतः अभीष्ट सिद्धि के लिए यहाँ गौण अर्थ का ही आश्रयण किया गया है। यह आभीक्ष्ण्य या निरंतरता अथवा पौनः पुन्य तिङन्त एवं अव्यय–कृदन्तों में होता है। पचति पचति यह तिङ्सम्बन्धी नित्यता का उदाहरण है, भुक्त्वा भुक्त्वा, भोजंभोजम् ये कृदन्त के उदाहरण हैं। क्त्वा की 'कृन्मेजन्तः' सूत्र से अव्यय संज्ञा हुई अतः ये अव्यय–कृदन्त हुए। क्त्वा, णमुल्, लोट् इनसे बने शब्द का आभीक्ष्ण रूप अर्थ के प्रकाशन के लिए द्वित्व होता है।
वीप्सा = विशिष्टा ईप्सा।[7] काशिकाकार के अनुसार – नानावाचिनामधिकरणानां क्रियागुणाभ्यां युगपत्प्रयोक्तुर्व्याप्तुमिच्छा वीप्सा। पुनः कुछ और स्पष्ट करते हुए कहते हैं – नानाभूतार्थवाचिनां शब्दानां यान्यधिकरणानि वाच्यानि तेषां क्रियागुणाभ्यां युगपत्प्रयोक्तुमिच्छा वीप्सा।[8] अर्थात् पृथक्भूत अर्थों के वाचक शब्दों के जो अधिकरणवाच्य उनके क्रिया एवं गुण की एक साथ (युगपत्) कथन की प्रयोक्ता की इच्छा वीप्सा है। जैसे ग्रामो ग्रामो रमणीयः। यहाँ दिशा, देश (स्थान) के भेद से भिन्न भिन्न ग्रामों का जो रमणीयत्व गुण उसका युगपत् कथन (सभी ग्रामों में समान रूप से रमणीयत्व की व्याप्ति के कथन की इच्छा) करने की इच्छा ही वीप्सा है। इसी प्रकार पुरुषः पुरुषः निधनमुपैति इस प्रयोग में भिन्न भिन्न पुरुषों में जो निधन क्रिया (निधन = विनाश)[8] इस भिन्न भिन्न अधिकरणों में प्राप्त क्रिया का युगपत् कथन करने की प्रयोक्ता की इच्छा वीप्सा है। इस उदाहरण में भिन्न भिन्न अधिकरणों में प्राप्य क्रिया की युगपत् व्याप्ति दिखाई गई हैं। भाष्यकार ने वीप्सा शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है –– आप्नोतेरयं विपूर्वादिच्छायामर्थे सन् विधीयते। वि आप् सन् > वीप्स टा = वीप्सा। वीप्सा सुपों में होती है। क्योंकि सुपों में ही इसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य है। इससे वीप्सा

अर्थ में द्वित्व सुप् प्रत्ययान्त शब्द का होता है।

(2) 'परेर्वर्जने' (8.1.5)

छोड़ने के अर्थ में विद्यमान परि शब्द को द्वित्व होता है।

उदा.- परिपरि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः। परिपरि सौवीरेभ्यः वृष्टो देवः।

परिपरि - यहाँ वर्जन अर्थ में परि को सूत्र द्वारा द्वित्व हुआ है - परिपरि। 'अपपरी वर्जने' सू. से 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है और परि के योग में त्रिगर्त से 'पंचम्यपाङ्.परिभिः' सू. से पंचमी विभक्ति हुई। परिपरि त्रिगर्तेभ्यः।

वर्जनम् = परिहारः[9]। परिहार = छोड़ना।

(3) 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (8.1.6)

प्र, सम्, उप, उत् उपसर्गों को पाद की पूर्ति करनी हो तो द्वित्व हो जाता है।

उदा.- प्रप्रायमग्निर्भरतस्य श्रृण्वे। संसमिद्युवसे वृषन्। उपोपरमे परामृश। किं नोदुदुहर्षसे दातवाउ।

प्रथम उदा.- प्रप्राय. में प्र का द्वित्व, संसमिद्यु. में सम् का, उपोपरमे में उप का तथा अन्तिम उदाहरण किं नो. मे उत् का द्वित्व हुआ है।

(4) 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' (8.1.7)

उपरि, अधि, अधस् - इनको समीपता अर्थ कहना हो तो द्वित्व होता है।

उदा.- उपर्युपरि दुःखम्। उपर्युपरि ग्रामम् समीपता का अर्थ प्रत्यासत्ति (प्रत्यासन्न = सन्निकट) है। यह सामीप्य देशकृत एवं कालकृत दो प्रकार का होता है।

उपर्युपरि दुःखम् यह कालसंबंधी सामीप्य का उदाहरण है। इस वाक्य का अर्थ है जो दुःख समीप हो - थोड़े समय पूर्व हुआ हो या थोड़े समय के लिए होने वाला हो।

उपर्युपरि ग्रामम् - यह देशकृत सामीप्य का उदाहरण है। वाक्य का अर्थ है - ग्राम के निकट ऊपरी क्षेत्र।

अध्यधि ग्रामम् - यह देशकृत सामीप्य का उदाहरण है वाक्यार्थ है - ग्राम के समीप ऊपरी स्थान। अधोऽधो ग्रामम् - वाक्यार्थ है ग्राम के समीप का निचला क्षेत्र (स्थान)।

(5) 'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु' (8.1.8)

वाक्य के आदि के आमन्त्रित को द्वित्व होता है, यदि वाक्य से असूया, कोप, कुत्सन, भर्त्सन गम्यमान हो रहा हो तो।

उदा.- असूया गम्यमान हो तो -माणवक 3 माणवक अभिरूपक 3 अभिरूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम्। यहाँ असूया अर्थ में वाक्य के आरंभ में स्थित आमन्त्रित (जिसे संबोधित किया जाय) को द्वित्व हुआ है।[10]

असूया = दूसरों के गुणों का सहन न होना।

सम्मति - पूजा (प्रशंसा)[11]

माणवक 3 माणवक अभिरूपक 3 अभिरूपक शोभनः खल्वसि।

यहाँ प्रशंसा अर्थ में वाक्य के आरंभ में स्थित आमन्त्रित को द्वित्व हुआ है।

कोप – क्रोध।

माणवक 3 माणवक अविनीतक अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म।

कुत्सन – निन्दा।

शक्तिके 3 शक्तिके यष्टिके 3 यष्टिके रिक्ता ते शक्तिः यहाँ शक्ति को असार – व्यर्थ बताकर निन्दा प्रकट की गई है। निन्दा अर्थ में वाक्य के आदि में स्थित आमन्त्रित को द्वित्व हुआ है।

भर्त्सनं – चौर 3 चौर वृषल 3 वृषल घातयिष्यामि त्वा, बन्धयिष्यामि त्वा।

(6) 'आबाधे च' (8.1.10)

पीड़ा अर्थ में वर्तमान शब्द को भी द्वित्व होता है तथा उस शब्द को बहुव्रीहिवत् कार्य भी होता है।

उदा. – गतगतः। नष्टनष्टः। पतितपतितः।

गतगतः – यहाँ प्रिय के चिर गमन से उत्पन्न पीड़ा के अर्थ में विद्यमान गतः शब्द का द्वित्व हुआ। पीड़ा इत्यादि प्रयोक्ता के धर्म हैं अभिधेय के नहीं। पीड़ा इत्यादि अर्थ 'गत' या 'नष्ट' शब्द का अभिधेय अर्थ नहीं अपितु प्रयोक्ता इन शब्दों के माध्यम से स्वानुभूत पीड़ा को अभिव्यक्त करता है।

(7) 'प्रकारेगुमणवचनस्य' (8.1.12)

प्रकार अर्थ में वर्तमान गुणवचन शब्दों को द्वित्व होता है और उसे कर्मधारयवत् कार्य होता है।

उदा. – पटुपटु, मृदुमृदु, पण्डितपण्डितः।

गुणवाची शब्द पटु, मृदु, पण्डित इत्यादि को प्रकार अर्थ में द्वित्व हो पटुपटु, मृदुमृदु, पण्डित पण्डितः आदि शब्द सिद्ध होते हैं।

प्रकार शब्द का प्रयोग 'भेद' एवं 'सादृश्य' दोनों ही अर्थों में प्राप्त होता है। बहुभिः प्रकारैर्भुङ्क्ते इस वाक्य में 'प्रकार' से भिन्नता अर्थ का बोध होता है। इस वाक्य का अर्थ है – बहुभिर्भेदैः, विशेषैर्भुङ्क्ते। (बहुत प्रकार से =' कई तरह से, खाता है।) सादृश्य अर्थ का उदाहरण है – ब्राह्मणप्रकारोऽयं माणवकः (यह बालक ब्राह्मण सदृश है।) इस सूत्र में 'सादृश्य' अर्थ का ही आश्रयण हुआ है।

गुणवचन शब्द का तात्पर्य है (गुणवाचक) शब्द के द्वारा गुण वाचन। जैसे – शुक्ल, नील, मृदु आदि गुणवाचक शब्दों से शुक्लत्व-नीलत्व-मार्दवादि गुणों का वाचन होता है। ऐसे ही गुणवाचक शब्दों को द्वित्व होता है। यदि इनसे गुण वाच्य हो तो। पटुपटु-इस शब्द का अर्थ है 'पटुसदृश'। मृदुमृदु का अर्थ है – मृदु प्रकार का, ब्राह्मणब्राह्मण शब्द का अर्थ है ब्राह्मण के प्रकार का अर्थात् ब्राह्मण सदृश (ब्राह्मण जैसा)।

(8) 'अकृच्छ्रे प्रियसुखयोरन्यतरस्याम्' (8.1.13)

प्रिय तथा सुख शब्दों को अकृच्छ्र अर्थ द्योत्य हो तो विकल्प से द्वित्व होता है। इन शब्दों को कर्मधारयवत् कार्य भी प्राप्त होता है।

उदा. – प्रियप्रियेण ददाति। सुखसुखेन ददाति। द्वित्व के अभाव में ---
प्रियेण ददाति, सुखेन ददाति।

प्रियप्रियेण, सुखसुखेन इत्यादि उदाहरणों में अकृच्छ्रा अर्थ होने से प्रिय एवं सुख शब्दों को द्वित्व हुआ है। सूत्र द्वारा विहित द्वित्व वैकल्पिक है अतः पक्ष में द्वित्वाभाव के रूप प्रियेण ददाति, सुखेन ददाति इत्यादि भी सिद्ध होंगे।

प्रियप्रियेण ददाति या प्रियेण ददाति का अर्थ है – बिना प्रयास के दे देता है (बिना प्रयासेन ददातित्यर्थः।)[13] जिस वस्तु को देने में सामान्यतः खेद होना चाहिए उसे देने में भी किसी को थोड़ा भी खेद न प्रतीत हो तो वह दान के विषय में उस व्यक्ति की अकृच्छ्रा (अखिन्नता) है। इस अकृच्छ्रा अर्थ में जो प्रिय एवं सुख शब्द उन्हें ही इस सूत्र द्वारा वैकल्पिक द्वित्व प्राप्त होता है।

'अचो रहाभ्यां द्वे' (8.4.45)

अच् से उत्तर जो रेफ और हकार उससे उत्तर यर् को द्वित्व होता है।

उदा. – अर्क्कः। ब्रह्म्मा। अपह्न्नुते।

अर्क्कः – अर्च घञ् > अर्क घञ्। अर्च का रेफ अच् अकार से परे है अतः इससे परे जो यर् ककार है उसे सूत्र द्वारा द्वित्व प्राप्त है। द्वित्व हो – अर्क क् अ= अर्क्क। अर्क्क सु = अर्क्कः।

ब्रह्म्मा – बृंह् मनिन् > ब्रह् मन् > ब्रह्मा। अच् अकार से उत्तर हकार से परे यर् मकार को द्वित्व हो – ब्रह् म् मा = ब्रह्म्मा।

'अनचि च '(8.4.46)

अच् से उत्तर यर् को विकल्प से अच् परे न हो तो भी द्वित्व हो जाता है।

उदा. – दद्ध्यत्र ; मद्ध्वत्र।

दद्ध्यत्र – दधि अत्र > दध् य् अत्र। अच् – दकारोत्तरवर्ती अकार से परे जो यर् धकार उसे अच् परे न रहते भी सूत्र द्वारा द्वित्व प्राप्त है। द्वित्व हो ---

द ध् ध् यत्र > दद्ध्यत्र।

मद्ध्वत्र – मधु अत्र > मध् व् अत्र। अच् अकार से परे अनच्परक यर् धकार को सूत्रविहित द्वित्व हो – मध् ध् वत्र। मध् ध् वत्र > म द् ध् वत्र = मद्ध्वत्र।

संन्दर्भ-सूची

1. द्र. सूत्र की काशिका।
2. द्र. (6.1.1) सूत्र की काशिका।
3. द्र. (6.1.2) सूत्र की काशिका।

4. 'आभीक्ष्ण्यमिह नित्यता' सूत्र की काशिका व्याख्या ।
5. द्र. सूत्र की काशिका व्याख्या की न्यास टीका ।
6. द्र. सूत्र की पदमञ्जरी टीका – काशिकावृत्ति ।
7. द्र. सूत्र की न्यास टीका – काशिकावृत्ति ।
8. द्र. सूत्र की काशिका व्याख्या ।
9. द्र. सूत्र की काशिका व्याख्या ।
10. तत्र परगुणानामसहनम् = असूया – सूत्र की काशिका ।
11. पूजनम् = शब्देन गुणाविष्करणम् – न्यास – काशिका ।
12. कृच्छ्रम् = दुःखम् । तदभावोऽकृच्छ्रम् । – सू. की काशिका व्याख्या ।
13. द्र. सूत्र की न्यास टीका – काशिका ।

सप्तम अध्याय

उपसंहार

शब्द महार्णव में पारंगत होने के लिए आदेश का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। किसी भी शब्द के वास्तविक स्वरूप या अर्थ का निर्धारण करने में तभी समर्थ होंगे जब हमें आदेशों का भी ज्ञान हो; धातुओं प्रातिपदिकों एवं प्रत्ययों का ज्ञान रखने से ही शब्द की ठीक व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ – यदि हमें यह ज्ञात नहीं कि आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते अज् धातु को 'वी' आदेश होता है तो प्रवयण, प्राजन आदि शब्दों में हम 'वी' धातु प्रकृति की कल्पना करने लगेंगे। अज् धातु तुदादिगण की है (अज् गतिक्षेपणयोः, तुदादिगण धात्वंक 230) वी धातु अदादिगण की (वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु, अदादिगण, धात्वंक 1048) है। इसी प्रकार अगात्, अगाताम् इत्यादि धातुरूपों मे 'इण्' धातु प्रयुक्त हुई है। यह अदादिगण की धातु है (इण् गतौ अदादिगण, धात्वंक 1045) यदि हमें यह ज्ञान नहीं है कि लुङ् में 'इण्' को 'गा' आदेश हो जाता है तो हम इन शब्दों की व्युत्पत्ति √गा स्तुतौ, जुहोत्यादिगण (धात्वंक 1106) अथवा√ गाङ् गतौ, भ्वादिगण (धात्वंक 950) धातुओं से करने लगेंगे। अधिजगे अधिजगाते इत्यादि शब्दों की प्रकृति√ इङ् अध्ययने अदादिगण (धात्वंक 1046) है, गाङ् गतौ भ्वादिगण (धात्वंक 950) अथवा√ गा जुहोत्यादिगण (धात्वंक 1106) नहीं, ऐसा निर्णय हम तभी कर सकेंगे जब हमें यह ज्ञात हो कि शब्द में दृश्यमान 'गा' धातु प्रकृति नहीं अपितु गाङ् आदेश है जो√ इङ् धातु को लुङ् में होता है। अगात्, अगाताम् आदि को√ गा स्तुतौ तथा अधिजगे, अधिजगाते को√ गाङ् गतौ या √ गा स्तुतौ से व्युत्पन्न मानने पर इनके वास्तविक अर्थ का जो अनर्थ होगा वह स्पष्ट है। उपर्युक्त उदाहरणों में शब्द की प्रकृति के सदृश धातुओं का प्राप्त होना इनकी उचित व्युत्पत्ति करने में भ्रम उत्पन्न करता है जिसका आदेश का ज्ञान होने से निवारण हो जाता है किन्तु क्रोष्टृ शब्द में इससे भिन्न प्रकार का भ्रम उठता है। मूल प्रातिपदिक है 'क्रोष्टु', किन्तु शब्द रूप बनते है क्रोष्टृ शब्द से। यदि आदेश का ज्ञान नहीं है तो इन्हें भिन्न शब्द समझने की भूल हो सकती है। यदि हमें यह ज्ञात है कि क्रोष्टु को तृच् अन्तादेश होता है तो हम इस सन्देह में नहीं पड़ते और यह विवेक करने में सफल होते हैं कि क्रोष्टृ शब्द वस्तुतः क्रोष्टु शब्द ही है कोई भिन्न शब्द नहीं। अतएव भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के यथार्थ स्वरूप एवं अर्थ के ज्ञान के लिए आदेशों का ज्ञान होना आवश्यक है। पाणिनि की शब्दों की व्युत्पत्ति प्रदर्शन प्रणाली में आदेशों का बड़ा महत्व है। पाणिनीय शास्त्र में यह इतना आवश्यक है कि बिना इसके शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया पूरी नहीं हो सकती। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनकी सिद्धि मे आदेश अनिवार्यतः अपेक्षित है। उदाहरणार्थ – अज् से निष्पन्न प्रवयण एवं चक्षिङ् से निष्पन्न ख्यातृ इत्यादि। पाणिनीय धातुपाठ में 'वी' एवं 'ख्या' धातुएँ भी परिगणित हुई हैं। किन्तु इन धातुओं से प्रवयण, ख्यातृ इत्यादि शब्द नहीं बन सकते। इसका कारण है इन धातुओं का आर्धधातुकों में प्रयोग नहीं होता– (वी गतीति। 'अजेर्व्यघञपोः' इति सूत्रभाष्यरीत्या अस्य आर्धधातुके नास्ति प्रयोगः इति शब्देन्दुशेखरे स्थितम्। – बालमनोरमा, सिद्धान्त कौमुदी, अदादिप्रकरण। ख्या प्रकथने। 'अयं सार्वधातुकमात्र विषयः। – सिद्धान्त

कौमुदी, अदादिप्रकरण)। ल्युट्, तृच् इत्यादि आर्धधातुक प्रत्यय हैं अतएव इनके योग में बने हुए शब्दों की प्रकृति 'वी' एवं 'ख्या' धातुएँ नहीं हो सकती। अब जबकि मूलधातुओं से ये प्रयोग सिद्ध नहीं हो पाते तो मूलधातु की समानार्थक अन्य धातु यथा अज् एवं चक्षिङ्. को क्रमशः 'वी' एवं 'ख्या' आदेश विधान आवश्यक हो जाता है जिससे ल्युट् के योग में अज् धातु होने पर वी आदेश करने के पश्चात् प्रवयण तथा तृच् परे रहते चक्षिङ्. को ख्या आदेश करने पर ख्यातृ शब्द बन सके। 'वी' एवं 'ख्या' आदि धातुओं के आर्धधातुक में प्रयोग न होने का ज्ञापक है 'चक्षिङ्.: ख्याञ्' (2.4.54) सूत्र का वार्तिक – 'सस्थानत्वं नमः ख्यात्रे' एवं इसका व्याख्यानरूप भाष्य। इस सूत्र में चक्षिङ्. को ख्याञ् आदेश विधान हुआ है। वार्तिककार एवं भाष्यकार 'ख्या' के स्थान पर 'क्शा' आदेश विधान के पक्षधर हैं। इस आदेश के शकार के लिए 'पूर्वत्रासिद्धम्' अधिकार में वैकल्पिक यकारादेश का कथन है। 'क्शा' एवं वैकल्पिक यत्व के विधान के कई प्रयोजन बताए गए जिनमें एक है – 'नमः ख्यात्रे', यहाँ जिह्वामूलीय आदेश का निवारण। क्शा पक्ष में श को यत्व होने पर, यत्व के असिद्ध होने से शर्परक खर् परे रहते विसर्जनीय को "शर्परे विसर्जनीयः सूत्र से विसर्ग होजायगा। यही अभीष्ट है। ख्यातृ यहाँ 'ख्या' से रूपसिद्ध करने पर शर्परक खर् परे न होने से 'कुप्वोः क पौ च' से विसर्ग के परे कवर्ग खकार होने से विसर्ग को जिह्वामूलीय प्राप्त होगा तथा पक्ष में विसर्जनीय भी प्राप्त होगा; इस प्रकार जिह्वामूलीय जो अभीष्ट नहीं है वह भी दुर्वार हो जायगा। वार्तिककार एवं भाष्यकार ने ख्यातृ शब्द की व्युत्पत्ति चक्षिङ्. धातु से दिखलाया तथा चक्षिङ्. को 'क्शा' आदेश तथा शकार को यत्व विधान का अनुशासन किया इससे स्पष्ट होता है कि चक्षिङ्. तत्सम्बन्धी ख्या आदेश से ही आर्धधातुक प्रत्ययों के रूप बनते हैं मूल ख्या धातु से नहीं। ऐसा ही नागेश का भी मत है 'वस्तुतः स्वतन्त्रख्याधातोरार्धधातुके प्रयोगाभाव एवेष्टव्यः – उद्योत। महाभाष्य। सूत्र – चक्षिङ.: ख्याञ् 2.4.54। यहाँ 'वी' 'ख्या' आदि धातुओं के आर्धधातुक में प्रयोग न होने से आर्धधातुक प्रत्ययों के योग में अज् एवं चक्षिङ्. को 'वी', 'ख्या' आदेश करना अनिवार्य हो गया था किन्तु जहाँ ऐसी विशेष स्थिति न हो वहाँ भी अर्थात् सामान्य प्रयोगों में भी आदेशों का विधान आवश्यक है। वस्तुतः बहुत कम शब्द ही ऐसे हैं जिनकी सिद्धि में कुछ आदेश न हुआ हो और जिन प्रयोगों में आदेश किया जाता है उनकी बिना आदेश किए ही व्युत्पत्ति प्रदर्शित करने का प्रयास करें तो यह संभव नहीं होगा। बिना आदेश किए शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से संभव है प्रथम बड़ी संख्या में धातुओं, प्रातिपदिकों, प्रत्ययों की प्रकल्पना की जाय तथा उनके विधान-निषेध से संबंधित सूत्र बनाए जाएँ। उदाहरणार्थ- 'गमयति' एवं 'गच्छति' के लिए गम् तथा गच्छ् दो धातु प्रकृतियाँ प्रकल्पित हों तथा किन विषयों में गम् हो किनमें गच्छ् हो गम् नहीं इस विषय के सूत्र बनाए जाएँ। इस प्रकार की शब्द व्युत्पत्ति प्रणाली में पहला दोष यह है कि संहिता जैसे विषय इस प्रणाली द्वारा सिद्ध नहीं हो सकेंगे। क्योंकि संहिता वर्णाश्रित कार्य है प्रकृतिप्रत्ययाश्रित कार्य नहीं। इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि इतनी अधिक संख्या में प्रातिपदिकों, धातुओं, प्रत्ययों तथा इनके विधान निषेधपरकशास्त्र प्रकल्पित करने होंगे जिसका अनुमान करना कठिन है। जहाँ एक ही भू धातु से भवति

भवतः आदि लट् लकार के रूप, बभूव आदि लिट् लकार के रूप भूयात् आदि लिङ्. लकार के रूप बन जाते हैं वहाँ अब इनके प्रकृत्यंश के लिए भू, भव, बभू आदि स्वरूप के धात्वंड्ग प्रकल्पित करने पड़ेंगें। इस प्रकार बड़ा ही प्रयास गौरव उत्पन्न होगा जब कि व्याकरण का मुख्य उद्देश्य है लघु उपाय से अधिकाधिक शब्दों का ज्ञान कराना। इस प्रणाली का आश्रयण करने में व्याकरण के मुख्य उद्देश्य या प्रयोजन की हानि होगी अतएव यह त्याज्य है। दूसरी व्युत्पत्ति निष्पादन प्रणाली यह हो सकती है कि 'स्थानी' को हटाने के लिए लोप विधान किया जाय एवं आदेश को लाने के लिए वर्ण या शब्द का आगम विहित किया जाय। इस प्रणाली का गुण यह है कि संधि संबंधी विकार को भी इस प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है और सबसे बड़ा दोष है कि आगम आगमी का अवयव होता है। अवयव के लिए अवयवी का होना आवश्यक है। यहाँ आगमी होगा अभाव रूप स्थानी (क्योंकि लोप में स्थानी का अदर्शन हो जायगा) और अभावरूप स्थानी को अवयव का विधान तथा उस अवयव का अवयवी के साथ ग्रहण होना कैसे संभव होगा। एकाल् या शब्द के अंश विशेष से संबंधित आदेशों के विषय में यह संभव है कि शब्द के अनपेक्षित अंश को हटाकर आवश्यक अंश का आगम कर लें पर जहाँ सम्पूर्ण प्रकृति या प्रत्यय के स्थान पर आदेश होते हैं उन स्थानों पर प्रकृति या प्रत्यय का लोप होने पर ऐसा बचेगा क्या जिसका अवयव रूप आगम किया जा सके। इस कथन का तात्पर्य यह है कि लोप के समान अदर्शन होना तथा आगम के समान नवीन वर्ण या शब्द का श्रवण होना आदेश विधि में भी देखा जाता है किन्तु आदेश को लोप एवं आगम का एकत्रसंयोजन मात्र नहीं कहा जा सकता । आगम-लोप एवंआदेश इनमें मौलिक अन्तर है। इसके कारण ऐसा संभव नहीं है किआदेश द्वारा सिद्ध होने वाला कार्य लोप एवं आगम के द्वारा सिद्ध किया जा सके। कुछ ऐसी मौलिक भिन्नताओं की चर्चा की जाती हैं जिनसे आदेश का लोपागम रूप संयुक्त् कार्य द्वारा सिद्ध न होना स्पष्ट होता है।---

(1) आगम आगमी का अवयव होता है - यदागमास्तद्गुणीभूताः तद्ग्रहणेन गृह्णन्ति। सभी आदेशों के विषय में यह संभव नहीं कि वह किसी का अवयव हो। विशेषकर सर्वादेश विषय में यह अवयवअवयवीभाव. संबंध संभव नहीं होगा। अन्तादेश विषय में हो सकता है।

(2) आदेश करने के बाद आदेश को स्थानिवद्भाव का अतिदेश प्राप्त हो जाता है जिससे आदेश होने के बाद भी अन्य अपेक्षित कार्य हो सकें। लोप करने के बाद आगम द्वारा अभीष्ट शब्द प्राप्त कर भी लें तो यह स्थानिवद्भावातिदेश कैसे हो सकेगा। इस दशा में जस् का लोप कर शी को किसी प्रकार लाकर 'फलानि' शब्द सिद्ध तो हो सकेगा लेकिन शी का सुप्त्व कैसे सिद्ध होगा, बिना सुप्त्व सिद्ध किए इसकी पदसंज्ञा कैसे हो सकेगी। इस प्रकार बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी। इन दो प्रमुख अन्तरों के अतिरिक्त कुछ अन्य अन्तर भी हैं जो ऐसी प्रणाली के द्वारा अभीष्ट सिद्ध न हो सकने के सूचक हैं। जैसे - आगम आगमी का अवयव होजाता है जबकि आदेश स्थानी से भिन्न शब्द - शब्दान्तर है। आगम का विधान किसी शब्द के अवयव रूप में ही किया जाता है आदेश का स्थानी शब्द का अंश या सम्पूर्ण शब्द भी होता है। आगम आगमी के आदि में अन्त में या

अन्त्य अच् से पर आकर जुड़ जाता है आदेश का स्थान शब्द का अन्तिम वर्ण या सम्पूर्ण शब्द है। आदेश में सम्पूर्ण प्रकृति का हटना कई प्रयोगों में देखा गया है किन्तु एकाधिक अपवादों (जैसे- इयान् शब्द) को छोड़कर सम्पूर्ण प्रकृति अंश का लोप विधान नहीं हुआ है।

वस्तुतः आदेशविधि लोप विधि एवं आगम विधि की अपेक्षा अधिक व्यापक है। आदेश को लोप एवं आगम की संयुक्त कार्ययोजना में अंतर्भूत नहीं किया जा सकता है किन्तु आगम एवं लोप को आदेश में अंतर्भूत कराने का प्रयास भाष्यकार द्वारा किया गया है। लोप-आगम-आदेशादि के द्वारा जब शब्द के अनित्यत्व का प्रश्न उठा तो भाष्यकार ने स्थानी आदेश की बुद्धि का विपरिणाम मात्र कहकर आदेश द्वारा शब्द में अनित्यत्व की आपत्ति का परिहार कर दिया किन्तु लोप आगम आदि के द्वारा शब्द के एकदेश में होने वाले परिवर्तन के कारण अनित्यत्व दोष का परिहार अभी भी नहीं हो सका तो इन विधियों को आदेश कहकर इस दोष का परिहार किया - सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते। महाभाष्य, प्रथम अध्याय, पंचमाह्निकम् सूत्र - 'दाधाघ्वदाप्'। सर्वे सर्वपदादेशाः, अनागमकानां सागमकाः आदेशाः तथा 'लुक्श्लुलुपः सर्वादेशाः भवन्ति' इत्यादि भाष्यवचन भाष्यकार के लोप, आगम आदि को आदेश में अन्तर्भूत करने के प्रयास को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार लोप द्वारा स्थानी का अदर्शन एवं आगम द्वारा आदेश का आविर्भाव कर आदेश किए बिना भी शब्द की व्युत्पत्ति करना संभव है ऐसा कहना उचित नहीं होगा। इस प्रकार की प्रकल्पना में स्थानिवद्भावातिदेशादि न होने से कई अनियम एवं जटिलाएँ भी उत्पन्न होंगी। वस्तुतः ऊपर जो भेद दिखाए गए हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऐसी परिकल्पना ही अनुचित है लोप आगम आदेश परस्पर भिन्न विधि हैं एवं मौलिक हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि इस प्रणाली में भी बड़ा शास्त्रगौरव होगा। अतएव आदेश विधि को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है। आदेशविधि को स्वीकार करना आवश्यक है क्योंकि इसके बिना शब्दों की व्युत्पत्ति सम्यक् रूप से प्रदर्शित नहीं की जा सकेगी। आदेश सूत्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कुछ ऐसे प्रयोजन भी हैं जिन्हें आदेश विधान की व्यवस्था से ही सिद्ध किया जा सका है। इनकी संक्षिप्त चर्चा इस स्थल में अपेक्षित है।---

आदेश विधान के द्वारा धातुओं, प्रातिपदिकों, प्रत्ययों की सूची को संक्षिप्त बनाया जा सका है। इससे 'द्रष्टा' एवं पश्यति के लिए दो धातुओं, अहम्, मम, मह्यम् इत्यादि के लिए तीन सर्वनाम शब्दों तथा रामाः, मुनयः प्रयोगों के लिए प्रथमा बहुवचन संबंधी दो विभक्ति प्रत्ययों की कल्पना नहीं करनी पड़ती। एक ही मूल धातु दृश् तथा उसको 'पश्य' आदेश प्रकल्पित कर द्रष्टा एवं पश्यति शब्द, एक ही प्रातिपदिक अस्मद् एवं उसके स्थान में अह; मम, मह्य इत्यादि आदेश प्रकल्पित कर अहम्, मम, मह्यम् आदि रूप तथा एक ही प्रत्यय जस् तथा उसे शी 'आदेश' प्रकल्पित कर रामाः, मुनयः आदि शब्द सिद्ध किए गए। आदेश व्यवस्था के द्वारा बड़ा शास्त्र लाघव संभव हो सका है अन्यथा जिन धातुओं के जिन प्रत्ययों में रूप नहीं बनते उनके निषेध संबंधी तथा जिन धातुओं के जिन प्रत्ययों मेंही रूप बनते हैं उनके विधान से संबंधित एकाधिक सूत्र बनाने पड़ते। उदाहरण के लिए

आर्धधातुक विषय में ब्रू को वच् आदेश हो जाता है। यदि आदेश विहित करने की व्यवस्था न होती तो सार्वधातुक विषय में वच् का निषेध तथा आर्धधातुक विषय में ब्रू का निषेध करना पड़ता जब कि आदेशविधान द्वारा इन दोनों निषेधों की आवश्यकता नहीं रह गई और सार्वधातुक विषय में ब्रू का ही प्रयोग हो वच् का नहीं तथा आर्धधातुक विषय में वच् का ही प्रयोग हो ब्रू का नहीं ऐसा प्रतिपादन एक ही सूत्र द्वारा हो गया।

विभिन्न प्रयोगों में कभी-कभी प्रकृत्यादि समान दिखती हैं किन्तु इनके अर्थ में भेद होता है और कभी कभी प्रकृत्यादि भिन्न दिखती है किन्तु इनके अर्थ में साम्य होता है। उदाहरण के लिए -- जिगाति, अधिजगाते इत्यादि प्रयोगों के प्रकृत्यंश में गा धातु दिखती है किन्तु इस सभी का अर्थ भिन्न है। जिगाति में गा का अर्थ स्तुति है, अधिजगाते में गा का 'अध्ययन' अर्थ है (इङ्. अध्ययने) और अगात्, अगाताम् आदि शब्दों की गा प्रकृति का अर्थ 'गति' है (इण् गतौ)। इसी प्रकार पश्यति एवं अद्राक्षीत् शब्दों की प्रकृति भिन्न प्रतीत होती है किन्तु इनका अर्थ समान है, अस्ति, आवत्, अघसत् में प्रकृति अंश के भिन्न भिन्न दिखने के बाद भी इनके प्रकृत्यंश के अर्थ में साम्य है। इन एक जैसी दिखने वाली भिन्नार्थक तथा भिन्न दिखने वाली समानार्थक प्रकृतियों में आदेश द्वारा ऐसी व्यवस्था हो सकी है कि इनके इस स्वरूप एवं अर्थ को इसी प्रकार जाना जा सके। प्रकृतिगत साम्य दिखने पर भी 'जिगाति' की गा (स्तुतौ) धातु से भिन्न प्रकृति के लिए इसी अर्थ की इङ्. धातु का चयन कर उसे गाङ्. आदेश तथा अगात् इत्यादि की गत्यर्थक गा प्रकृति के लिए इसी अर्थ की इण् गतौ धातु को गा आदेश विहित कर आदेशों के द्वारा ही इनके बीच स्वरूपगत साम्य एवं अर्थगत वैषम्य को निरूपित किया जा सका है। इसी प्रकार 'अद्राक्षीत् 'पश्यति' इत्यादि में मूल दृश् धातु की कल्पना कर उसे पश्य आदेश विहित कर इनके प्रकृत्यंश के स्वरूपगत भेद एवं अर्थगत साम्य को निरूपित किया जा सका है। ऐसे शब्दों में अर्थ का निर्धारण भी आदेश ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

कुछ धातुओं के सभी प्रत्ययों में रूप नहीं बनते। आर्धधातुक विषय में या आर्धधातुक परे रहते जो आदेश विहित किए गए हैं वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि धातु का आर्धधातुक विषय में प्रयोग नहीं होता। कभी कभी ऐसी धातुओं के स्थान पर हुए आदेश धातुरूप में भी प्राप्त होते हैं किन्तु आदेश का वही अर्थ होता है जो स्थानी का हो अतएव इन आदेशों में स्थानी संबंधी अर्थ ही घटित होता है उनके सदृश धातु का अर्थ नहीं। इसीलिए इण् के स्थान पर हुआ गा आदेश भी गत्यर्थक होजाता है स्तुत्यर्थक नहीं। ऐसी धातुओं जिनके सदृश आदेश विहित हुए हैं की एक अन्य विशेषता है इनमें से कुछ का सार्वत्रिक न होना। 'वी' धातु के विषय में बालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित का कथन है -- 'अजेर्व्यघञपोः' इति सूत्रभाष्यरीत्या अस्य आर्धधातुके नास्ति प्रयोगः इति शब्देन्दुशेखरे स्थितम्। इसी प्रकार ख्या धातु के विषय में तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती का कहना है 'अयं सार्वधातुकमात्र विषयः।' तथा घस्लृ धातु के विषय में इनका कथन है - अयं न सार्वत्रिकः। 'लिट्यन्यतरस्याम्' इत्यादेर्घस्लादेशविधानात्। 'वी' एवं ख्या धातुओं के विषय में स्पष्ट किया जा चुका है कि इनका आर्धधातुक विषय में प्रयोग

नहीं होता अतः प्रवयण, प्रवेता तथा ख्यातु इत्यादि शब्द की सिद्ध के लिए वी एवं ख्या आदेशों का होना आवश्यक है। दूसरी स्वरूप वाली 'वी' (अदादि. 1048) तथा ख्या (प्रकथने अदादि 1060) धातु से ये धातुरूप नहीं बन सकते।

कभी-कभी किसी विशेष अर्थ में अथवा विषय में ही आदेश विहित किए जाते हैं। ऐसे स्थान में आदेश से उस विशेष अर्थ या विषय का अनुगमन भी हो जाता है। सू. 'निनदीभ्यां स्नातेः कौशले' द्वारा नि एवं नदी शब्दों से परे स्ना के सकार को मूर्धन्य षकारादेश विहित किया जाता है यदि कुशलता अर्थ गम्यमान हो तो। इस प्रकार 'निष्णातः' का अर्थ 'कुशल' होगा तथा जहाँ षकारादेश नहीं हुआ है वहाँ इस विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं होगी अतः 'निस्नातः' का उपर्युक्त अर्थ नहीं होगा। इसी प्रकार 'वेश्च स्वनो भोजने' सूत्र द्वारा विपूर्वक स्वन के सकार को मूर्धन्यादेश होगा यदि भोजन अर्थ हो तो। अतएव 'विष्वणति' शब्द का अर्थ होगा 'सशब्दं भुङ्क्ते'। जहाँ यह आदेश नहीं हुआ है वहाँ यह अर्थ भी नहीं होगा अतः विस्वनति का अर्थ होगा 'बजाता है' (विस्वनति मृदंगम्) इन प्रयोगों में षत्वादेश के आधार पर यह अनुगमन हो रहा है कि कुशलता एवं भोजनक्रिया जैसे विशेष अर्थ यहाँ अभिप्रेय हैं। इसी प्रकार संज्ञा विषय में नर शब्द परे रहते विश्व के वकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घादेश विहित है (सू. 'नरे संज्ञायाम्') तथा ऋषि वाच्य हो तो मित्र से पूर्व विश्व के वकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ विहित है (सू. 'मित्रे चर्षौ')। अतः कहीं विश्वानर या विश्वामित्र शब्दप्रयोग हुआ है तो तत्क्षण यह अनुमान हो जाता है कि उस प्रसंग विशेष में विश्वानरसंज्ञक किसी व्यक्ति या विश्वामित्र नामक ऋषि के विषय में ही कुछ कहा जा रहा है।

पाणिनीय संप्रदाय नित्य शब्दवादी है। इस संप्रदाय में शब्द अर्थ एवं इनके संबंध को नित्य माना गया है। पाणिनीय मत में व्याकरण शब्दों का निर्माण नहीं करता अपितु लोक-प्रचलित सिद्ध शब्दों का अन्वाख्यान करता है। नित्य शब्द में प्रकृति प्रत्ययादि विभाग तथा शब्द में प्रकृत्यर्थ प्रत्ययार्थ इत्यादि की अवधारणा काल्पनिक है क्योंकि लोक में प्रकृति प्रत्यय इत्यादि की व्यवस्था के अनुसार शब्दबोध नहीं होता। शास्त्र-प्रक्रिया का निर्वाह हो सके इसलिए शब्द मे प्रकृति प्रत्यय आदि विभाग तथा प्रकृत्यर्थ प्रत्ययार्थ आदि की प्रकल्पना की गई। इसी प्रकार आदेशादि की प्रकल्पना भी काल्पनिक है, शास्त्रमात्र का विषय है। यथार्थ में तो गच्छति, भवति आदि शब्द ही तत्तत् अर्थ के वाचक हैं। विशेष प्रयोजन से इनमें गम् प्रकृति, शप् विकरण तिप् प्रत्यय, म् को छ आदेश तथा भू प्रकृति, शप् विकरण तिप् प्रत्यय भू के ऊकार को ओकार, ओकार को अवादेश इत्यादि की प्रकल्पना की गई। वस्तुतः यह व्याकरण शास्त्र की विशेष प्रणाली है जिसमें शब्द का विभाग कर उसका अन्वाख्यान किया जाता है।

इस अन्वाख्यान पद्धति में संप्रदाय भेद से उपायभेद भी हो जाता है - उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः। - परमलघुमंजूषा, शक्तिनिरूपणम्। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं--

पाणिनि के व्याकरण में जहाँ 'अस्' धातु का पाठ है, आपिशल व्याकरण में वहाँ केवल 'स' का पाठ था। (द्र. 1.3.22 सू. की न्यास टीका।)

प्राक्-पाणिनीय वैयाकरणों की तिङन्त प्रक्रिया पाणिनीयानुरूप नहीं थी वे पाणिनि

की भाँति ल् तिङ्. की कल्पना न कर लकारादेश के बिना ही तिङन्त प्रयोग सिद्ध कर लेते थे। (द्र. निरुक्त 1.13 की दुर्गाचार्यकृत व्याख्या) पाणिनि 'यावत्' पद की सिद्धि के लिए वतुप् प्रत्यय के साथ प्रातिपदिक में आकार का आदेश करते हैं। कैयट के अनुसार प्राक्-पाणिनीय आचार्य यहाँ आकारादेशयुक्त डावतु प्रत्यय का विधान करते थे - पूर्वाचार्यास्तु डावतु विदधिरे (प्रदीप 5.2.39)

पाणिनि अन्तिक शब्द को नेद आदेश करके नेदिष्ठ पद की सिद्धि करते हैं जबकि कुछ आचार्य नेद् धातु से नेदिष्ठ शब्द सिद्ध करते हैं। (काल्पनिके हि प्रकृति - प्रत्ययविभागे ब्राह्मिमादयः कस्मिंश्चिद् व्याकरणे धातोरेव साधिताः। एवं नेदिष्ठादयोऽपि नेदित्यादेः। - क्षीरतरङ्गिणी 1.80)

उपायों की अनियतता प्रदर्शित करने वाले उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर क्या यह कहा जा सकता है कि आदेश के बिना भी शब्दों का अन्वाख्यान संभव है। जहाँ तक प्रकृत्यादि से संबंधित आदेशों का विषय है ऐसा संभव हो भी जाय फिर भी सन्धिगत विकार को दिखाने के लिए आदेश विधान करना ही पड़ेगा। उदाहरण के लिए मधु एवं अरि इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति चाहे जिस प्रकार से प्रकृत्यादि की कल्पना कर की जाय इनकी संधि की व्याख्या करने के लिए उकार के स्थान पर वकारादेश विहित करना ही होगा। इसी प्रकार देव शब्द एवं आलय शब्द दोनों ही शिष्टजन प्रयुक्त साधु शब्द हैं साथ ही देवालय शब्द भी शिष्टजनप्रयुक्त साधु शब्द है। देव एवं आलय शब्दों की संधि होकर ही देवालय शब्द बना है इस शब्द की व्याख्या के लिए देव के अन्त्य अकार तथा आलय के आदि आकार के स्थान पर सवर्णदीर्घ एकादेश करना होगा। कुछ संधिगत विकार व्याकरण की अन्वाख्यान प्रणाली से प्रभावित नहीं हैं विशेषकर ऐसे विकार जो दो सिद्ध पदों की संधि से होते हैं। प्रकृति, प्रत्यय, प्रकृति अथवा प्रत्यय के अंश को विहित आदेशों की अन्यथा सिद्धि हो भी जाय तो भी ऐसे संधिगत विकार की सिद्धि आदेश व्यवस्था के बिना नहीं हो सकती। इसीलिए पाणिनीय परम्परा में ही नहीं पाणिनीय पूर्ववर्ती एवं परवर्ती व्याकरण संप्रदायों में भी इस व्यवस्था को स्वीकार करना पड़ा।

इस प्रकार अनिवार्य निष्कर्ष यही निकलता है कि अनन्त अनन्त शब्दों के स्वरूप निर्माण में आदेशों का महत्व सर्वोपरि है और इसीलिए इन आदेशों के स्वरूप, विधान इत्यादि का सूक्ष्म अध्ययन भी सर्वथा अपेक्षित एवं अनिवार्य है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

(1) अष्टाध्यायी भाष्य-प्रथमावृत्तिः भाग 1-4 । हिन्दी व्याख्याकार पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु एवं प्रज्ञाकुमारी । रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रकाशन, 1964 ।

(2) काशिकावृत्तिः (न्यासापरपर्यायकाशिकाविवरणपञ्चिकया पदमञ्जरीव्याख्या च सहिता)- श्री वामन जयादित्यविरचित, सं० - श्री द्वारिकादास शास्त्री एवं आचार्य कालिका प्रसाद शुक्ल । सुधी प्रकाशनम्, वाराणसी, 1983 । भाग I से IV ।

(3) काशिकावृत्तिः (न्यास पदमञ्जरीसहिता) । सं०- डा० श्रीनारायण मिश्र रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1985 । भाग I से IV ।

(4) 'व्याकरणमहाभाष्यम्' (कैयटकृत भाष्यप्रदीप एवं नागेशकृत भाष्यप्रदीपोद्योत टीका युक्त) सं०- पं० वधिराम शर्मा, संशोधक- श्री भार्गव शास्त्री जोशी प्रकाशक-चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान (प्राच्य भारती के प्रकाशक एवं वितरक) वाराणसी । पुनर्मुद्रित संस्करण 1991 । भाग I से IV ।

(5) 'महाभाष्यम्' (पतन्जलि मुनि-विरचितम्) हिन्दी व्याख्या सहितम् व्याख्याकार - युधिष्ठिरो मीमांसकः । प्रकाशक - श्री प्यारेलाल द्राक्षादेवी न्यास (ट्रस्ट), दिल्ली । मुद्रक - शान्तिस्वरूप कपूर, रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

(6) भगवत्पतन्जलिविरचित-'व्याकरणमहाभाष्य (प्रथम नवाह्निक) अनुवादक - चारुदेव शास्त्री । मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-6 ।

(7) पातन्जलं महाभाष्यम् । सं०-श्रीगुरुप्रसाद शास्त्री, संशोधक- डॉ० बाल शास्त्री 1987 । वाणी विलास प्रकाशन, वाराणसी । मुद्रक अजन्ता प्रिन्टर्स, वाराणसी ।

(8) 'व्याकरणमहाभाष्य' सं०- एफ० कीलहार्न, संशोधक- के० वी० अभ्यंकर, भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना ।

(9) वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी (तत्वबोधिनी व्याख्योपेता) । पं० शिवदत्त दाधिमथ की टीका सहित । निर्णयसागर प्रेस ।

(10) वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी (श्रीवासुदेवदीक्षितकृत बालमनोरमा सहित) सं०- आचार्य श्री गोपालशास्त्री नेने । चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी भाग I से IV ।

(11) श्रीमद् भट्टोजिदीक्षित विरचिता 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी (बालमनोरमासहिता) । सं०- श्री गोपालदत्त पाण्डेय । चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी ।

(12) मध्य सिद्धान्त कौमुदी (प्रभाकारी टीका एवं हिन्दी भावानुवाद सहिता) सं०- श्री विश्वनाथ शास्त्री प्रभाकर । अरविन्द प्रकाशन वाराणसी ।

(13) लघु सिद्धान्त कौमुदी (सदानन्दविरचित) प्रानतोषिणी हिन्दी टीका युक्त । सं०- श्रीधरानन्द शर्मा । हिन्दी टीकाकार श्रीधरानन्द शर्मा । चौखम्भा वाराणसी ।

(14) संस्कृत व्याकरणोदय: - ले० डॉ० जयमन्त मिश्र । प्र०- चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी । मु०- विद्याविलास प्रेस ।

(15) पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन । ले० - डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य । भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी ।

(16) नागेश भट्ट कृत-'परमलघुमञ्जूषा' व्याख्याकार- पं० अलखदेव शर्मा, व्याकरण साहित्याचार्य । सं०- पं० अलखदेव शर्मा । चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी ।

(17) भर्तृहरिविरचितं 'वाक्यपदीयम्' (श्री सूर्यनारायण शुक्लकृत भावप्रदीप टीकायुक्त ।) संपादक एवं हिन्दी व्याख्याकार - पं० श्री रामगोविन्द शुक्ल । परिशिष्टकार - पं० श्री रुद्र प्रसाद अवस्थी । चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी ।

(18) श्रीमन्नागेशभट्टविरचित परिभाषेन्दुशेखर: (परिभाषाप्रकाशाख्य हिन्दीव्याख्याविभूषित: ।) हिन्दी व्याख्याकार- श्रीनारायण मिश्र । प्रकाशक- चौखम्भा ओरियन्टालिया, मुद्रक- श्री गोकुल मुद्रणालय, वाराणसी ।

(19) 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' । - ले० युधिष्ठिर जी मीमांसक । भाग I से III । रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस बहालगढ़, सोनीपत, हरयाणा ।

(20) 'संस्कृत शास्त्रों का इतिहास' । ले०- श्री बलदेव उपाध्याय । चौखम्भा, वाराणसी ।

(21) 'संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन' । ले० - भोलाशंकर व्यास, B.H.U., वाराणसी ।

(22) 'भाषा विज्ञान एवं भाषाशास्त्र' । ले०- डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

(23) संस्कृत साहित्य कोश' । ले०- डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा' । प्रकाशक- चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी । मुद्रक- विद्याविलास प्रेस, वाराणसी ।

(24) 'संस्कृत हिन्दी कोश' । ले०- वामन शिवराम आप्टे, नाग प्रकाशन जवाहर नगर, दिल्ली -6 । मुद्रक- न्यू ज्ञान आफसेट प्रिंटर ।

(25) आचार्य दण्डीकृत काव्यादर्श ।

(26) 'परमलघुमञ्जूषा' । सं०- कालिका प्रसाद शुक्ल । चौखम्भा वाराणसी ।

शोध-प्रबन्ध

(1) काशिका का समालोचनात्मक अध्ययन । शोधकर्ता- डॉ० रघुवीर वेदालंकार । प्रकाशक- नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर दिल्ली । मुद्रक- अमर प्रिन्टिंग प्रेस ।

(2) काशिका सिद्धान्तकौमुद्यौः तुलनात्मकमध्ययनम् । शोधकर्ता- डॉ० महेशचन्द्र शर्मा; पहाड़गंज, दिल्ली ।

(3) 'महाभाष्य में उपनिबद्ध व्याकरणेतर साहित्य- एक समीक्षात्मक अध्ययन ।' शोधकर्ता- श्री रवीन्द्रकुमार शर्मा (रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय) ।